CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अ 51/23

संगीत में अनुसन्धान की समस्यायें और क्षेत्र

6.1

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भारतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भारतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

ालय
णसी-५

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

आदरणीया प्रेम बहनजी
को

सुभद्रा
२६.६.८८

आम्नाय-ग्रन्थालय,
परमनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संगीत में अनुसन्धान की समस्याएँ और क्षेत्र

PROBLEMS & AREAS OF RESEARCH IN MUSIC

अ : 1/23
आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिवास, करौंदी
वाराणसी-5

सम्पादिका
सुभद्रा चौधरी
अध्यक्षा
संगीतशास्त्र विभाग
इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय
खैरागढ़

कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रथम संस्करण : जून १९८८
First Edition : June 1988

©
सुभद्रा चौधरी
Subhadra Chaudhary

आम्नाय-[illegible],
भरतनिधि, करौंदा
वाराणसी-5

मूल्य : सौ रुपये मात्र
विदेश में : १५ डॉलर
Price : Rs. 100/-
Foreign : $ 15/-

आवरण :
प्रकाश आर्टिस्ट, अजमेर
Cover :
Prakash Artist, Ajmer

प्रकाशक :
जयकृष्ण अग्रवाल
कृष्णा ब्रदर्स
महात्मा गाँधी मार्ग,
अजमेर—३०५००१ (राजस्थान), भारत

Publisher :
Jaikrishna Agrawal
Mahatma Gandhi Marg
AJMER–305001 (Rajasthan), India.

मुद्रक :
सतीश शुक्ल
वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
Printer :
Satish Shukla
Vedic Yantralaya, Ajmer

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भारतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

समर्पित

उन अनुसंधानकर्ताओं को

जो

अपने ज्ञान के आलोक से

भारत भूमि को

आलोकमय बनाते रहेंगे.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिप्यंतरण के चिन्ह

देवनागरी	रोमन	देवनागरी	रोमन
अ	a	ट्	ṭ
आ	ā	ठ्	ṭh
इ	i	ड्	ḍ
ई	ī	ढ्	ḍh
उ	u	ण्	ṇ
ऊ	ū	त्	t
ऋ	ṛ	थ्	th
ऌ	ḷ	द्	d
ए	e	ध्	dh
ऐ	ai	न्	n
ओ	o	प्	p
औ	au	फ्	ph
ं (अनुस्वार)	ṃ, ṁ	ब्	b
: (विसर्ग)	ḥ	भ्	bh
क्	k	म्	m
ख्	kh	य्	y
ग्	g	र्	r
घ्	gh	ल्	l
ङ्	ṅ	व्	v
च्	c	श्	ś
छ्	ch	ष्	ṣ
ज्	j	स्	s
झ्	jh	ह्	h
ञ्	ñ		

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भूमिका

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के "फ़ॅकल्टी इम्प्रूवमेंट प्रोग्राम" के अन्तर्गत आयोग के अनुदान से इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय के संगीत-शास्त्र विभाग द्वारा १५, १६ और १७ दिसंबर १९८६ को "संगीत में शोध की समस्याएँ और क्षेत्र" विषय पर एक त्रिदिवसीय विचारगोष्ठी का आयोजन किया गया था जिसमें देश-विदेश के गण्यमान्य विद्वानों ने भाग लिया था। संगीत में अनुसंधान की दृष्टि से देश में अपने ढंग की यह संभवत: पहली गोष्ठी थी क्योंकि इसमें संगीत और संबद्ध कलाओं में अनुसंधान की प्रणाली, क्षेत्र और समस्याओं पर मार्गदर्शन प्राप्त करने के उद्देश्य से व्याख्यान और पर्चे आयोजित हुए। सभी प्रतिनिधि अपने-अपने क्षेत्र के विशिष्ट विद्वान् हैं इसलिये उनकी विशेषज्ञता को आधार बनाकर पर्चे और व्याख्यान रखे गये। इस प्रकार विषय-विशेष के आधार पर व्यापक सिद्धान्त प्राप्त करने की यानी विशेष से सामान्य तक पहुँचने की कोशिश की गई।

कुल ६ सत्रों में से उद्घाटन-सत्र को छोड़ कर शेष प्रत्येक सत्र में पर्चे और व्याख्यान तो केवल दो ही रखे गये लेकिन उनपर खुलकर चर्चाएँ हुईं जिनसे अनेक उपयोगी मुद्दे सामने आये। लिखित पर्चों और व्याख्यानों के साथ-साथ उन पर हुई चर्चाओं को भी न्यूनतम आवश्यक सम्पादन के साथ मूल भाषा में और यथासंभव सम्पूर्ण रूप में देने की कोशिश यहाँ की गई है; जहाँ कहीं कुछ ध्वन्यंकन की गड़बड़ी या अन्य व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण सम्पूर्ण देना सम्भव नहीं हुआ वहाँ सार दिया गया है। ऐसे अंशों को [ ] कोष्ठक में रखा गया है।

प्रस्तुत सामग्री को तीन भागों में विभक्त किया गया गया है। विचारगोष्ठी के कार्यक्रम की रूपरेखा और पूर्व पीठिका को 'पूर्वरंग' में, गोष्ठी के अंगभूत पर्चों, व्याख्यानों और चर्चाओं को 'अन्तरंग' में तथा समापन, विचारगोष्ठी में उभरे प्रमुख बिन्दु, शोध की प्रणाली पर विशेष लेख और प्रतिनिधियों-कलाकारों के परिचय को 'बहिरंग' में। इस प्रकार पूर्वरंग, अन्तरंग और बहिरंग—इन तीन खण्डों में सामग्री सँजोई गई है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्तरवलम्बन से संबद्ध दो पक्ष प्रस्तुत हुए। डॉ० रमाकान्त श्रीवास्तव ने साहित्य, संगीत आदि के अन्तरवलम्बन पर आधारित अनुसंधान के विभिन्न पहलुओं और समस्याओं पर संक्षेप में प्रकाश डाला। डॉ० मुकुन्द लाठ ने अपने व्याख्यान में संगीत के इतिहास के निर्माण में शिल्प और चित्र की सहभागिता-सम्बन्धी समस्याओं पर फ़ोटोग्राफ़ प्रदर्शित करते हुए प्रकाश डाला। इस पर्चे से सबद्ध कुछ चित्र प्रस्तुत प्रकाशम में देखे जा सकते हैं।

डॉ० सितांशु रे ने संगीत के सौन्दर्य-बोध संबंधी अध्ययन की समस्याओं और शोध के क्षेत्र को प्रस्तुत किया जिसके फलस्वरूप "एक सार्वभौम भाषा के रूप में संगीत" पर अच्छी चर्चा हुई।

पुर्ननिर्माण (रीकन्स्ट्रक्शन) से संबंधित दो पक्षों पर पर्चे और व्याख्यान हुए। एक वाद्य से संबंधित और दूसरा गेय विधाओं से। इनमें से पहले में हॉलैण्ड की विदुषी संगीतज्ञा श्रीमती नेली फ़ाँ रेइ ने यूरोपीय लुप्त वाद्य 'साल्टेरी' के पुर्ननिर्माण की समस्याओं और प्रणाणी को ८५ 'स्लाइड्स' और रिकॉर्ड किये हुए संगीत के द्वारा प्रस्तुत किया। भारत में अभी तक कोई विशेष काम वाद्यों के पुर्ननिर्माण की दिशा में नहीं हुआ है, यद्यपि गुंजाइश बहुत है। इसके लिये आवश्यक परिवर्तनों के साथ श्रीमती नेली की पद्धति का उपयोग किया जा सकता है। उनके पर्चे की दृश्य-श्रव्य सामग्री को प्रस्तुत प्रकाशन में स्थान नहीं दिया जा सका है। दूसरा व्याख्यान नाट्यशास्त्र में वर्णित गेय रूपों—गीतक और ध्रुवा—के पुर्ननिर्माण से संबंधित था जिसमें डॉ० प्रेमलता शर्मा ने इस कार्य के अपने अनुभवों, समस्याओं और कार्य की पद्धति पर विस्तार से प्रकाश डाला और इन गीतों को गाकर भी प्रस्तुत किया। इनका गेय रूप या संगीतलिपिवद्ध रूप भी नहीं दिया जा रहा है, केवल पदों को ताल के मात्रा-विभागों के अनुसार दिया जा रहा है।

संगीत, नाट्य आदि प्रयोगधर्मी कलाओं व लक्षणग्रन्थों के पाठ-संशोधन की समस्या पर डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी ने अपने सुलझे हुए विचार प्रस्तुत किये। पाठ से संबंधित दूसरा पर्चा फ्रांस की विदुषी डॉ० फ्रेंस्वाज़ देल्वोआ नलिनी का था जिसमें उन्होंने ध्रुपद के पदों के अध्ययन की समस्याओं और संभावनाओं से संबंधित विभिन्न पक्षों पर विचार किया।

डॉ० ऐन्० रामनाथन् ने संगीत में अनुसंधान के क्षेत्र और संभावनाओं पर प्रकाश डालते हुए यह प्रश्नचिह्न लगाया कि संगीत में ग्राह्य अनुसंधान की सीमाएँ क्या हैं और संगीतोपयोगी अनुसंधान की सीमा क्या समझी जाय।

अनुसंधान की भारतीय और पाश्चात्य पद्धतियों के संदर्भ में भारतीय संगीत में शोध की उचित पद्धति पर विचार प्राप्त करने के लिये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

डॉ० रंगनायकी अय्यंगार के लिये मूलतः "रिसर्च मॅथॉडॉलॉजी" (शोध प्रणाली) विषय निर्धारित था। किन्तु शोध प्रणाली में सीमित न रह कर उन्होंने संगीत के अध्ययन की कुछ ऐसी समस्याओं पर प्रकाश डाला जो संगीत की शोध प्रणाली से भी जुड़ी हैं। रिकॉर्डिंग की गड़वड़ के कारण उनके अंग्रेज़ी व्याख्यान को शब्दशः देना संभव नहीं है। किन्तु व्याख्यान के वाद डॉ. प्रेमलता शर्मा ने उसका जो सार, अपनी टिप्पणियों सहित, हिन्दी में प्रस्तुत किया वही यहाँ दिया जा सका है।

श्री निरंजन महावर का पर्चा बस्तर के "भतरा नाट" पर था। इस पर्चे का प्रयोजन आदिवासी विधाओं के सशक्त और समृद्ध रूपों में से नाट का स्लाइड्स की मदद से परिचय प्रस्तुत करके शोधकर्ताओं का ध्यान इस क्षेत्र की ओर आकृष्ट करना है। इसलिये सीधे-सीधे समस्याओं का निरूपण न होने पर भी इस प्रकार की विधाओं के अनुसंधान के लिये आधार सामग्री इसमें है।

विचारगोष्ठी में प्रस्तुत हुए पर्चों के अतिरिक्त प्रस्तुत प्रकाशन में एक वृद्धि की गई है "शोध की प्रणाली" विषय पर डॉ० प्रेमलता शर्मा के एक लेख के रूप में, जो यद्यपि विचारगोष्ठी के विषयों में मूलतः सम्मिलित था किन्तु उस पर पर्चा प्रस्तुत नहीं हुआ। विचारगोष्ठी में इस विषय पर विचार न होने से एक अपूर्णता रह जाती इसलिये डॉ० प्रेमलता शर्मा, जिनका संगीत में अनुसंधान की दृष्टि से विशेष योगदान है, का एक लेख उक्त विपय पर दिया गया है। इसके लिए हम उनके प्रति विशेष रूप से आभारी हैं। विपय की दृष्टि से इसका स्थान पहला है, किन्तु गोष्ठी का अंगभूत पर्चा न होने के कारण प्रस्तुत प्रकाशन में उसे 'बहिरंग' में रखा गया है।

शोधकर्ता पाठक की सुविधा के लिये हिन्दी में प्रस्तुत हुए पर्चों का अंग्रेज़ी में और अंग्रेज़ी पर्चों का हिन्दी में सार दिया जा सकता था। लेकिन यह दृष्टि भी हमने रखी कि अनुसंधान में संलग्न छात्र-छात्राओं को बना-वनाया व्यंजन न परोसा जाय। फिर भी विचारगोष्ठी में पर्चों, व्याख्यानों और चर्चाओं के द्वारा उभरे हुए कुछ प्रमुख और महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं की 'बहिरंग' में हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों में दिया गया है ताकि गोष्ठी के योगदान की मुख्य दिशाएँ इंगित हो सकें।

गोष्ठी में प्रतिदिन रात को संगीत, नाट्य आदि के कार्यक्रम भी रखे गये थे। पहले दिन श्रीमती नेली फ्राँ रेइ बॅर्नार्थं द्वारा पुनर्निमित वाद्य 'सीतरा' का कार्यक्रम हुआ जिसमें उन्होंने मध्ययुगीय यूरोपीय संगीत का वादन किया। यह कार्यक्रम दूसरे दिन उनके द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर्चे से संबद्ध था । दूसरे दिन हास्य और व्यंग्य से भरपूर छत्तीसगढ़ी लोक-विधा "नाचा" के प्रख्यात कलाकार श्री. लालूराम साहू और उनके सहयोगियों के द्वारा "भूत के भरम" शीर्षक नाचा प्रस्तुत किया गया जो अत्यन्त सशक्त और सफल अभिनय के कारण बहुत प्रभावशाली रहा । तीसरे दिन इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय के शिक्षकों द्वारा दो कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये । एक भरतनाट्यम् शैली में सुश्री सुजाता वेले, लैक्चरार द्वारा नृत्य का कार्यक्रम और दूसरा श्री० मुकुन्द भाले, व्याख्याता तबला और श्री० रामनाथ सिंह, संगतकार द्वारा तबले पर जुगलबन्दी ।

इस गोष्ठी के ध्वन्यंकित व्याख्यानों और चर्चाओं को लिखित रूप में तैयार करने में संगीतशास्त्र विभाग के दोनों व्याख्याताओं—डॉ० राधेश्याम जायसवाल और डॉ० अनिल बिहारी व्योहार—ने विशेष परिश्रम किया है । इसके लिये उन्हें धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझती हूँ और उनके उत्कर्ष के लिये शुभकामनाएँ देती हूँ ।

अनेक कारणों से यद्यपि विचारगोष्ठी सम्पन्न होने के लगभग सवा साल बाद सामग्री को प्रकाशन के लिये देना संभव हो पाया किन्तु, देर से ही सही, पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने में मुझे खुशी है । अनुसन्धानकर्ताओं, शिक्षकों, छात्रों और जिज्ञासुओं के लिये यह उपयोगी होगा, इस आशा के साथ "संगीत में अनुसंधान की समस्याएँ और क्षेत्र" प्रस्तुत है ।

कृतज्ञता-ज्ञापन—लगभग सवा महीने के अल्प समय में इस पुस्तक का मुद्रण करने के लिये वैदिक यन्त्रालय अजमेर, आवरण की सुरुचिपूर्ण सज्जा के लिये प्रकाश आर्टिस्ट अजमेर और प्रकाशन की सम्पूर्ण जिम्मेदारी उठाकर यह उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने के लिये कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं ।

महाराणा प्रताप जयन्ती
शुकवार, १७ जून १९८८
अजमेर

सुभद्रा चौधरी
संपादिका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

लिप्यंतरण के चिह्न

भूमिका

पूर्वरंग

१. विचारगोष्ठी के कार्यक्रम की संक्षिप्त रूपरेखा १-२

२. विचारगोष्ठी की पूर्वपीठिका ३-५

अन्तरंग

३. मुख्य अतिथि का वक्तव्य—डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी ९-२०

४. अध्यक्षीय वक्तव्य—डॉ० प्रेमलता शर्मा २१-३२

५. पर्चे, व्याख्यान और चर्चा

(१) अन्तरवलंबन का क्षेत्र और शोधकार्य—कुछ विचार बिन्दु (पर्चा)
—डॉ० रमाकान्त श्रीवास्तव ३३-५२

(२) Problems & Areas of Research in Musical Aesthetics (पर्चा)
—डॉ० सितांशु रे ५३-७६

(३) Problems & Aspects of Reconstruction of Musical Instruments (पर्चा)
—श्रीमती नेली फ़ाँ रेइ बॅर्नार्थ ७७-८८

(४) ग्रन्थोक्त गेय रूपों का पुनर्निर्माण (व्याख्यान)
—डॉ० प्रेमलता शर्मा ८९-११०

(५) संगीत के इतिहास के निर्माण में शिल्प की भूमिका (व्याख्यान)
—डॉ० मुकुन्द लाठ १११-१३४

(६) प्रयोगपरक शास्त्रों के सम्पादन की समस्याएँ (व्याख्यान)
—डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी १३५-१४८

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(७) Problems & Prospects of Critical Studies of Lyrical Texts (पर्चा)
—डॉ० फ्रेंस्वाज़ देल्वोश्रा नलिनी १४९-१९४

(८) Area & Scope of Research in Music (पर्चा)
—डॉ० एँन्० रामनाथन् १९५-२१८

(९) Problems of Musicological Studies (व्याख्यान)
—डॉ० रंगनायकी अय्यंगार २१९-२२४

(१०) Bhatarā Nāta of Bastar (पर्चा)
—श्री० निरंजन महावर २२५-२३३

बहिरंग

६. समापन : संयोजिका डॉ० सुभद्रा चौधरी द्वारा २३७-२३९

७. विचारगोष्ठी में उभरे प्रमुख बिन्दु
—संपादिका २४०-२४२

८. Important Points Emerging from The Seminar
—Editor २४३-२४५

९. शोध की प्रणाली (लेख)
—डॉ० प्रेमलता शर्मा २४६-२५२

१०. प्रतिनिधियों और कलाकारों का परिचय २५३-२५८

११. शुद्धिपत्र २५९-२६०

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूर्वरंग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विचारगोष्ठी के कार्यक्रम की संक्षिप्त रूपरेखा

१५ दिसम्बर १९८६

प्रथम उद्घाटन-सत्र—प्रातः ९ से १२ बजे

अध्यक्षा—डॉ० प्रेमलता शर्मा,
उपकुलपति, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़

मुख्य अतिथि—डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

कार्यक्रम

१. मंगलाचरण—छात्रा कु० मौसमी सरदार द्वारा
२. विचारगोष्ठी का शुभारंभ—मुख्य अतिथि द्वारा दीप प्रज्वलित करके
३. स्वागत एवं विचारगोष्ठी की पूर्वपीठिका—डॉ० सुभद्रा चौधरी, संयोजिका एवं अध्यक्षा, संगीतशास्त्र विभाग द्वारा
४. मुख्य अतिथि का वक्तव्य
५. 'संगीत-सूर्योदय' का विमोचन—मुख्य अतिथि द्वारा
६. अध्यक्षीय वक्तव्य

द्वितीय सत्र—दोपहर ३ से ६ बजे
अध्यक्षा—डॉ० सुभद्रा चौधरी

पत्रवाचन और चर्चा

१. डॉ० रमाकान्त श्रीवास्तव
२. डॉ० सीतांशु रे

रात्रि कार्यक्रम—८.३० से ९.३० बजे
सीतरा-वादन—श्रीमती नेली फ़ाँ रेइ बॅर्नार्थं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१६ दिसम्बर १९८६

तृतीय सत्र—प्रातः ९ से १२ बजे
अध्यक्ष—डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी

पत्रवाचन और चर्चा
१. श्रीमती नेली फ्राँ रेइ बॅर्नार्थं
२. डॉ० प्रेमलता शर्मा

चतुर्थ सत्र—दोपहर ३ से ६ बजे
अध्यक्षा—डॉ० प्रेमलता शर्मा

पत्रवाचन और चर्चा
१. डॉ० मुकुन्द लाठ
२. डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी

रात्रि कार्यक्रम—८ से १० बजे
छत्तीसगढ़ी लोकविधा नाचा—'भूत के भरम'
श्री लालूराम साहू एवं सहयोगी कलाकार

१७ दिसम्बर १९८६

पंचम सत्र—प्रातः ९ से १२ बजे
अध्यक्षा—डॉ० प्रेमलता शर्मा

पत्रवाचन और चर्चा
१. डॉ० फ्रँस्वाज देल्वोग्रा नलिनी
२. डॉ० एँन्. रामनाथन्

षष्ठ सत्र—दोपहर ३ से ६ बजे
अध्यक्ष—डॉ० मुकुन्द लाठ

पत्रवाचन और चर्चा
१. डॉ० रंगनायकी अय्यंगार
२. श्री निरंजन महावर

संयोजिका द्वारा समापन व कृतज्ञता-ज्ञापन

रात्रि कार्यक्रम—८ से १० बजे
१. भरतनाट्यम् नृत्य—श्रीमती सुजाता बेले
२. तबला युगलबन्दी—श्री मुकुन्द भाले और श्री रामनाथ सिंह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विचारगोष्ठी की पूर्वपीठिका

☐ संयोजिका—डॉ० सुभद्रा चौधरी

मित्रो !

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय के संगीतशास्त्र विभाग द्वारा "संगीत में शोध की समस्याएँ और क्षेत्र" विषय पर आयोजित त्रिदिवसीय विचारगोष्ठी में आप सभी का विश्वविद्यालय परिवार की ओर से, विभाग की ओर से और अपनी ओर से स्वागत करने में मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। देश और विदेश से आये हुए विद्वान् अतिथियों को यहाँ की यात्रा करने में कष्ट हुआ होगा और यहाँ रहते हुए भी इस स्थान की और हमारी अपनी सीमाओं के कारण असुविधाएँ हो सकती हैं। लेकिन इस कमी को विश्व-विद्यालय परिवार अपने स्नेह और आदरपूर्ण आतिथ्य से पूरा करने की कोशिश करेगा।

संगीतशास्त्र विभाग इस विश्वविद्यालय का बहुत छोटा विभाग है जिसकी उम्र सिर्फ़ ४ साल है और विभाग द्वारा आयोजित यह पहली विचारगोष्ठी है। संगीत में अनुसंधान के क्षेत्र और समस्याओं पर विचार-गोष्ठी करने का विचार मेरे मन में कई वर्षों से रहा। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से आज हमारे लिए यह संभव हो सका इसके लिए आयोग के प्रति हम आभारी हैं।

आज सामान्य रूप से यह स्वीकार किया जाता है कि शिक्षा के सभी क्षेत्रों में अनुसंधान का वैसा स्तर दिखाई नहीं देता जैसा उसकी मूल धारणा के अनुसार होना चाहिए। प्रयोगात्मक कलाओं पर, जो विश्व-विद्यालयीन शिक्षा के अंग के रूप में बहुत बाद में स्थान पा सकीं, यह बात और ज्यादा लागू होती है। इन कलाओं के स्वरूप की कुछ विशेषताएँ हैं और कुछ सीमाएँ भी हैं इसलिए उनकी शोध पद्धति दूसरे विषयों से भिन्न है। इनमें संगीत सबसे ज्यादा अमूर्त है इसलिये इसमें शोध का स्वरूप अन्य कलाओं और विषयों से अलग होना और भी ज्यादा स्वाभाविक है। इस कारण संगीत में अनुसंधान पर ध्यान देना समयानुकूल आवश्यकता है। विश्व-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विद्यालयों के अन्तर्गत संगीत में अनुसंधान के क्षेत्र में शोधार्थियों की कुछ उसी प्रकार बाढ़ सी आती दिखाई दे रही है जैसी कुछ दशक पहले स्नातक और बाद में स्नातकोत्तर स्तर की शिक्षा में आई। दूसरी ओर शोध की कसौटी पर खरे उतरने वाले शोधकार्य बहुत कम हुए हैं। इस ओर शिक्षाविद् और अनुसंधान में लगे हुए विद्वान् चिन्तित हैं और प्रयत्नशील हैं।

अन्य प्रयोगात्मक कलाओं, विद्याओं और शास्त्रों से जुड़े होने के कारण संगीत का अध्ययन सम्पूर्णता में करना जरूरी है। हमारे प्राचीन आचार्यों की दृष्टि किसी विषय अथवा समस्या को समग्रता में देखने की रही है जिसे आज की भाषा में 'इंटरडिसिप्लिनरी' अध्ययन कहा जाता है। आज इस प्रकार के अध्ययन में कई समस्याएँ और कठिनाइयाँ हैं।

संगीत में सही ढंग से शोध करने के लिये यह बोध होना जरूरी है कि शोध के क्या-क्या क्षेत्र हो सकते हैं, क्या विषय हो सकते हैं, शोध की पद्धति कैसी हो, शोध की क्या सीमाएँ हैं, शास्त्रीय-लोक-जनजातीय आदि कुछ स्तर संगीत में बने हुए हैं उनमें क्या पद्धति अपनाई जाय, उनकी क्या सीमाएँ और विशेषताएँ हैं, क्या सावधानी बरतना जरूरी है—ये ऐसे पक्ष हैं जिन पर विचार करना संगीत और संबद्ध कलाओं में अनुसंधान की दृष्टि से बहुत जरूरी है। इन्हें ध्यान में रख कर हमने विचारगोष्ठी के लिये जो विषय चुने उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—शोध की सामान्य प्रणाली, संगीत में अन्तरवलम्बन पर आधारित शोध की समस्याएँ, प्रयोगधर्मी कलाओं के लक्षण ग्रंथों के पाठ-संशोधन के सिद्धान्त और समस्याएँ, गेय पदों के समीक्षात्मक अध्ययन की समस्याएँ और संभावनाएँ, ग्रन्थोक्त गेय विधाओं और वाद्यों के पुनर्निर्माण संबंधी समस्याएँ, जनजातीय विधाओं में अनुसंधान संबंधी विभिन्न पक्ष, संगीत में आनन्द-बोध संबंधी शोध के क्षेत्र और समस्याएँ, संगीत में शोध का क्षेत्र और सीमाएँ।

इस विचारगोष्ठी के पीछे दृष्टि यह है कि संगीत में अनुसंधान के क्षेत्र, समस्याओं और पद्धति के विभिन्न पक्षों पर विद्वानों के विचारों के आदान-प्रदान के द्वारा आवश्यक मार्गदर्शन प्राप्त किया जाय। हमें विश्वास है कि इससे संगीत और संबद्ध कलाओं के शोधार्थियों को लाभ होगा।

आप सभी जानते हैं कि गोष्ठी का उद्घाटन करने के लिए डॉ. कपिला वात्स्यायन आने वाली थीं लेकिन किसी अनिवार्य परिस्थिति के कारण वे नहीं आ सकीं। इसका तो हमें खेद है किन्तु संस्कृत साहित्य और नाट्य के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रयोग व शास्त्र पक्ष के विद्वान् डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी से हमने गोष्ठी का उद्घाटन करने का अनुरोध किया और उन्होंने उसे स्वीकार किया इसके लिये हम उनके आभारी हैं। विचारगोष्ठी में एक अन्य सत्र में भी हमें उनका लाभ मिलेगा, यह हमारे लिये सौभाग्य की बात है।

उपकुलपति डॉ० प्रेमलता शर्मा ने उद्घाटन सत्र की अध्यक्षता करना स्वीकार किया इसके लिये हम उनके प्रति आभारी हैं। अनुसंधान के क्षेत्र में प्रेमलताजी का विशेष स्थान व योगदान है। उनके चिन्तन और अनुभव का लाभ हमें उनके एक व्याख्यान के रूप में भी प्राप्त होगा, यह हमारे लिये प्रसन्नता की बात है।

विचारगोष्ठी में भाग लेने वाले अन्य विद्वान् हैं—डॉ० सीतांशु रे शान्तिनिकेतन से, डॉ० फ़्रैंस्वाज़ देल्वोआ नलिनी फ़्रांस से, डॉ० मुकुन्द लाठ जयपुर से, श्रीमती नेली फ़ाँ रेइ बॅर्नार्थं हॉलेंड से, डॉ० एँन्० रामनाथन् मद्रास से, डॉ० रंगनायकी अय्यंगार वाराणसी से, श्री निरंजन महावर रायपुर से, डॉ० रमाकान्त श्रीवास्तव खैरागढ़ से। आप सभी मेहमानों का हम स्वागत करते हैं।

त्रिदिवसीय गोष्ठी में कुल ६ सत्र होंगे और प्रतिदिन रात को ८ बजे से छोटे-छोटे संगीत, नाट्य कार्यक्रम भी रखे गये हैं। उनमें आप सभी आमंत्रित हैं।

अन्त में आपको एक सूचना देना चाहती हूँ कि विश्वविद्यालय के अनुसंधान विभाग द्वारा संपादित संगीत के शास्त्रग्रंथ 'संगीत सूर्योदय' का विमोचन भी इसी सत्र के अन्त में डॉ० कमलेशदत्तजी करेंगे। □

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्तरंग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुख्य अतिथि का वक्तव्य

□ डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी

आज की इस संगोष्ठी के समारम्भ के लिए ये दायित्व मुझे कल सौंपा गया, कहाँ तक मैं उसे पूरा कर पाऊँगा, नहीं जानता। विशेष रूप से जब यह अपेक्षा देश के किसी मूर्धन्य चिन्तक से की जाती रही हो, जो समस्त कलादर्शन का, सौन्दर्यदर्शन का और कलासमीक्षा का सबसे बड़ा नाम है, तब एक बहुत ही सामान्यीकृत ढंग से विचार कर सकने वाले व्यक्ति से उस अपेक्षा को पूरा करना निश्चित रूप से कठिन बात होगी। मैं नहीं जानता कि मैं आपकी प्रत्याशाओं को कहाँ तक पूरा कर सकता हूँ। और इसलिए भी कि प्रयोग की दृष्टि से संगीत से मेरा सम्बन्ध नहीं है, दूर का भी नहीं। लेकिन जब बहिनजी (प्रेमलताजी) कह रही थीं (परिचय देते समय) मुझे भट्टबाण का एक मुहावरा याद आ रहा था। भट्टबाण की कादम्बरी में केन्द्रीय पात्र वैशंपायन नाम का एक तोता है। शूद्रक की सभा में जब चाण्डालकन्या उस शुक को लेकर जाती है, वो अपना एक हाथ उठाकर मानववाणी में आशीर्वाद देता है और तब वो कन्या उस शुक का परिचय देती है। उस परिचय में एक मुहावरा बाणभट्ट के यहाँ आता है, 'गीतनृत्यवाद्यादिषु असमश्रोता'। ये शुक है, जो गीत, नृत्य और वादित्र का अद्वितीय श्रोता है। मैं समझता हूँ, अद्वितीय श्रोता न हूँ, पर श्रोता अवश्य हूँ। मैं अपने को उस शुक जैसा समझ कर ही आपके सामने संगीतविषयक शोध की समस्याओं और क्षेत्र पर आयोजित इस अत्यन्त विशिष्ट संगोष्ठी के समारम्भ के अवसर पर जो शब्द कहूँगा, मैं विश्वास करता हूँ आप उसी भाव से इसे सुन लेंगे और सह भी लेंगे।

वस्तुतः संगीत में शोध की समस्या पर चिन्तन संपूर्ण भारतविद्या पर शोध की दिशा से अलग नहीं किया जा सकता। इस नाते, भारतविद्या से गहराई से जुड़ा हुआ एक व्यक्ति होने के नाते मैं अपने को कुछ कहने का थोड़ा अधिकारी भी पाता हूँ। कारण है—भारतविद्या का, संपूर्ण भारतीयशास्त्रों का, भारतीय अनुशासन का एक मूल सामान्य चरित्र है, एक मूल सामान्य स्वरूप है। वह मूल स्वरूप कैसा है, क्या है, इसकी अगर कोई तनिक भी छाया, उसका कोई थोड़ा भी अन्दाज हमें आज मिल सकता है, तो वह केवल वही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धारा है जो संगीत में सुरक्षित है और वह धारा जो कुछ सीमा तक पारंपरिक भारतीय प्राचीनशास्त्रों के अनुशीलन से सम्बद्ध है। हुआ यह है कि एक अत्यन्त विशिष्ट परम्परा में उपजे हुए ज्ञान का मूल्यांकन हम एक किसी बिल्कुल दूसरी परम्परा में विकसित पद्धति से पिछली दो शताब्दी से करते चले आ रहे हैं। शोध के नाम पर हम जिस पद्धति से परिचित हैं, जहाँ हम प्रयोग और अविष्करण के द्वारा, निरीक्षण और उसके पुन: प्रयोग के द्वारा किन्हीं निष्कर्षों को निकालते हैं। उस पूरी की पूरी पद्धति को हमने एक दूसरी ही चिन्तनधारा में विकसित करके, जो पश्चिम में प्रतिष्ठित थी, स्वीकार कर लिया है। विश्वविद्यालय की वर्तमान अवधारणा मध्यकालीन यूरोप में विकसित हुई। उन विश्वविद्यालयों में १७ वीं शताब्दी के बाद अनुशीलन की एक विशिष्ट पद्धति का विकास किया गया। १८ वीं शताब्दी के अन्त में जब शिक्षा की संपूर्ण संरचना को हमने पश्चिम से ग्रहण किया था वह हमारे ऊपर आरोपित की गयी, तो वह सारी की सारी पद्धति जैसी की तैसी यहाँ पर ले आई गयी। मैं उस ब्यौरे में नहीं जाना चाहता, लेकिन इन पारम्परिक शास्त्रों में अनुशीलन की दिशाओं को निर्धारित करने के लिए इन पारम्परिक शास्त्रों के स्वरूप और उस पद्धति की भूमिका के मूलभूत अन्तर की ओर आपका ध्यान अवश्य आज दिलाना चाहता हूँ, क्योंकि भारतीय चिन्तन के सन्दर्भ में और उसे आगे ले जाने के हमारे प्रयास के सन्दर्भ में ये आज सबसे बड़ी समस्या है।

१७वीं शताब्दी में जिस तरह से औद्योगिक सभ्यता का विकास यूरोप में होता है और उस औद्योगिक सभ्यता के लिए जिस चिन्तन की दृष्टि का विकास होता है, वह चिन्तन की दृष्टि मूलरूप से देकार्त के दर्शन से उद्भूत होती है। देकार्त ने जीवन को जिस रूप में देखा है, जिस विश्वदृष्टि को दिया है, उस विश्वदृष्टि से चिन्तन के विश्लेषण की जो पद्धति विकसित हो सकती थी, वही पद्धति १८ वीं, १९ वीं और बींसवीं शताब्दी तक चली आती दिखाई पड़ती है। सारे के सारे विश्व को एक विभागयुक्त विश्व के रूप में देखा गया, एक "फ्रॅगमॅण्टेड यूनिवर्स" के रूप में समझने की कोशिश की गयी। देकार्त ने सारी की सारी विश्वव्यवस्था को समझाने के लिए एक ऐसी दृष्टि दी, जिसमें संपूर्ण विश्व को एक यन्त्र के रूप में समझा गया, एक मशीन के रूप में। औद्योगिक सभ्यता या औद्योगिक चरण के आने के साथ ही साथ विश्व को एक मशीन के, एक यन्त्र के रूप में समझने की बात भी बहुत ही स्वाभाविक थी, आनी ही चाहिए थी। उस संपूर्ण आर्थिक, सामाजिक परिवेश से जो चिन्तन उद्भूत हो सकता था, पूंजीवाद के उद्भव के साथ ही, विकास के साथ ही जो दृष्टि आने वाली थी, वह विश्व को यन्त्र के रूप में ही देखने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की दृष्टि हो सकती थी। यन्त्र विभिन्न अंगों का एक सन्निवेशमात्र है। यन्त्र के भीतर जीवन की कोई बात नहीं है। सारा का सारा विश्व नाना अंशों का एक संघात है, जो जोड़ दिया गया है, जोड़ कर खड़ा कर दिया गया है। इस बात को देकार्त के इस दर्शन से उद्भूत चिन्तन की इस प्रक्रिया को, पश्चिम में बार-बार दोहराया गया। इसी आधार पर जिस दृष्टि का विकास हुआ वो वैज्ञानिक दृष्टि कहलाई। उससे जो अन्तर्विरोध उत्पन्न हुए, ज्ञान निश्चित रूप से आगे बढ़ा, विश्लेषणात्मक ज्ञान के विकास की संपूर्ण सम्भावनाएँ इससे उजागर हुईं, विश्लेषण भागश: और भाग के बाद विभाग करते हुए गहराई तक जाने की जो एक पद्धति विकसित हुई, निश्चित रूप से ज्ञान उससे आगे बढ़ा और आगे बढ़ने का वह परिमाण, विवरणों का एक अभूतपूर्व संसार हमारे सामने पिछली तीन शताब्दियों में आया। संसार का ज्ञान, विश्व का ज्ञान निश्चित रूप से नये सोपानों को तय करता हुआ आगे बढ़ा, पर इस विश्वदृष्टि में अन्तर्निहित अन्तर्विरोध भी सामने आया। आज चिन्तन के संसार में सबसे बड़ी समस्या इस विश्वदृष्टि से उद्भूत चिन्तन की पद्धति और शैली से छुटकारा पाने की समस्या है। आज काप्रा जैसे चिन्तक भौतिकविज्ञान में अपने ग्रन्थ, चाहे वह "ताओ ऑफ़ फ़िज़िक्स" हो चाहे "दि टर्निंग पॉइण्ट" हो, इन पुस्तकों में इन्हीं समस्याओं को उभार रहे हैं। जो खण्डदृष्टि है जीवन की और जो जीवन का यान्त्रिक दर्शन है, उससे उद्भूत चिन्तन के द्वारा क्या उस संपूर्णता के चिन्तन में अन्तर्निहित सत्त्व को और सार को भी हम समझ सकते हैं? क्या उससे हमारी एक समग्र दृष्टि आ सकती है? क्या उसके ज़रिये जीवन का "इण्टीग्रल व्यू" (समग्र दृश्य) हमारे सामने आ सकता है और अगर नहीं आता, तो क्या हम एक ऐसे अन्धे मोड़ पर नहीं पहुँच जाएँगे, जहाँ आगे बढ़ने के लिए रास्ता नहीं है। ये सारे सवाल हमारे आधुनिक चिन्तन में और शोध में उठाए जा रहे हैं। मानविकी के शोध में तो इन बातों का उठना नितान्त प्रासंगिक था। आज उस प्राकृतिक विज्ञान के शोध में भी ये सारे सवाल सामने आ गये हैं। अभी दो दिन पहले "मॉलिक्यूलर ऐण्ड ऐटॉमिक-फ़िज़िक्स" पर बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में एक बहुत बड़ी कॉन्फ़्रेंस आयोजित हुई थी। मुझे कुछ लोगों से थोड़ा सा मिलने का मौक़ा मिला। आज इन भौतिक विज्ञानियों की सबसे बड़ी चिन्ता आंशिक ज्ञान से कहीं हटकर, आगे बढ़कर उस ज्ञान की संपूर्ण अवधारणा को प्राप्त करने की है। तब इन सारी परिस्थितियों के चलते हम जब प्रयोगधर्मा—प्रयोगपरक शास्त्रों पर शोध के क्षेत्र, प्रखण्ड और उसकी पद्धति पर विचार करने के लिए यहाँ पर इकट्ठा हुए हैं, क्या हमारा ध्यान इन समस्याओं के ऊपर नहीं जायेगा? मैं इन बातों को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सामने रखने के लिए पहले से तो सोच के नहीं आया था, पर जब ये सवाल सामने आया है, तो मेरे मन में भीतर से ये सारे प्रश्न उभर रहे हैं कि ये एक अत्यन्त आवश्यक दिशा है, जिस पर विचार करना और अपना उत्तर पाना भी ज़रूरी है। ख़ासतौर से इसलिए कि इन समस्त शास्त्रों का विकास जिस विश्वदृष्टि में हुआ है, वह मूलत: भिन्न विश्वदृष्टि है, जो संपूर्ण विश्व को एकता में, एकतानता में, एकात्मता में देखती है। उस एकात्मता में विकसित शास्त्रपरम्परा और उसके अनुशीलन की पद्धति निश्चित रूप से पश्चिम की उस पद्धति से अलग है। भारी अन्तर्विरोध हमारे आधुनिक शोध में यही रहा है कि उस एकात्मता और एकतानता की विश्वदृष्टि से विकसित शास्त्र का अनुशीलन खण्डित दृष्टि के साथ, विश्लेषणात्मक अन्तर्दृष्टि के साथ विकसित पद्धति से करते हैं, तो जो भी उसके अन्तर्विरोध सामने आ सकते हैं, वे सब के सब हमारे सामने लगातार दो शताब्दियों से आते रहे हैं। चाहे पाठ-संशोधन की परम्परा की बात हो, चाहे प्रयोग को समझने की, प्रयोग की दिशा को और प्रकार को समझने की बात हो, हर बार हर मोड़ पर ये समस्या पिछली दो शताब्दियों से आधुनिक शिक्षा के सामने आती रही है। मैं ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि आधुनिक शिक्षा के सामने आती रही है। एक दूसरी धारा को, जो इस सारे के सारे शास्त्र के अनुशीलन को पारम्परिक पद्धति से ही बचाये हुए चली आयी है, यह ख़ास बात है, वह धारा संगीत के क्षेत्र में ही सुरक्षित रह पायी है। सबसे ज़्यादा वो संगीत के क्षेत्र में सुरक्षित रह पायी, यद्यपि शास्त्रीय चिन्तन में, दर्शन में, व्याकरण में, साहित्य में पारम्परिक रूप से जो अध्ययन-अध्यापन का क्रम आता रहा है, वहाँ भी यह पद्धति सुरक्षित रही है। वह पूरी तरह से हाथ से जाने नहीं पायी है। सर्जनात्मक साहित्य में बात थोड़ी बदल जाती है। विश्व का जिस तरह से निकट आना सम्भव हुआ है, जिस तरह से संचार के ये साधन बढ़े हैं, ऐसा हो नहीं सकता था और होना भी नहीं चाहिए था कि विश्व का एक भाग दूसरे भाग से सम्बद्ध न होता। वह सम्बद्ध हुआ है और उस सम्बन्ध का परिणाम विश्व के निकट आने के मुहावरे के साथ जो कहा जाता है, एक-दूसरे की समझ, एक-दूसरे से ज्ञान का विनिमय—ये भी हमारे सामने परिणाम के रूप में आया है। लेकिन इसके साथ ही साथ ये समस्याएँ आयीं हैं कि एक पद्धति का दूसरी पद्धति के ऊपर, एक पद्धति का दूसरे शास्त्र के ऊपर, आरोपण की समस्या भी हमारे सामने उसी मात्रा में आती चली गयी है।

भारत के प्रयोगपरक अनुशासनों का मूल चरित्र, जब हम निर्मित करने चलेंगे, तो एक संपूर्ण लिखित परम्परा और एक दूसरी सर्वथा मौखिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परम्परा का आधार लेना पड़ेगा। जिस जनजातीय और जनाधारित संस्कृति में शोध की समस्याओं के ऊपर अभी इंगित किया गया है, उसका मूलचरित्र वस्तुतः विशुद्ध मौखिक परम्परा है। पर ये शास्त्र, प्रयोगपरक शास्त्र, जिन पर हम विचार करने चल रहे हैं, ये न तो विशुद्ध लिखित परम्परा के हैं और न ही ये विशुद्ध मौखिक परम्परा के शास्त्र हैं। वस्तुतः विशुद्धः मौखिक परम्परा और लिखित परम्परा का विशिष्ट स्वरूप भी, इन शास्त्रों के द्वारा सुरक्षित होके हमारे पास आया है। जो शास्त्र हमें प्राप्त हैं, इनको केवल मौखिक परम्परा का नहीं कह सकते, क्योंकि इनका सुसम्बद्ध सुसंगत "कोडिफ़िकेशन" है और वह "कोडिफ़िकेशन" लगातार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के पास जाता रहा है। इस एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के पास सँक्रमण से उस "कोडिफ़िकेशन" में रहते हुए भी उसका देशगत और कालगत जो भी विस्तार सम्भव था, वह विस्तार होता रहा है। यह "कोडिफ़िकेशन" भी कोई अत्यन्त जड़ प्रक्रिया नहीं है, बल्कि "कोडिफ़िकेशन" निरन्तर वर्तमान, संचरणशील, परिवर्तनशील प्रक्रिया है और इस सबके ज़रिये उस "कोडिफ़िकेशन को हम निरन्तर एक के बाद एक आगे ले जाते रहे हैं। उसमें सँजोते रहे हैं, समन्वित करते रहे हैं। शताब्दियों तक की एक लम्बी परम्परा है, जिसमें लिखित पाण्डुलिपियाँ हमें प्राप्त होती हैं। उन पाण्डुलिपियों में, जो प्रयोगधर्मा शास्त्रों की पाण्डुलिपियाँ है, उन पाण्डुलिपियों में निरन्तर संचरणशील वे "कोडिफ़िकेशन" हैं, जो कश्मीर में लिखे गये शास्त्र की पाण्डुलिपि केरल में लिखी जा रही है और यह "कोडिफ़िकेशन" संचरण कर रहा है। जो केरल में लिखा गया ग्रन्थ है, बंगाल में उस पर टीका हो रही है। बंगाल में लिखे हुए ग्रन्थ की टीका गुजरात में हो रही है। गुजरात के प्रयोग को मणिपुर में देखा जा रहा है—एक निरन्तर प्रवाहमान संस्कृति, जो काल में भी संचरणशील है और देश में भी संचरणशील है, उस पद्धति का जब हम अवलोकन करते हैं, तो वह गुरु-शिष्य परम्परा से व्याख्यात होती हुई प्रयोक्ता से प्रयोक्ता के भीतर और प्रयोक्ता के हर प्रयोग से दूसरे प्रयोग में विकसित होती हुई निरन्तर परिवर्तन, इतनी प्रक्रियाओं से गुजरी है, फिर भी एक सुनिश्चित सुसंगत, एक सर्वथा अपरिवर्तनशील "कोडिफ़िकेशन" भी रहा है। यह द्वंद्वात्मक सम्बन्ध जो स्थिर था और परिवर्तन का हो सकता है, जो शाश्वत और परिवर्तन के बीच में हो सकता है, एक विशिष्ट द्वंद्वात्मक सम्बन्ध को जब तक हम देखते नहीं हैं, तब तक इस परम्परा की निजता को नहीं देखा जा सकता। इसकी व्याख्या को नहीं समझा जा सकता और इस पर किसी शोध की कल्पना तो बहुत दूर की बात है। हुआ यह कि उसको नितान्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जड़ "जीवाष्मीभूत" एक ज्ञान के रूप में देख लिया गया, जो कतई "जीवाष्मीभूत" नहीं है, ये "फ़ॉसीलाइज़्ड नॉलेज" कभी थी ही नहीं। ये जीवन में निरन्तर प्रवाहमान है, देश और काल में प्रवाहमान है। इसलिए इसको जीवाष्मीभूत रूप में देखने का कोई प्रश्न ही नहीं था। जब जीवाष्मीभूत रूप में देखा जाएगा, तो केवल उसकी संग्रहालयीन स्थिति हो सकती है, उसका संग्रहालयीन मूल्य हो सकता है और वह संग्रहालयीन मूल्य हमारे इतिहास की समझ के काम का हो सकता है, वह हमारे प्रयोग की समझ के काम का नहीं हो सकता। प्रयोग को ले आने के लिए निरन्तर सजीव समकालीनता के साथ हमारा सम्बन्ध आवश्यक है और इसलिए इस द्वन्द्वात्मकता की समझ को देखते हुए समस्त शास्त्रों को देखना आवश्यक हो जाता है और तभी किसी शोध की पद्धति का भी निर्धारण ठीक-ठीक होगा, उसके क्षेत्र का भी निर्धारण ठीक-ठीक होगा। अखण्ड का निर्धारण ठीक-ठीक होगा और उन समस्त खण्डों में जो अन्तर्निहित ऐक्य है, उसका भी निर्धारण ठीक-ठीक हो सकता है। ये कुछ ऐसी बातें सारे के सारे प्रयोग में जीवन्त रूप में और विशेष रूप से संगीत के इस वातावरण में आने पर, प्रयोक्ताओं के बीच में बैठने पर इन पारम्परिक अनुशासनों से सम्बद्ध रहने के कारण हमें कई बार स्वयं दर्शन को समझने की, व्याकरण को समझने की, साहित्य को समझने की, समझ मिला करती है। कोई चारा नहीं है। प्रयोगधर्मी कलाओं के भीतर भी एक बहुत बड़ा अन्तराल दिखाई पड़ता है परिवर्तन की दृष्टि से। एक ओर चाक्षुष कलाओं में जो सबसे प्रमुख कला है, चित्रकला है, उसमें पश्चिम के साथ सम्बन्ध का परिणाम कितना व्यापक हुआ और परिवर्तन की प्रक्रिया कितनी तीव्र हुई कि दो शताब्दियों में सम्पूर्ण चित्रकला कहाँ से कहाँ पहुँच गयी है। उसकी अपेक्षा साहित्य में परिवर्तन का वह क्रम और परिवर्तन की वह मात्रा कुछ कम है। बहुत ही कम परिवर्तन का वह दबाव संगीत पर, गायन और वादन और नर्तन पर है। ऐसा क्यों? कपिलाजी ने ये सवाल अपने एक छोटे से लेख में उठाया था। आज वह होतीं तो मैं इस प्रश्न को उनके सामने भी उठाता, क्योंकि कलाविषयक शोध के ये मूलभूत प्रश्न हैं, जिन पर विचार जरूरी है और उनसे ही कोई दृष्टि हमको मिल सकती है। इसका कारण क्या है? कलावार्ता की एक टिप्पणी में उन्होंने, इस प्रश्न को शायद दो साल पहले उठाया था और तब से वह मेरे मन पर अंकित है, पर ये जो प्रक्रिया है, ये जो गति है परिवर्तन की और यह पारस्परिक विनिमय का जो मात्राभेद है, ये ऐसा क्यों हुआ? ऐसा तो नहीं है कि संगीत सर्वाधिक अमूर्त है। स्थापत्य, चित्रकला और मूर्तिकला जो हैं, जीवन के मूर्त, चाक्षुष

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पक्ष से सम्वद्ध हैं। किन्तु अमूर्तन की जितनी तीव्र प्रक्रिया घटित हुई है चित्रकला में और मूर्तिकला में, अमूर्तन की शायद उतनी तीव्र प्रक्रिया दूसरे क्षेत्रों में नहीं हुई है। पहले विश्लेषण में मैं सोच रहा था कि शायद जो रूप से सम्बन्धित कलाएँ थीं, और जो ध्वनि से सम्बन्धित कलाएँ हैं, उसके स्वरूपगत विभेद के कारण यह हुआ हो। क्योंकि परिवर्तन, नादाधारित कला में परिवर्तन सरल नहीं है। रूप में परिवर्तन त्वरित गति से हो सकता है, पर जो शब्द और ध्वनि पर आधारित परिवर्तन हैं, जो नाद में है, उस नाद में परिवर्तन की धारा आना बड़ा मुश्किल होता है। अगर नादगत स्वरूप में परिवर्तन हो जाएगा, तो शायद संस्कृति मूलतः वदल जाएगी। उस नाद के संसार को वदल पाने के लिए जिस व्यापक दृष्टि की और जिस मूलदृष्टि की आवश्यकता होती है, वह दृष्टि बड़ी मुश्किल से, शताब्दियों में अर्जित की जाती है और उसमें परिवर्तन भी शायद इसीलिए वहुत मुश्किल हुआ करता है। गायन में और वादन में ऐसा परिवर्तन सम्भव नहीं था और अगर कहीं ये परिवर्तन हो जाता, तो शायद जो पहचान हमको इस क्षेत्र से मिल रही है, फिर से अपने मूल रूप को पहचानने की, अपनी निजता को पहचानने का जो रास्ता हमें संगीत में विद्यमान परम्परा के ज़रिये मिल रहा है, शायद वह मिलना ही असम्भव हो जाता। लेकिन फिर मन में ये विचार आया कि ऐसा क्यों हुआ कि चाक्षुष रूपात्मक कला प्रकार होते हुए भी नर्तन में भी वह जो प्रक्रिया है, परिवर्तन की प्रक्रिया, वह लागू नहीं हुई? अगर यह सिद्धान्त मैं बनाता, तो जैसे चित्र और मूर्ति में परिवर्तन आया है, फिर वैसे ही नर्तन में भी आना चाहिए क्योंकि चाक्षुष तो वो भी है, रूपकला तो वह भी है, वहाँ क्यों नहीं आया? ये प्रश्न लगातार मेरे मन में उठता रहा। शायद इसका भी कारण है, क्योंकि नर्तन मूलतः उस नाद के संसार से जुड़ा हुआ प्रयोगशास्त्र है और प्रयोगविधा है और रूप भी स्थिरता में न होकर गतिमयता में प्रस्तुत होता है।

डॉ. प्रेमलता शर्मा—न नादेन विना नृत्तम्।[1]

वक्ता जारी रखते हुए—

इसलिए यहाँ भी परिवर्तन मुश्किल था। यहाँ भी वह पारम्परिक सातत्य बना रहना लाज़िमी था, क्योंकि यहाँ संस्कृति सबसे अधिक बलिष्ठ रूप

१. न नादेन विना गीतं न नादेन विना स्वराः।
न नादेन विना नृत्तं तस्मान्नादात्मकं जगत्॥
—बृहद्देशी, त्रिवेन्द्रम् संस्करण, पृ. २-३ (—संपा.)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में प्रतिष्ठित है। एक ग्रौर भी कारण। जहाँ व्यक्ति ग्रौर व्यक्ति, व्यक्ति ग्रौर परिवेश के ग्रन्त:सम्बन्ध ग्रौर प्रखर रूप में अंकित होते हैं, वहाँ परिवर्तन की प्रक्रिया का तेज होना भी लाजिमी है। साहित्य में ऐसा कुछ इसलिए सम्भव हुग्रा है कि साहित्य का तो मुख्य विषय ही उस ग्रान्तरिक सम्बन्ध के अंकन का है। उसका तो संसार ही सम्बन्धों के अंकन का है। वे सम्बन्ध जो ग्रान्तरिक ग्रौर वाह्य दो हैं—व्यक्ति का व्यक्ति से सम्बन्ध है, व्यक्ति का समाज से सम्बन्ध है, व्यक्ति का परिवेश से सम्बन्ध है, व्यक्ति का प्रकृति से सम्बन्ध है, समाज का प्रकृति से सम्बन्ध है—ये सारे के सारे सम्बन्ध काव्य के, कविता के लेखन के विषय हैं ग्रौर ये इतनी तेजी से बदलते हैं कि इनका प्रतिफलन साहित्य में परिवर्तन के रूप में दिखाई ही न पड़ना चाहिए। चित्रकला का ग्रौर मूर्तिकला का भी, उससे कम सीमा में सही, पर सम्बन्ध वहाँ पर भी है। शायद इसलिए भी परिवर्तन का वह दबाव, सम्बन्धों का वह दवाव यहाँ पर पड़ा। पर संगीत का सम्बन्ध, संगीत का विषय तो दरग्रसल इन सम्बन्धों से ऊपर है ग्रौर इस ग्रर्थ में संगीत की ग्रमूर्तता की बात जो कही गयी, वह बिल्कुल ठीक है।

सबसे बड़ा मुश्किल काम ये रहा है कि हम किसी भी ग्रनुशासन में प्रयुक्त शोध की प्रक्रिया को जैसे का तैसा, पश्चिम से ग्रायी वह पद्धति, जो जिस किसी ग्रनुशासन में, प्राकृतिक विज्ञान में प्रयोज्य है, उसे संगीत के ग्रनुशीलन ग्रौर शोध में लागू करना चाहते हैं। यह ग्रन्तर्विरोध हमको कहाँ ले जाएगा? संगीत के उन रहस्यभूत ग्रर्थों का उद्घाटन कैसे सम्भव होगा? पुनः संगीत के कई ग्रायाम हमसे छूट गये हैं। शास्त्र में ग्रौर प्रयोग में ग्रन्तराल हमारी मुख्य समस्या रही है, संगीत प्रयोगशास्त्र है। **"प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्, किमत्र वाग्व्यवहारेण ?" "मालविकाग्निमित्रम्"** में मालविका के नर्तन के बाद जब राजा कहता है पण्डित कौशिकी से, जो परीक्षक है, जो समालोचिका है कि इस पर कुछ कहिये, तो पण्डित कौशिकी की पहली प्रतिक्रिया होती है—ये तो प्रयोगप्रधान शास्त्र है, यहाँ तो करके दिखाने की बात है, कहने की बात क्या है? कहने में क्या रक्खा है? फिर भी ग्राप कहते हैं तो कहती हूँ। ग्रौर तब वो जो कहती है, जो समीक्षा है, वह समीक्षा दरग्रसल प्रयोग-शास्त्र के प्रति समाकलनीय दृष्टि को सामने रखती है। कालिदास जैसा बड़ा कवि सारे जीवन को, सभी मर्म को देख सके, ये तो उसी के लिए सम्भव है।

पण्डित कौशिकी की समीक्षा है, कला समीक्षा का शायद पहला उदाहरण भारतीय सम्पूर्ण वाङ्मय में है। वह पण्डित कौशिकी के मुख से कालिदास के शब्दों में ग्राता है। तो ये मूल चरित्र है। मूल समस्या तो प्रयोग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के और शास्त्र के बीच में विद्यमान है। प्रयोग हमारा कहीं पर आ गया है और उसका अनुशासन करने वाला शास्त्र कहीं पर रह गया है, उसके बीच का जो अन्तराल है, उसको पाटने की, उस पर पुल बनाने की, उस पर सेतु बनाने की जो आवश्यकता है वह संगीत के क्षेत्र में, प्रयोगधर्मी कलाओं के क्षेत्र में हो रहे अनुशासन की पहली समस्या है। कई बार ऐसा लगता है कि हम शास्त्र से, लक्षण से स्वरूप को समझने की चेष्टा करते हैं। रंगमंच के क्षेत्र में जिस संस्कृत-रंगमंच के पुराने सोपान के पुनराविष्कार के लिए हम प्रवृत्त हुए, वहाँ तुरन्त ये समस्या हमारे सामने आयी। बहिनजी जैसी विदुषी के साथ बैठकर उन सारी समस्याओं पर विचार करने का स्वर्ण अवसर भी हमें मिला और उसी समय बार-बार, पदे-पदे ये साक्षात्कार होता रहा कि यह पुनराविष्कार बहुत ही कठिन है। वस्तुतः जो श्रव्य कलाएँ थीं, जो श्रव्य प्रयोग थे, उनके सुरक्षित रखने का कोई उपाय नहीं था। अगर उपाय था, तो वह लेखन का था। पारम्परिक रूप से, जो हमको गुरुपरम्परा से प्राप्त हुआ, गुरुपरम्परा से प्राप्त होने पर यह द्वंद्वात्मक प्रक्रिया लागू ही रही कि कुछ उसमें शाश्वत रहेगा और कुछ काल से और देश के भेद से बदलता ही चला जाएगा। पीढ़ी से पीढ़ी में बदलता जाएगा, फिर प्रयोक्ता से प्रयोक्ता में बदलता जाएगा, फिर प्रयोग से प्रयोग में बदलता जायगा। तो जातिगान कैसे होता था, उसका वास्तविक प्रयोगात्मक रूप क्या था, शब्द को जानने के बाद हूबहू उसको पकड़ पाने का कोई रास्ता सामने नहीं दिखाई पड़ता। इस मूल समस्या को लेकर जूझते हुए सोपान के जो ऐसे लुप्त पद हैं, उन लुप्त पदों को फिर से आविष्कृत करना और उन्हें समकालीन प्रयोग के साथ जोड़ना, प्रयोग की यह अत्यन्त जटिल समस्या संगीत के क्षेत्र की समस्या है। ये प्रयोग जो नितान्त अमूर्त हैं, जिनको सुरक्षित रखने का अधिक से अधिक हमारे पास जो साधन है, वह पचास वर्ष पुराना है। पचास वर्ष पुराने गायक को मुश्किल से हम सुन सकते हैं, सौ वर्ष पुराने नर्तक को मुश्किल से देख सकते हैं। और इससे पुराने और जो कुछ प्रयोग हैं, चाक्षुष प्रयोगों को हम थोड़ा सा भित्तियों पर मूर्तियों में देख पाते हैं और उसके जरिये नर्तन के प्रयोग का थोड़ा सा अन्दाज लगा सकते है, अभिनय का कुछ अन्दाज लगा सकते हैं, लेकिन संगीत का अन्दाज कहाँ से लगा पायें? वाचिक अभिनय में भी काकु का अन्दाज कहाँ से लगाएँ? "इण्टोनेशन" को हम कैसे "रीकन्स्ट्रक्ट" करें? कैसे पुनराविष्कृत करें? कैसे उसको हम फिर से समझ पाएँ? संस्कृत नाटकों के प्रयोग की बात होती है, पर संस्कृत नाटकों के प्रयोग को करते हुए उस "इण्टोनेशन" को कहाँ से ले

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आयें ? कैसे कल्पना करें कि संस्कृत जो आज से पाँच सौ वर्ष पहले बोली जाती होगी और एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में इस भिन्न रूप में बोली जाती होगी, हज़ार वर्ष पहले ऐसे बोली जाती होगी, प्राकृत और अपभ्रंश का इस तरह से प्रयोग होता होगा। जब तक वह जो तनु है, नाट्य की तनु है, "वाचिक तनु" जब तक उसका स्वरूप हमारे सामने न आ जाए, तब तक हम आगे के प्रयोग के सोपानों को कैसे जोड़ पायें ? मूल रूप में ये सारे प्रश्न हैं, जो शोध के और सांगीतिक शोध के क्षेत्र से जुड़े हुए हैं।

मैं सोचता हूँ कि शोध का एक जो सामान्य स्वरूप हमारे लिए आवश्यक है, अपेक्षित है, उसको भी तय करने में हम इस बात का ध्यान रखें कि एक विशिष्ट पद्धति, जो जीवित पद्धति है, एक विशिष्ट प्रयोग, जो जीवित प्रयोग है, उसके लिए हम हूबहू कहीं दूसरे प्रदेश में, दूसरे देश में, दूसरे काल में, दूसरी अपेक्षाओं से विकसित पद्धति के द्वारा मूल्यांकित करने का जो अभी तक प्रयास करते रहे हैं, उसको बदलने का और उसका उत्तर पाने का प्रयास अगर यहाँ नहीं कर सकेंगे, तो कहाँ करेंगे ? इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय अपनी तरह की अद्वितीय संस्थाओं में है और इसकी अद्वितीयता इसी अर्थ में सामने आती है कि हम यहाँ पर संगीत की ही जो मूल समस्याएँ हैं, शोध की हों चाहे प्रयोग की हों, उन दोनों को ही यहाँ पर हम देखने की और उनका उत्तर पाने की चेष्टा करें। शोध का सामान्य रूप भी उसी से तय होना है। अत्यन्त सामान्य जो बातें हैं, वह तो ठीक है सब जगह और सभी काल में वे एक जैसी रहेंगी कि हम समस्याओं को "फ़ॉर्मुलेट" कर लें, ठीक-ठीक 'क्लीयर फ़ॉर्मुलेशन' होना चाहिए समस्या का, उसके बाद उससे सम्बद्ध तथ्यों का पूरा का पूरा आकलन हो, ये भी ठीक है, इसके आकलन के साथ-साथ उसका जो अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण है, यह भी ठीक तरह से किया जाय, ये सारी बातें हमारी पद्धति में और किसी भी पद्धति में समान हैं। मुझे याद आता है कि किस दृष्टि से चर्चा इन शास्त्रों में विस्तार से की गयी, आयुर्वेद में की गयी है। आयुर्वेद में शोध के लिए अनुशीलन के लिए क्या दिशा हो, इस पर विचार करते हुए चरकसंहिता में और सुश्रुतसंहिता में सुस्पष्ट निर्देश दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि वह भी आख़िरकार तो वही विज्ञान है और वहाँ पर ये सारे जो सिद्धान्त हैं, मूलभूत सिद्धान्त हैं वहाँ पर स्वीकार किये गये हैं। वहाँ ये भी है, जो आज हम कर रहे हैं। आज विशिष्ट विशेषज्ञ विद्वान् देश के कोने-कोने से आये हैं, संसार के कोने-कोने से आये हैं और वे बैठकर इस पर विचार कर रहे हैं, ये भी उस पद्धति का अंग है। वहाँ ऐसी संगोष्ठियों के लिए विशेष नाम आया है चरकसंहिता में, "तद्विज्ञसंभाषापरिषद्" तद्विज्ञों की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संभाषा की परिषद हुआ करती है, जो 'तत्' उस विशिष्ट शास्त्र के 'विज्ञ' विद्वान् हैं, उनकी संभाषा की परिषद् है। तद्विज्ञसंभाषापरिषदें आयोजित होती थीं, जिसमें वाह्लीक से कोई आया है, तो कोई सुदूर चीन से आया है, कोई हूणदेश से आया है और देश-देशान्तर से आये हुए विद्वान् उस चिकित्साशास्त्र की समस्याओं पर विचार करते हुए दीखते हैं। तो ये जो मूल मान्यताएँ हैं शोध की वह तो ठीक हैं, वह तो सब जगह रहेंगी, पर जो विशिष्ट दृष्टिकोण है, शास्त्र के सन्दर्भ से बदलता है, देश के सन्दर्भ से बदलता है, उसका ध्यान रखते हुए शोध की इस पद्धति का विचार हमारी आने वाली तीनों दिनों की संगोष्ठियों में हो सके, मेरी ये कामना है।

मैं ये भी कहना चाहता हूँ कि आज इस पर एक और दबाव आ रहा है, मैंने उसकी चर्चा कल सायंकाल बहिनजी से की थी। निरन्तर बढ़ता हुआ संचार और देशों का पास आना, संस्कृतियों का पास आना, उससे एक प्रयोगधर्मी शास्त्रों और कलाओं के बीच में एक नयी दृष्टि सामने आयी है अन्तरसांस्कृतिकता के नाम से, अन्तरसांस्कृतिकतावाद के नाम से। अभी एक बहुत ही विचारोत्तेजक लेख भी मैंने रुस्तम भरूचा का पढ़ा। "एशियन थिएटर" पर एक जर्नल आता है, हवाई से, उसमें ये लेख आया था। उन्होंने ये सवाल उठाया है कि अन्तरसांस्कृतिक सम्बन्धों का, उनकी प्रयोजनीयता, स्वरूप और उसकी प्रामाणिकता कहाँ तक है, औचित्य कहाँ तक है—ये सवाल उठाया है, विशेष रूप से थिएटर को लेकर, रंगमंचीय प्रयोग को लेकर। मैं इस प्रश्न को आज छोड़ता हूँ। कल जब मूल पाठ के संशोधन की दिशा की बात आयेगी, मैं इस प्रश्न को कल उठाना चाहूँगा। अन्तरसांस्कृतिक सम्बन्ध के नाम पर कहीं न कहीं अपने को विशिष्ट मानने की बुद्धि से, सांस्कृतिक उपादानों को लेकर प्रयोग की स्वतन्त्रता लेने वाले जो लोग इस दृष्टि से चीज़ों को देख रहे हैं, वह चाहे रिचर्ड शेखनर हो, चाहे पीटर ब्रुक हो, क्या वो सम्भव है? क्या उचित है? क्या सम्पूर्ण सन्दर्भों से काटकर केवल "फ़ॉर्म" को केवल रूप को लेकर जैसा चाहें, वैसा हम प्रयोग करने की स्वतन्त्रता के हक़दार हैं? और अगर आप करना भी चाहें, तो क्या वह स्वीकार्य है? इन सबके बीच में ही मूलपाठ की समस्याओं का निर्धारण भी सम्भव होगा।

मैं सूत्र रूप में यही कहना चाहता हूँ कि संगीत के शोध की जो दो धाराएँ हैं, एक तो शास्त्र की और दूसरे प्रयोग की, प्रयोग में भी जो सोपानों के बीच के अन्तरालों को खोजने की समस्या है और पुनः शास्त्र को प्रयोग के उन पदों से, सोपान के उन पदों से संयुक्त करने की समस्या प्रयोगपरक शास्त्रों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में है, इसको निश्चित रूप से ध्यान में रखा जाना चाहिए । कोई ज़रूरी नहीं है कि जो पद्धति अब तक आती रही है, महज़ वर्णनात्मक और उसमें थोड़ा सा जैसा-तैसा विश्लेषण डालकर, उसको जैसा का तैसा हम दोहराते जाएँ, इसकी कोई अनिवार्यता नहीं है। विशेष रूप से ऐसे संस्थानों में, जो हमारे पारम्परिक विचार, और पारम्परिक छोड़िये हमारे निजी विचारों की रक्षा करते हैं। मैं इसको निजी विचार मानता हूँ। समकालीन निजता का भी प्रस्फुटन इसी तरह के विचारों से औरइसी तरह के परिवेश से, इसी तरह के अकादमिक परिवेश से हो सकता है। इन शब्दों के साथ मैं तीन दिनों तक आयोजित होने वाले इस संगोष्ठी-सत्र का उद्घाटन करता हूँ और मैं ये फिर से दोहरा दूँ कि न तो पूरी तरह से इस संगोष्ठी के उद्घाटन के लिए मैं तैयार होकर आया था, न ही मैं इसका उस रूप में अधिकारी हूँ, फिर भी जो बातें आपके विचारार्थ रखी हैं, अगर उनमें कुछ भी उपादेय हो, तो उसे आप स्वीकार करने का अनुग्रह करेंगे। धन्यवाद। □

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्यक्षीय वक्तव्य

□ डॉ० प्रेमलता शर्मा

त्रिपाठीजी ने अपने भाषण में भारतीय विद्याओं सम्बन्धी शोध की समस्याएँ, बिल्कुल मूलभूत समस्याएँ हमारे सामने रखीं। मैं उन बातों को दोहराऊँगी नहीं। वह सब कुछ हम सबके चिन्तन का विषय बनेगा और धीरे-धीरे पचते-पचते, रचते-रचते उसमें से कुछ बात हम सबको अपने-अपने व्यक्तिगत रूप से, तो कभी सामुदायिक रूप से भी समझ में आयेगी, कुछ निकलेगी, उसे मैं उसी अवकाश पर छोड़ देती हूँ। मैं, जिनको शायद हम साधारण कह सकें, लेकिन जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, ऐसी कुछ बिल्कुल व्यावहारिक कठिनाइयों पर हम सबका ध्यान दिलाना चाहती हूँ। समस्या शब्द का मैं यहाँ कठिनाई के रूप में प्रयोग कर रही हूँ, न कि शोध के आधार ('रिसर्च प्रॉब्लम') के रूप में। उसके लिये भी मैं कुछ कहूँगी बाद में। और विशुद्ध रूप से संगीत की ही बात लेकर चल रही हूँ। इसमें त्रिपाठीजी ने जो कहा उसकी थोड़ी-बहुत पुनरावृत्ति अवश्य होगी, उसके लिये मुझे क्षमा करेंगे।

सबसे पहली व्यावहारिक कठिनाई मुझे जो समझ में आती है या इस क्षेत्र में जिन्होंने भी काम किया होगा, उनको समझ में आती है, वह यह है कि हमने आज तक कभी गम्भीरता से ये समझने की कोशिश नहीं की कि संगीत में शोध के लिये किसी भाषा के ज्ञान की भी आवश्यकता है, यह हमने कतई नहीं समझा है। हमने तो समझा है कि जो गा-बजा लेता है, वह शोध भी कर सकता है। मैं तो ३३ वर्ष से या कम से कम ३० वर्ष तो अवश्य, बहुत-बहुत आक्षेपों, बहुत-बहुत प्रकार के संघर्षों में से गुज़री हूँ, केवल इसी बात को लेकर कि मैंने शुरू से इस बात का आग्रह रखना शुरू किया कि संगीत में यदि शोध के लिए या शोध न सही, पहले कुछ भी अध्ययन के लिए संगीत संबंधी यदि कुछ लक्षणगत अध्ययन करना है, प्रयोग का आधारभूत लक्षण जो है, उसका यदि कोई अध्ययन करना है, तो उसके लिए भाषाज्ञान आवश्यक है। और यूँ तो बहुत सी भाषाओं का ज्ञान आवश्यक है, पर सबसे पहला स्थान उसमें संस्कृत का आता है। आक्षेप तो इस तरह होते हैं, समझा यह जाता रहा है कि क्योंकि मुझे थोड़ी-बहुत संस्कृत मालूम है, शायद इसलिए

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मैं यह आग्रह करती हूँ कि औरों को भी मालूम होनी चाहिये। ऐसी बात नहीं है। संस्कृत का नाम इसलिए लेना पड़ता है कि सौभाग्य से कहिये या दुर्भाग्य से कहिए, शायद दुर्भाग्य समझें तो कोई समझ लें, लेकिन लक्षण बहुत कुछ उस भाषा में निबद्ध हुआ, अब इसको मैं क्या करूँ? मैं तो नहीं बदल सकती इस परिस्थिति को। लेकिन इस कारण मुझे बहुत संघर्ष में से गुजरना पड़ा। ये मैं आपको बता सकती हूँ। मेरी तो ये आप बीती है, लेकिन मैं अब आपको थोड़ी सी जगबीती भी बताती हूँ।

अभी २८ नवंबर (१९८६) को यू० जी० सी० में एक महत्त्वपूर्ण बैठक बुलाई गई। प्रयोगात्मक (श्रव्य-दृश्य) तथा दृश्य दोनों कलाओं की वह सम्मिलित समिति है जिसमें बड़ौदा, बनारस, जयपुर, शान्ति निकेतन के और नाटक के लोग थे। वहाँ जो पहला बिन्दु चर्चा के लिए उठाया गया, वो यह था कि एॅम्० फ़िल्० में जब हम किसी को लेंगे, तो उससे किसी भाषाज्ञान की अपेक्षा करें या न करें। पहला सवाल यह है, पहले इस पर निर्णय करिये। तो वहाँ तो कोई ऐसा नहीं था कि कहे कि भाषाज्ञान की आवश्यकता नहीं है, हालाँकि मुझे तो ऐसा कहने वाले जिन्दगी भर मिलते रहे।

भाषा की जरूरत क्यों है? दो बातों के लिए है। एक तो यह कि जो कुछ लिखित परम्परा में हमारे पास उपलब्ध है, वह जिस भाषा में भी हो उस मूलभाषा में देखने की क्षमता हममें होनी चाहिए, यह पहली शर्त है शोध की। अनुवादों के आधार पर शोध नहीं हुआ करती। लोग कह देते हैं "जी हम अनुवाद देख लेंगे।" पहली बात तो यह है कि सब ग्रन्थों के अनुवाद हुए ही नहीं हैं, एक शतांश के भी नहीं हुए हैं। यदि हुआ होगा, सौ में एक हुआ होगा। और वह भी जो हुआ है, उसमें अनुवादक की अपनी दृष्टि होगी, उसकी दृष्टि उसमें जरूर ही झलकेगी, जो शोधार्थी है, वह कैसे मान ले कि जो अनुवादक की दृष्टि है, वह उसकी अपनी भी दृष्टि होगी। यह मानकर चलना शोध के पहले सिद्धान्त के विपरीत है। तो हमने जिस भी क्षेत्र को चुना हो शोध के लिए, उस क्षेत्र में यदि कुछ लेखन हुआ है, दुर्भाग्य से, तो उसको देखना हमारा पहला कर्तव्य है। और, यही नहीं कि संस्कृत में ही हुआ है, मध्ययुग में बहुत कुछ लेखन फ़ारसी में हुआ है, तो फ़ारसी भी मालूम होनी चाहिए। ऐसा कोई विरोध नहीं है कि संस्कृत ही हो। संस्कृत का नाम पहले इसलिये लेना पड़ता है कि उसमें सर्वाधिक हुआ है। और मूलभूत बात इस देश की उसमें है। परन्तु उसके बाद फ़ारसी में भी हुआ है, तो फ़ारसी मालूम होनी चाहिये। उसके बाद आज की भाषाएँ आ जाती हैं, बँगला है, गुजराती है, मराठी है, तमिल है, तेलगु है, इन सबमें बहुत काम हुआ है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और जितनी अधिक भाषाएँ मालूम होंगी, जिनमें अपने विषय से सम्बद्ध साहित्य को हम देख सकेंगे, उतना ही किसी भी शोधार्थी के लिये अच्छा रहेगा। लेकिन जिसको मूलभूत सिद्धान्त हम कहें, वह जिस भाषा में ग्रथित है, उसका ज्ञान सबसे पहले आवश्यक है। यह पहली आवश्यकता है शोध की।

दूसरी आवश्यकता यह है कि हम शोधार्थी को यह विवेक अभी तक नहीं दे पाये कि किस आधार को वह कितना महत्त्व दे, कितना वज़न दे। आप यों समझ लीजिये कि नाट्यशास्त्र एक ओर और आज मैंने या त्रिपाठीजी ने या और किसी ने कहीं कुछ कहा है नाट्यशास्त्र के बारे में, तो हम लोगों का लिखा हुआ और स्वयं नाट्यशास्त्र, इन दोनों में क्या वज़न रहेगा। ये दोनों बराबर तो नहीं हैं। यह विवेक हम विद्यार्थी को अभी तक नहीं दे पाये हैं। वह ये समझता है कि अगर किसी ने नाट्यशास्त्र का नाम ले लिया है, तो वह नाट्यशास्त्र ही है। यह बात बिल्कुल गलत है। वह नाट्यशास्त्र नहीं है। हम जनम भर भी नाट्यशास्त्र पर लिखते रहेंगे, या और कोई भी, दुनियाँ में कहीं भी लिखता रहे तो वह नाट्यशास्त्र का स्थान नहीं ले सकता। उसका स्थान तो 'सैकिण्डरी' होगा। स्वयं नाट्यशास्त्र यदि प्राइमरी है, तो नाट्यशास्त्र में बारे में उसके बाद जो कुछ भी लिखा गया है या आज भी कुछ अनुशीलन हो रहा है या लिखा जा रहा है या कहा जा रहा है, वो सब 'सैकिण्डरी' (गौण) है। या फिर 'टर्शियरी' (तृतीय-स्थानीय) भी है। मेरी और त्रिपाठीजी की बात को लेकर कोई तीसरा और लिख सकता है कि इन लोगों ने ऐसा कहा है, पर हमको ऐसा लगता है। तो वह तीसरे दर्जे पर जायगा। यानी मैंने स्वयं नाट्यशास्त्र पढ़कर यदि कुछ लिखा है, तो मैं 'सैकिण्डरी' (द्वितीय-स्थानीय) बनती हूँ, लेकिन जिसने नाट्यशास्त्र तो देखा नहीं, केवल मेरी बात को देखा है, वह 'टर्शियरी' (तृतीय स्थान) में जाएगा। तो यह विवेक शोधार्थियों को सबसे पहले होना चाहिए कि जो भी प्रमाण उसके सामने आयेगा, उसको वह क्या वज़न देगा। यह विवेक बुद्धि विद्यार्थी में जाग्रत होना बहुत आवश्यक है। यह विवेक जाग्रत होगा, तो वह स्वयं भाषा का महत्त्व समझेगा, जब इच्छा जाग्रत हो जाती है तो सब आसान हो जाता है। हम तो हौआ बनाये हुए हैं कि "अरे भाषा सीखना बहुत कठिन है। कैसे सीखोगे कह दो हम नहीं सीखेंगे, विरोध करेंगे।" करिए। ये सब मेरे साथ बीता है, इसलिए मैं बता रही हूँ। लेकिन ऐसे उदाहरण भी मेरे पास आये जो इसके विपरीत थे। अब ये विदेश के लोग आकर क्यों सीख लेते हैं? इसमें मैं ये नहीं कहना चाहती कि विदेशी आदमी की बुद्धि कोई अधिक प्रखर है भारतीय आदमी की अपेक्षा, लेकिन यह समझ की बात है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह वहाँ से यह समझ कर आता है कि जिस क्षेत्र में मुझे काम करना है, उसकी भाषा मुझे सीखनी पड़ेगी, अगर मुझे काम करना है। उसके साथ कोई बहस आपको नहीं करनी पड़ती। वह तो समझ कर आता है। इसलिये वह सीख भी लेता है। इतनी सी बात है। हम क्योंकि समझे नहीं हैं, हमें क्योंकि ये ही बताया गया है कि गाना-बजाना आता है तो फिर भाषा की क्या जरूरत है इसलिये हम नहीं सीख पाते। फिर शोध भी चाहिए, क्योंकि 'डिगरी' चाहिये। नौकरी के लिये 'डिगरी' जरूरी है। यदि यह समझ आ जाए कि भाषाज्ञान इसलिए जरूरी है कि जिनको हमने 'प्राइमरी सोर्स' (मूल स्रोत) माना है, उनका हमें प्रत्यक्ष या साक्षात् परिचय होना चाहिए। ये शब्द मेरे नहीं हैं, हमारे प्राचीन आचार्यों ने भी इनका प्रयोग किया है। स्वयं अभिनवगुप्त जब टीका लिखते हैं, तो कहीं-कहीं तो लिखते हैं कि अमुक आचार्य की बात मैं यहाँ कह रहा हूँ कि उनका ऐसा मत है, लेकिन साक्षात् नहीं देखा—"इदमस्माभिः साक्षान्न दृष्टम्।" यानी मैंने उनका ग्रन्थ स्वयं नहीं देखा है। किसी दूसरे ने उनके बारे में यह कहा है कि उनका यह कहना है, उनके प्रत्यय से मैं यह कह रहा हूँ। तो ऐसे ही हमारे शोधार्थी को भी, यदि कोई 'सोर्स' (आधार-ग्रन्थ) वो स्वयं नहीं देख पाता हैं, तो यह बताना चाहिए मैंने नहीं देखा है। अमुक के कहने के आधार पर मैं कह रहा हूँ। यानी नाट्यशास्त्र से मैंने या त्रिपाठीजी ने कोई उद्धरण दिया हो विद्यार्थी ने नाट्यशास्त्र न देखा हो। हमारा वह उद्धरण पकड़ कर अगर वह यह कहे कि नाट्यशास्त्र में ऐसा लिखा है तो यह बेईमानी है। शोध में क्या ईमानदारी है और क्या बेईमानी है, यह विवेक सबसे पहले हमें विद्यार्थी को देना है। और वह हम नहीं देते हैं। यदि हमें यह विवेक आ जाए कि यह 'प्राइमरी सोर्स' है, यह 'सैकिण्डरी सोर्स' है, यह 'टर्शियरी सोर्स' है, तो यह अवश्य लगेगा कि जो प्राइमरी है उसको देखना जरूरी है। तो भाषा हम अपने आप सीखेंगे। ऐसे उदाहरण मेरे पास हैं। ऐलन माइनर करके एक लड़की थी अमेरिका की, जिसने सितार पर काम किया है। लेकिन सितार का क्योंकि मध्ययुग से सम्बन्ध है, तो संस्कृत तो उसने थोड़ी सीखी ही, क्योंकि नाट्यशास्त्र, संगीतरत्नाकर में से जितना सा अंश ज़रूरी है, उसे 'डिक्शनरी' की सहायता से समझ ले इतनी योग्यना अर्जित कर ही ली। यह नहीं कि कोई संस्कृत का पण्डित बन जाये, लेकिन कोष की सहायता से विभक्ति का ज्ञान हो, प्रत्यय का ज्ञान हो, देख ले कि क्या अर्थ है और कहीं अटक जाए तो पूछ भी ले किसी से।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भाषा-ज्ञान और किस प्रमाण को कितना वज़न देना, इसका विवेक, इन दो बातों के बाद ऐतिहासिक अध्ययन के प्रसंग में एक और बात बहुत ध्यान देने की है। संगीत का लक्षण तो काफ़ी कुछ सुरक्षित है, किन्तु उसका लक्ष्य तो प्रतिक्षण विनाशशील है। 'नोटेशन' (संगीतलिपि) भी कोई लक्ष्य नहीं है। एक तो पूरे संगीत का सौवाँ हिस्सा भी लिपिबद्ध नहीं हुआ है। आज इतना सब होते हुए भी कम से कम इस देश में जितने स्तरों का और जितने प्रकार का संगीत आज भी चल रहा है, उसका भी शायद ५ प्रतिशत भी 'डॉक्युमेण्ट' नहीं हुआ है। तो यह सारी की सारी जो वाचिक परम्परा है, जो मौखिक परंपरा है, जो प्रतिक्षण नवीन है और प्राचीन को लेकर चलती है, पर प्रतिक्षण नवीन होती चलती है इसकी ऐतिहासिकता आप कैसे निर्मित करेंगे? यह बहुत बड़ी समस्या है, कुछ-कुछ रास्ते भी हैं इस समस्या से निपटने के। लेकिन वे रास्ते इतने बीहड़ हैं कि उसके लिये हम लोग तैयार नहीं हैं। जंगल में से पगडंडी बनाई जा सकती है, लेकिन बहुत अधिक परिश्रम की जरूरत है। ऐसा नहीं है कि हम किसी काल की मूर्तियों के चित्र ले लें या उस काल के चित्र ले लें और काम कर लें। वहाँ कम से कम हमारे पास आधार तो है कुछ। यहाँ यदि पहला आधार है तो लक्षण है, लेकिन लक्षण जो है, वह लक्ष्य का स्थान तो नहीं ले सकता। कल मैं किसी समय बात करने वाली हूँ इसी संगोष्ठी में इस बात पर कि ग्रन्थोक्त जो लक्षण हमें मिलते हैं, उनके आधार पर, मैंने केवल गीत-रूपों को लिया है। ग्रन्थों में कुछ गीतरूपों के लक्षण नाट्यशास्त्र के समय से मिलते हैं। तो आज हम ये नहीं जानते, कोई उपाय नहीं है जानने का कि सचमुच में उसको गाते कैसे होंगे। यानी 'इंटोनेशन' क्या होगा। मान लीजिये स्वरों के अन्तराल भी हमें मालूम हो जायें लेकिन अन्तराल मालूम हो जाने से संगीत तो नहीं सामने आ जाता। यह कैसे मालूम हो कि उन लोगों के स्वरोच्चार की विधि कैसी थी।

वाद्यों का कुछ पता नहीं है। वाद्यों की ध्वनि कैसी रही होगी। वाद्य का हम चित्र यदि बना भी लें, चित्र से ध्वनि थोड़े ही मिलती है। मान लीजिये वाद्य आपको किसी मूर्ति में मिल जाय, आपको दूसरी शताब्दी का भी मिल जाए, पहली शताब्दी का भी मिल जाए, आकृति मालूम हो जाएगी बहुत से बहुत वाद्य की, ध्वनि का क्या? उसका प्राण तो ध्वनि है कि कैसा नाद निकलता है उसमें से। वो कहाँ से मिलने वाली है? वो नहीं मिलने वाली। यानी वाद्यों का पुनर्निर्माण किया जाय, तब ध्वनि को कुछ देखा जाय। यह एक रास्ता है, यह भी एक दिशा है, जिसमें अभी तक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमारे देश में कोई काम नहीं हुआ। मैं स्वयं भी बहुत वर्षों से सोच कर भी नहीं कर पाई हूँ। एक आदमी सब कुछ तो नहीं कर सकता। कोई न कोई कभी तो करेगा ऐसा बहुत वर्षों से मेरे मन में है कि यह करने का काम है। क्योंकि उसके बिना हमें कोई ध्वनि का अन्दाज़ नहीं हो सकता। जो कुछ उन्होंने बताया है कि इस चीज़ से बनाओ, ऐसी घास से बनाओ, ऐसी मूंज की बनाओ, जो भी है, उसी मूंज को एक बार बना कर तो देखा जाय कि कैसा नाद निकलता है। उसकी शाब्दिक चर्चा से नाद की कोई प्रत्यभिज्ञा, कोई उसकी हमें पहचान नहीं हो सकती। यह काम अभी हमने बिल्कुल नहीं किया है जो एक बहुत ही अछूती दिशा है।

श्रीमती नेली ने, जो हॉलैंड से यहाँ पधारी हैं दस-पन्द्रह वर्षों तक इसमें मेहनत की है, अपने देश के संगीत में की है, लेकिन उससे हमें प्रेरणा मिल सकती है। समस्या तो सबके सामने एक सी ही है। इनको भी कुछ चित्र मिल गये पुराने, तो उन चित्रों को लेकर इन्होंने काम शुरु किया, क्योंकि ये स्वयं 'आर्किटॅक्ट' हैं, इसलिये इनको नाप-जोख का सब हिसाब बहुत मालूम है। चित्र में क्या नाप-जोख है, उसको वड़ा बनाने पर क्या होगा, इस अनुपात के साथ उन्होंने कुछ वाद्यों का पुनर्निर्माण किया है। तो उनको जो समस्याएँ सामने आई होंगी, हमारी भी समस्याएँ कुछ-कुछ वैसी ही होंगी। हमारे सामने थोड़ी सी समस्या और भी आयेगी। कई बार मैं सोचती हूँ, जब कभी मैं देखती हूँ मन्दिरों में मूर्तियों में किसी के कंधे पर वीणा रखी हुई है। अब उसमें कभी-कभी ऐसा लगता है कि मूर्ति बनाते समय इसको थोड़ा सा 'स्टाइलाइज़' कर दिया गया है। यानी लक्षणों के आधार पर देखने से कभी-कभी जरूर लगता है। बहुत से तो बिलकुल 'रियलिस्टिक' लगते हैं कि जैसे रहे होंगे, वैसे ही बनाए हैं। किसी में पकड़ने में, खड़े होने की भंगी में, जिस तरह से अच्छा लगा वैसा बना दिया है तो, वह जरूरी नहीं कि बिल्कुल उसी नाप-जोख से, उस अनुपात से ही रखा हो बाद्य को। यानी हर तरह से सावधान रहने की ज़रूरत है। एक दम से दौड़ कर हम किसी भी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। महाभारत में एक पात्र है न चिरकारी। तो इसमें चिरकारिता की आवश्यकता है।

जल्दी से हम निष्कर्ष पर कैसे पहुँचते हैं, मैं आपको बड़ा अच्छा उदाहरण दूं। ग्रन्थों में एक वीणा का नाम आता है एकतन्त्री। आज प्रचार में इकतारा शब्द हम सब जानते हैं जो कि एकतंत्री का नकद अनुवाद है। यानी शब्दों को यदि आप आमने-सामने रख दीजिये, तो कोई भी भाषाविद् कहेगा कि हां, जैसे संस्कृत में एकतन्त्री कहा जाता है, अगर 'इकतारा' है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तो जरूर उसके समकक्ष होगा। शब्द में तो समकक्ष है लेकिन दोनों वाद्य सर्वथा भिन्न हैं। क्योंकि इकतारा आज केवल 'ड्रोन' का वाद्य है, जिसमें आप एक स्वर बजाते रहें। एकतंत्री वैसा नहीं हैं, तार तो उसमें भी एक ही है, लेकिन उसको तो यह कहा है कि दबा कर आप इसमें से अनेक स्वर निकालेंगे वह तो वाद्य की सर्वथा भिन्न कोटि ही हो गई। यदि हम झपट कर निष्कर्ष लाना चाहें, तो तुरन्त कह देंगे कि जो एकतन्त्री है, वही एकतारा है। कोई भी शोध का विद्यार्थी बड़े आराम से यह लिख देगा कि आज जिसको हम एकतारा कहते हैं उसी को पुराने जमाने में एकतन्त्री कहते थे। भाषा से तो चल जायगा, लेकिन यदि किसी ने एकतन्त्री का लक्षण देखा होगा, तो यह नहीं चलेगा। कोई भी ऐसा निष्कर्ष निकालने से पहले इस बात की हमें जरूरत समझनी चाहिये कि जिस युग का यह शब्द है एकतन्त्री, उस युग में किसी ने एकतन्त्री पर कुछ कहा है क्या। यदि कहा है, तो देखें, यदि लगे कि नहीं कहा है, तो खोजें कहीं न कहीं जरूर कहा होगा। जरूरी नहीं कि लक्षणग्रंथ में ही कहा हो, और कहीं कह दिया हो। अभी तो हमने लक्षणग्रंथों को ही नहीं देखा, तो औरों की बात मैं क्या करूं। औरों को भी देखने की जरूरत है, काव्य हैं, नाटक हैं, नाटकों की टीकाएँ है, उनमें ऐसी-ऐसी बातें मिल जाएँगी, जो हमें लक्षणग्रंथों में नहीं मिलेंगी। यह तो इतना सब कुछ जुड़ा हुआ हैं कि सबसे पहले यह समझ लेने की वात है कि जितने अधिक स्रोतों का कोई उपयोग कर सकेगा, उतना अधिक तर्कसंगत काम होगा, युक्तिसंगत काम होगा। नहीं तो ऐसा ही काम होगा कि हम एकतन्त्री और एकतारा में समीकरण बैठा दें। और समीकरण हम लोग बड़ी आसानी से बैठा लेते हैं और बड़ा उसमें आनन्द आता है। बड़ी सुविधा है, तुरन्त हुआ और चटपट काम। तो चटपट तो कुछ नहीं कह सकते।

मेरा तो अपना यही अनुभव है कि आज से दस साल पहले यदि मैंने कोई वात कही थी, तो आज मुझे लगता हैं कि कितनी बचकानी बात मैंने कही थी, क्यों कह दिया था ऐसा, यह तो ठीक नहीं है। अभी मुझे अनुभव होता है ये बैठी हैं बहिन फ्रांस की, भारतीय नाम इनका नलिनी है, ये भी अपने कुछ अनुभव बताएँगी हमें। तो यह मुझे तो याद नहीं कि कब मैंने क्या लिखा। दस पन्द्रह साल पहले के लेख ये निकाल-निकाल कर मेरे पास लाती हैं और कहती हैं कि आज आप यह बता रही हैं मुझे, जबकि १५ साल पूर्व के आपके लेख में यह लिखा हुआ है। आज ही सुबह दिखा रही थीं। तो मैंने कहा कि "भई इतना समझ लो कि दस साल के बाद मैं कुछ आगे बढ़ गई हूँ। दस साल पहले मैंने जो लिखा था, आज मैं उस बिन्दु पर नहीं खड़ी हूँ इसलिये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मैं ऐसा कह रही हूँ। उस समय यह कहने की स्थिति में मैं नहीं थी। तब इतनी समझ मुझको नहीं आई थी।'' तो यह तो ठीक है कि जीवन भर आदमी को आगे बढ़ना है और यह भी ठीक है कि एक निश्चित समय में हमें शोध भी पूरा करना है। आजीवन उसको नहीं चलाना है 'डिगरी' के लिये यह भी ठीक है। मर्यादा तो कहीं लगानी पड़ेगी, सही बात है। लेकिन मर्यादा लगाने के साथ ही कम से कम इतना बोध तो हो कि जो कुछ हम कर रहे हैं; यह बहुत सीमित है। सीमित दायरे में कर रहे हैं, इससे बहुत अधिक करने की जरूरत है। इतना बोध यदि न हो और यह बोध यदि आ जाय कि जो कुछ करणीय था, हमने सब कर दिया यह समीकरण इस तरह से बैठा करकें, तो वह बहुत ही खतरनाक बात है। उस खतरे से भी विद्यार्थियों को बचाना हमारा काम है कि उनको यह बोध हम दें कि अगर पी-एँच्. डी के लिये काम तुमने कर भी लिया है, तो यह एक आरंभ है, यह एक ट्रेनिंग है कि आगे जीवन में आप कुछ कर सकें, यह अन्त नहीं है, आरम्भ मात्र है यह बोध भी बहुत आवश्यक है, उससे विनम्रता आती है, विनम्रता का मतलब कि जो काम अभी हमने किया है, वह अभी कुछ नहीं है, बहुत करना शेष है। जो होना चाहिये था, वो नहीं हुआ है और यह भीतर की विनम्रता है, हाथ जोड़ें चाहे न जोड़ें, उससे फ़र्क नहीं पड़ता, पैर छुएँ या न छुएँ, न ही छुएँ आज की स्थिति में तो क्योंकि पैर छूने से भी एक दम्भ सा आता है हमने पैर छू लिया, हम बहुत नम्र आदमी हैं। दम्भ के सारे चोले उतारने की अब जरूरत है, क्योंकि बहुत ज्यादा हम लोग ओढ़ चुके हैं। हम ओढ़े हैं, इसलिए विद्यार्थी भी ओढ़े हैं। हम सबको निरावरण होने की जरूरत है और इस सत्य की पहचान होने की जरूरत है कि हमारा समय, हमारे साधन बहुत सीमित हैं। हमारा विवेक अधिकाधिक जाग्रत हो। हममें यह बोध जागे कि कितने सीमित साधनों को लेकर हम काम कर रहे हैं। सीमित समय में क्योंकि इसको पूरा करना है, इसलिए इसमें यह भी नहीं हुआ है इसमें यह भी नहीं हुआ है यह बोध यदि हममें जाग जाए, तो बहुत बड़ा काम हो जायेगा।

एक और दिशा की समस्याओं की ओर मैं संकेत कल करूँगी, जब गेयरूपों के 'रीकन्स्ट्रक्शन' की बात करूँगी। उसमें कुछ उदाहरण देकर भी मैं बताऊँगी। उदाहरण के रूप में उसे प्रस्तुत करना चाहूँगी कि यह भी एक दिशा है शोध की कि लक्षण के आधार पर लक्ष्य का पुनर्निर्माण हो सकता है क्या, और यदि हो सकता है तो कितने अंश तक। उसमें कितनी अपूर्णता रहेगी इसका बोध कैसे हो सकता है, इसका मैं स्वयं उदाहरण प्रस्तुत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करूँगी कि मुझे उसका कितना बोध है कि जो कुछ मैंने किया है, वह कितना अपूर्ण है, कितना अधूरा है, अभी उसमें और कितना सोचने की आवश्यकता है, यह प्रस्तुत करूँगी।

तो, संगीत के साथ समस्याएँ बहुत हैं। सबसे बड़ी समस्या तो यह है कि संगीत का संस्थागत शिक्षण ही बहुत अधिक पुराना इस देश में नहीं है। जो शुरू हुआ, तो वह, जैसे त्रिपाठीजी ने कहा, पश्चिम की पद्धति में विकसित जो भी शिक्षा पद्धति है, उसी के अन्तर्गत विश्वविद्यालयों के विभागों के रूप में जब शुरू हुआ, तो उस समय हमारे पास कोई तैयारी इस बात की नहीं थी कि हम सचमुच विश्वविद्यालय-स्तर की शिक्षा के लिए उसमें व्यवस्था करते। तैयारी हमारे पास जो थी, गुरु-शिष्य परम्परा की अवश्य थी, वह बहुत अच्छी चीज़ है, लेकिन यहाँ तो वह चलता नहीं। यदि उस प्रकार की संस्थाएँ बनतीं, जो गुरु-शिष्य परम्परा के आधार पर ही काम करतीं, जैसे कि विष्णु दिगम्बरजी के समय में गान्धर्व महाविद्यालय या जैसे कि भातखंडे जी के समय में ग्वालियर या लखनऊ के विद्यालय थे, वह जो उनका उस समय प्रारम्भिक स्वरूप था, वह आज थोड़े ही है। वह स्वरूप न भातखंडेजी द्वारा स्थापित विद्यालयों का है और न विष्णु दिगंबरजी द्वारा स्थापित विद्यालयों का है। उस समय तो वह गुरु-शिष्य परम्परा के हिसाब से ही था। एक गुरु के साथ शिष्य लगे हुए थे। अब वह स्थिति भी नहीं है। यह भी नहीं है कि संस्था में तो सीखते हैं, घर में भी उनसे सीखते हैं। अब तो 'क्लासरूम' में जैसे अन्य विषयों का शिक्षण होता है, वैसे ही इसका भी होता है। तो इसमें जितना सा काम हो पाता है, वह कितना अधूरा, कितना अधकचरा है। सब समय हम उसके बारे में बात करते ही हैं। लेकिन अब हम उसी के आधार पर शोध की भी बात करते हैं क्योंकि विश्वविद्यालय में यह विषय आया है, तो शोध की बात हम जरूर करेंगे। हमारी जो पैसा देने वाली संस्थाएँ हैं, उनके पास तो एक ही मापदण्ड है, वे यह जानना चाहते हैं कि आपने क्या रिसर्च किया, आपने कितने शोध छात्र निकाले। आपने क्या शोध प्रबंध निकाले। इस पर से शिक्षक का भी मूल्यांकन होता है, इस पर से विभाग का भी मूल्यांकन होता है, तो यह मूल्यांकन की जो पद्धति है, इसमें फँस गये हैं आकर के हम और तैयारी हमने कुछ नहीं की है। यह कितनी विकट स्थिति है कि तैयारी हमारे पास इस बात के लिये भी नहीं थी कि हम क्लासरूम में संगीत चलाएँ, तो भी चल गया। अब उसमें फिर और यह आवश्यकता आ गई कि क्योंकि आपने क्लासरूम में संगीत चलाया है, तो आपको शोध भी करना है और कराना है। तो समस्याएँ तो इतनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विकट हैं कि सोचें तो जी घबराता है। लेकिन फिर भी कहीं से तो आरंभ करना होगा। आरंभ छोटा भी हो, बहुत अच्छा है। बड़ा आरंभ करें और फिर उसमें हम कुछ निष्पत्ति न कर सकें, तो वह बहुत मुश्किल है।

तो यह वाचिक परंपरा का सवाल जो त्रिपाठीजी ने उठाया, अब मैं उसको भी उठाती हूँ कि एक तो संगीत, जिसका कि क्षणभंगुर स्वरूप है, क्षण-क्षण विनाश को जो प्राप्त होता है और क्षण-क्षण नवीन भी होता है, वह नवीनता कहाँ से आती है ? एक प्रयोक्ता और दूसरे प्रयोक्ता में भी नवीन होता है, वही प्रयोक्ता आज एक राग को गाता है, तो आपको एक प्रकार का लगता है, दस दिन बाद दूसरे समुदाय के सामने, देश, काल, पात्र के परिवर्तन से, वह कुछ भिन्न हो जाता है। वह कौनसी चीज है, जो इस सारे के बावजूद, सारे परिवर्तनों, सारे संक्रमणों को लेकर भी फिर भी वही की वही बनी रहती है। उसकी प्रत्यभिज्ञा, पहचान कैसे बनी हुई है। इसको क्या कहा जाय, इसमें बड़ी फिसलन है, रपटन है। मीरा का वह पद है कि "ऊँची-नीची राह रपटीली म्हाँसूं चढ्यो न जाय।" यह बड़ी रपटीली राह है कि हमारे लिये किसी निष्कर्ष पर स्थिर होना बड़ा मुश्किल है। धरती पर अपने पाँव जमाएँ, इसके लिये बहुत ज्यादा तैयारी की जरूरत है। फिर भी कहीं न कहीं फिसलन, कहीं न कहीं रपटन, कहीं न कहीं अधूरापन लगेगा ही अपने को और लगने ही वाला है, क्योंकि यह विषय ही ऐसा है। पर यह बोध जाग्रत हो जाय कि इतनी रपटन है, यही बहुत है। मैं समझती हूँ कि रपटन में हम गिर जायें भले रपट कर, पर यह बोध तो हो कि हम गिर गये रपट कर। गिरें भी और हम समझें कि हम तो बड़ी ही ठोस धरती पर खड़े हैं, तो बड़ी मुश्किल बात है। पर उसी में हम जी रहे हैं आज तो। हम समझते हैं कि क्योंकि हमारे पास ये लक्षणग्रंथ हैं, तो इनके आधार पर हम खड़े हैं। उनके आधार पर भी खड़े तो नहीं हो सकते। वह भी एक आधार है, किन्तु बहुत थोड़ा है। एक पाँव पर कितनी देर खड़े रहेंगे ? यह लक्षण तो एक पाँव है। मैं कहती हूँ कि एक पाँव का भी चतुर्थांश है। संकेत में जिसको 'पाद' कहते हैं न चार पैरों में से एक, वह यह एक पाद है। बाकी तीन पाद तो बहुत गुप्त हैं वे दिखते नहीं हैं। यह दिखता एक ही है, वे तीन ऐसे हैं, जो खोज-खोज कर निकालने होंगे। और उनको स्थापित करना होगा। हरेक को अपने अपने लिए ही करना होगा। यह बड़ा मुश्किल काम है। मैं इसलिए नहीं कहती कि हम हतोत्साह हो जाएँ, इसलिये जरूर कहती हूँ कि मुश्किल का अहसास जितना होगा उतना ही हम कटिबद्ध होकर, प्रतिबद्ध होकर उस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुश्किल को जहाँ तक हो सके, हल करने में जुट जाएँगे। और आधा कदम भी आगे बढ़ सकें तो भी बहुत है।

अब यह ग्रंथ निकला है 'संगीत सूर्योदय।' इससे हम आधा कदम जरूर अपने किसी न किसी चिन्तन में आगे बढ़ सकेंगे। और यही इसकी उपलब्धि होगी। यह प्रकाशन तो एक चरण पूरा हो गया। अब इसका अध्ययन जब लोग करेंगे और इसमें से निष्कर्ष निकालेंगे तो वो इसका उपयोग होगा और जो निष्कर्ष निकालेंगे, उनको देखना होगा कि यह कल्लिनाथ से बहुत दूर नहीं है काल में और देश में तो है ही नहीं। कल्लिनाथ भी विजयनगर में ही थे और ये लक्ष्मीनारायण भी विजयनगर में ही थे। थोड़ा सा शायद पचास-साठ साल का काल में अन्तर है। पचास से अधिक नहीं है। मान लीजिए कि कल को कोई कहे कि संगीत सूर्योदय पर शोध करूँगा और वह कल्लिनाथ को न देखे, वह संगीत रत्नाकर को न देखे, संगीतरत्नाकर के बाद फिर भरत को न देखे तो क्या करे खाली इसको देख कर? यही आजकल होता है। यानी किसी भी चीज को आप बिल्कुल अलग-अलग करके देखेंगे, तो उसमें क्या दिखाई देगा? वह तो त्रिपाठीजी ने भी बहुत कुछ कर दिया है कि संगीत रत्नाकर में इस-इस जगह यह मिलेगा और भी कहीं कोई छूट गया हो, तो वह कर ले सकता है, पर उससे क्या होता है, यह तो कोई शोध नहीं है। एक 'मैकेनिकल' (यान्त्रिक) काम हो जाएगा, ठीक है। अभी तो हम उसके करने की पात्रता भी नहीं रखते हैं। वो भी नहीं कर पाते हैं। लेकिन मान लीजिए कर भी लें, तो भी वो क्या है? यह क्यों है? यह परिवर्तन क्या द्योतित करता है? यह प्रयोग की किस धारा की ओर हमें ले जाता है? प्रयोग में क्या चल रहा होगा उस समय? संक्रमण के कौन से काल में से गुजर रहे थे हम, क्यों गुजर रहे थे? सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थिति क्या थी, साहित्य में क्या था, चित्र में क्या था, जितना ज्यादा मालूम होगा, उतना किसी भी ग्रन्थ का हम मूल्यांकन कर सकेंगे।

तो मैं फिर से दोहरा दूँ और समाप्त कर दूँ। अभी पहली बात मैंने कही थी कि जो भी हमारे शोध के स्रोत होंगे, उनकी भाषा का ज्ञान हमें होना चाहिए यानी 'फ़र्स्ट हैण्ड' हम उनको देख सकें, 'सेकिण्ड हैण्ड' न देखें, पहली बात। दूसरे, यह विवेक कि किस स्रोत को, किस प्रमाण को हम कितना महत्त्व देंगे, कितना वजन देंगे। किंवदन्तियाँ हैं, मान लीजिए कि वह एक प्रमाण है, पर वह प्रमाण कैसा है? उसे क्या हम किसी शिलालेख के साथ एक कर सकते हैं? मान लीजिये कोई यह कहे कि यह शिलालेख हमें मिला है, उसमें ऐसा-ऐसा है और उसी के संबंध में कहीं कोई किंवदन्ती भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रचलित है लोक में या कोई लोकगाथा है, कोई लोककथा है, दोनों के वजन को तोलना होगा। यह नहीं मैं कहती कि वह किंवदन्ती बेकार है। बेकार नहीं है, किन्तु फिर भी दोनों की तुलना तो करनी होगी न ? यदि दोनों ही एक बात कहते हैं, तो ठीक है, दोनों को एक-दूसरे से पुष्टि मिलती है। लेकिन किंवदन्ती और सब बातों से कट कर अपने आप में पूरा-पूरा प्रमाण नहीं बन सकती। तो हम किसको कितना महत्त्व देंगे, यह विवेक जाग्रत होना चाहिए, दूसरी बात। तीसरी बात, कि ईमानदारी जाग्रत होनी चाहिए कि क्या स्रोत हमने स्वयं देखा है। जो स्वयं नहीं देखा है, वह हम बताएँ कि हमने स्वयं नहीं देखा है, हम दूसरे के प्रयत्न से कह रहे हैं। वह उसी बात में आ जाती है वैसे तो कि हम 'प्राइमरी', 'सैकिण्डरी' और 'टर्शियरी' (प्रथम, द्वितीय, तृतीय स्थान) में अन्तर समझते हैं या नहीं। और फिर समस्याओं का, कठिनाइयों का बोध, ये चौथी बात मैंने कही। यह बोध बहुत ही काम का है। यह हतोत्साहित करने के लिये नहीं है, बल्कि उत्साह को शतगुणित करके काम में लगने के लिये है और काम से, जो भी हमने किया हो, उससे कभी भी पूरा सन्तोष न करने से ही व्यक्ति आगे बढ़ सकता है। अगर उसमें सन्तोष कर ले, तो कभी भी आगे नहीं बढ़ सकता। तो, अपनी मर्यादाओं को, काल की देश की मर्यादाओं को स्वीकार करते हुए मर्यादा के भीतर भी जो काम हम सम्पन्न करें, वह कितना अपूर्ण है, या कितनी अभी उसमें आगे चलने की गुंजाइश है इसको समझ कर अगर करें, तो यह बड़ा शुभ लक्षण है, यह बहुत मंगलसूचक बात है। ऐसा मंगल का क्षण हम सबके जीवन में उदित हो, यही मैं आज की इस गोष्ठी के शुभारंभ में शुभकामना करती हूँ। धन्यवाद।

□

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्तरवलम्बन का क्षेत्र और शोधकार्य —कुछ विचारबिन्दु

☐ डॉ० रमाकान्त श्रीवास्तव

मैं ग्रापके सामने एक छोटे से कामचलाऊ नोट के साथ उपस्थित हूँ जिसका शीर्षक बता दिया गया है—'ग्रन्तरवलम्बन का क्षेत्र ग्रौर शोधकार्य—कुछ विचारविन्दु'। 'कुछ विचारबिन्दु' इसलिए है, क्योंकि जब डॉ० सुभद्राजी ने मुझसे यह ग्राग्रह किया था कि इस परिसंवाद में दूसरे विषयों से जुड़े हुए लोग भी ग्रपनी बातें रखें, तब मेरे सामने यह प्रश्न था कि संगीत के शोधकार्य से सीधे-सीधे जुड़े हुए परिसंवाद में मेरे बोलने की भूमिका क्या हो सकती है या ग्रौचित्य क्या हो सकता है। डॉ० चौधरी ने मुझसे यह कहा कि ग्रन्तर-वलम्बन से सम्बन्धित कुछ बातें भी होनी चाहिएँ ग्रौर मुझे लगा कि वाकई शायद इस विषय पर कुछ बोलते हुए मुझे यह गौरव हासिल हो सकता है कि संगीत से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण सेमिनार में मैंने भी कुछ बातें विद्वानों के सामने रखीं। मैं ग्रापको यह बताना चाहता हूँ कि इसमें जो भी विचार मेरे मस्तिष्क में ग्राए वे इस रूप में ही ग्राए हैं कि यदि ग्रन्तरवलम्बन से सम्बन्धित शोधकार्य होता है, तो उस पर पूरे परिदृश्य को देखते हुए मैं उसी कोण को पकड़ सकता हूँ जिस क्षेत्र में मैं हूँ या जिस भूमि पर मैं खड़ा हुग्रा हूँ। उसके दूसरे भी कोण हो सकते हैं। दूसरे क्षेत्र में खड़े हुए लोगों के ही बूते की बात होगी कि उन कोणों को वो पकड़ सकें। मैं ग्रापके सामने मूलतः वे बातें रख रहा हूँ जो ग्रपने क्षेत्र में काम करते हुए मैंने महसूस कीं कि यदि ग्रन्तरवलम्बन पर कार्य होता है तो समस्याएँ क्या हैं, स्थितियाँ क्या हैं, ग्रौर कुछ उदाहरण के तौर पर दो चार विषय मैंने इसमें सुझाए हैं, वे केवल इसलिए कि ग्रन्तरवलम्बन कह देने से मेरी कल्पना क्या होती है, मैं किसे ग्रन्तरवलम्बन मानता हूँ। तो ग्रौर बातें न कह कर मैं ग्रपने छोटे से नोट को पढ़ रहा हूँ।

पिछले दशक से ही साहित्य तथा ग्रन्य ललित कलाग्रों में अंतरवलम्बन पर गम्भीर चर्चा जारी है। विभिन्न विधाग्रों के सृजनात्मक ग्रनुभवों को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निकट लाने का सार्थक प्रयास तो हुआ ही, साहित्य के अन्य माध्यमों से गहरे सम्बन्ध पर विचार भी हुआ। बातचीत अभी भी चल रही है और नये आयामों का उद्घाटन भी हो रहा है। आमतौर पर यह चर्चा पहले रचनाकारों-समीक्षकों के बीच हुई। विश्वविद्यालयों के शोध के दायरे में उसका प्रवेश बाद में हुआ। ऐसी बात नहीं कि पहले कभी इस तरह का काम होता ही नहीं था किन्तु यह अपेक्षाकृत नई प्रवृत्ति और कोशिश है। यह कोशिश प्रशंसनीय तो है पर इसे कहते हुए संकोच नहीं होना चाहिए कि वह स्थूलता और सरलीकरण की शिकार हुई है।

संगीत हो, साहित्य हो या कलाओं का अंतरवलम्बन हो शोध के क्षेत्र में स्थितियाँ कमोबेश वही हैं और समस्याओं में भी समानता है। विश्व-विद्यालयीन ढांचे की परम्परावादी जड़ता, लेन-देन की प्रवृत्ति, अति व्यवहार-वादी नज़रिया, शोध-उपाधि का नौकरी और तरक्की से सीधा सम्बन्धित होना जैसी कुछ बातें इतनी उजागर हैं कि समस्याओं के मूल में इनके होने के उपरान्त इन पर चर्चा करना शायद अप्रासंगिक लग सकता है इसलिए मैं अपने परचे के शीर्षक को दृष्टि में रख कर कुछ विचार बिन्दु ही सामने रख रहा हूँ।

अंतरवलम्बन को शोध का आधार बनाने का समर्थन अवश्य किया जाता है और उसे प्रोत्साहित करने की इच्छा भी व्यक्त की जाती है किन्तु उसके प्रति सम्मानजनक भाव रखने का अभ्यास अभी तक पैदा नहीं हुआ है। यदि साहित्य और संगीत के अंतरवलम्बन पर काम हो तो दोनों ही क्षेत्र में शोधकर्ता को दूसरे दर्जे के नागरिक जैसा व्यवहार मिलता है। इसे आप चाहें तो समस्या न कह कर स्थिति का विश्लेषण कहें पर विभिन्न विषयों के यांत्रिक चौखट में न समा पाना शोधकर्ता के लिये कभी अपराध और कभी समस्या हो जाता है।

शोध कार्य की आंधी और शोध के स्थान पर संकलन की प्रवृत्ति से स्तर का ह्रास हुआ है। विश्वविद्यालयों के सूची पंडित और शोध-शीर्षक विशेषज्ञ अपने सर्विस कॅरियर के लिये शोधकर्त्ताओं का समूह एकत्र करते हैं। परिणाम बहुत स्पष्ट हैं। कई बार स्थिति यह होती है कि जिस विषय पर शोधकर्ता शोध करता है और अध्यापक शोध करवाता है उसकी कोई कल्पना उसके मस्तिष्क में नहीं होती। जब दो या अधिक विधाओं को साथ लेकर शोध कार्य होता है तब शोधकर्ता और निर्देशक की क्षमता को परखने की आवश्यकता है। कहा जा सकता है कि यह आवश्यकता तो किसी भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय के लिये है, किन्तु मेरी दृष्टि में अंतरवलम्बन का अध्ययन कुछ विशेष क्षमताओं की माँग करता है। दो निर्देशकों का सहारा लेना भी उसका विकल्प नहीं है। सृजनात्मक अनुभव और अन्य विधाओं से परिचय ही इस कार्य को साध सकता है।

इससे जुड़ी हुई बात यह है कि रीतिकालीन युग की तरह विश्व-विद्यालयों का वातावरण आचार्यत्व के प्रदर्शन से ग्रस्त है। यह एक त्रासद स्थिति है कि रचनाशीलता विश्वविद्यालयों में विशेष महत्त्व नहीं रखती। यदि स्पष्ट कहा जाय तो सृजनधर्मिता की अपेक्षा दोयम दर्जे का आचार्यत्व इस वातावरण में अधिक मान पाता है। आचार्यत्व और कवित्त्व के द्वन्द्व के नये संस्करण आसानी से देखे जा सकते हैं। ललित कलाओं में तो स्थिति यह बनी हुई है कि प्रयोगधर्मी कलाकारों और शिक्षकों को शास्त्र से बैर है और दूसरी ओर शास्त्रज्ञों की सृजनधर्मिता पर कलाकार प्रश्नचिह्न लगाते हैं। यह स्थिति सृजनात्मक अनुभवों के क्षेत्र के शोधकर्ता को दुविधा में डालती है।

अन्तरवलम्बन से संबंधित कार्य में बहुत बार शोधकर्ता को दो निर्देशकों की आवश्यकता होती है। कभी-कभी शोधकर्ता को यह सुझाया भी जाता है कि उसे दो विधाओं से संबंधित निर्देशक लेने चाहिएँ। यदि निर्देशकों की दृष्टि में अन्तर हो तो शोधकर्ता को गंभीर स्थिति का सामना करना पड़ सकता है। विभिन्न विचारधाराओं के निर्देशक शोध की समग्र दृष्टि को खंडित कर सकते हैं। ललित कलाओं का अध्ययन केवल तकनीकी विश्लेषण से संभव नहीं है क्योंकि उनका संबंध दार्शनिक अवधारणाओं और सामाजिक स्थापनाओं से है। शोधकर्ता की जानकारी हमेशा इतनी नहीं होती कि वह समस्या के इस रूप को समझ सके। अक्सर यह सोच लिया जाता है कि साहित्य संबंधी बातें साहित्य के अध्यापक-निर्देशक से और संगीत संबंधी बातें संगीत के अध्यापक-निर्देशक से पूछ लेने से बात बन जायेगी।

शोध कार्य में सरलीकरण और 'शॉर्टकट' सभी विषयों की ऐसी समस्या है जिसके लिये मूलतः शिक्षक वर्ग जिम्मेदार हैं। अन्तरवलम्बन संबंधी कार्य प्रारंभ होते ही सरल से सरल विषयों की तलाश प्रारंभ हो गई। विश्व-विद्यालयों की शोध समितियाँ इस संबंध में जागरूक और कठोर नहीं हो पाई हैं। मात्र 'डॉक्युमेन्टेशन' के कार्य को शोध कार्य नहीं माना जाना चाहिए। किसी कवि की रचनाओं में संगीत या ललित कलाओं से संबंधित शब्दावली गिनाने जैसा काम इतना प्रारंभिक है कि उससे ज्ञान के प्रसार में कोई सहायता नहीं मिलती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुछ विषयों की ओर केवल उदाहरण के रूप में संकेत करना उचित मानता हूँ। समकालीन कविता में शमशेर बहादुर सिंह की कविता ऐसे उदाहरण के रूप में सामने रखी जा सकती है जिसमें रंग और स्वर के केवल प्रभाव ही नहीं हैं उसके बिंब भी हैं। शमशेर का चित्रकार मन उनकी कविता को गहरे से प्रभावित करता है। अशोक वाजपेयी की कविता में भी कलाओं के आस्वाद के अनुभव शब्दबद्ध हुए हैं। ये नाम मैंने केवल उदाहरण के रूप में लिये हैं। तथ्य यह है कि समकालीन कविता के कई संवेदनशील कवियों की रचनाओं पर कलागत अनुभवों का गहरा प्रभाव है जिसका अध्ययन होना चाहिए।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के चित्रों को उनका कवित्त्व कहाँ और किस तरह प्रभावित करता है और इसी तरह उनकी कविता उनके चित्रकार से कहाँ प्रभावित हो रही है इसकी पड़ताल दिलचस्प हो सकती है। रामकुमार जैसे रचनाकार के रचनासंसार की संरचना निश्चय ही दूसरों से कुछ भिन्न होगी। वास्तु और शिल्प के स्तर पर उन विशेषताओं को रेखांकित करना भी अच्छा काम हो सकता है।

संगीतज्ञ कवियों की रचनाओं पर भी शोधकार्य हो सकता है। हिन्दुस्तानी संगीत में प्रचलित सैकड़ों रचनाओं की प्रकृति और उनके माध्यम से सांस्कृतिक स्थितियों की खोज करना महत्त्वपूर्ण होगा। संगीतज्ञ कवियों की रचनाओं के कुछ संग्रह ही प्रकाशित हुए हैं पर बहुत कुछ अप्रकाशित ही हैं। हमारे समाज, इतिहास और विभिन्न युगों में कला के मूल चरित्र और झुकाव पर इनके अध्ययन के माध्यम से अच्छा प्रकाश पड़ सकता है।

नृत्य में प्रयुक्त होने वाली रचनाओं का मूल्यांकन भी शोध का आधार हो सकता है। कई प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं को आधार बनाकर नृत्य प्रस्तुत किये जाते हैं। भक्तिकाल की कविताओं में नृत्य बिंबों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। हिन्दी की रीतिकालीन कविताओं में तो मुद्राओं और भंगिमाओं की प्रचुरता है। मध्ययुग की बहुत सी रचनाएँ ऐसी हो सकती हैं जो उन्हें दृष्टि में रखकर रची गई हों। कविता की रचना यदि इस दृष्टि से होती है तो उसकी भावधारा और शिल्प पर उसका प्रभाव अवश्य होगा। इस वर्ग की कविताओं में और अन्य कविताओं में अन्तर होगा।

इसके साथ ही उन कविताओं का वर्ग भी बनता है जो नर्तक कवियों के द्वारा रची गई हैं। इन कविताओं की बहुत बड़ी संख्या है। ये रचनायें कभी-कभी दीर्घजीवी होती हैं और कभी अल्पजीवी भी। ये कविताएँ लय-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ताल की अनुगामिनी हैं और अभिनय तत्त्व इनके केन्द्र में है। यह अपने तरह का रसायन है जो उन्हें विशिष्ट रूप देता है। जाने-अनजाने कलाकारों; कलागुरुओं के मुख में या उनकी कॉपियों-डायरियों में ये निवास कर रही हैं। इनमें से वहुत सी साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि की हैं। भक्ति और शृंगार के मेल से इन्होंने रूप धारण किया है। अनजाने और अप्रकाशित रचनाकारों के साहित्य पर शोधकार्य हो रहा है पर मैं नहीं जानता कि नृत्य और संगीत विधा में प्रचलित रचनाओं पर कितना काम हुआ है। यह मेहनत और धैर्य का काम हो सकता है पर वदलती हुई जीवन स्थितियों में इनका संकलन, प्रकाशन, अध्ययन-विश्लेषण आवश्यक प्रतीत होता है।

यही सूत्र लोक संस्कृति पर लागू होता है। हमारी अत्यन्त समृद्ध लोक संगीत की परम्परा में अत्यन्त सार्थक, मनोहारी, अर्थ-विचार सम्पन्न रचनाएँ विद्यमान हैं। मौखिक परम्परा में ये रचनाएँ पीढ़ी दर पीढ़ी चल रही हैं, परिवर्तित परिवर्धित हो रही हैं। इन पर ऊपरी ढंग से शोध करना अलग वात है पर इनसे गहरा लगाव रख कर और इसे शैक्षणिक ज़िम्मेदारी मान कर काम करने की गुंजाइश अभी भी है। जो प्रबंध रचनाएँ प्रचलित हैं उनमें विशाल लोक महाकाव्य भी हैं जिनका पूर्ण संकलन, अनुवाद, विश्लेपण हो सकता है। लोकनाट्य-परम्परा की विषयवस्तु पर शोध हो सकता है। प्रचलित 'नाचा' सड़कों पर प्रस्तुत हो रहे हैं और नागर मंचों पर भी। किन्तु उनकी 'स्क्रिप्ट' के प्रकाशन में रुचि लेना और बाकायदा उन पर उसी तरह शोध करना ज़रूरी है जिस तरह हम हिन्दी या मराठी नाटकों के विभिन्न पहलुओं पर शोध करते हैं।

हमारे सामने एक विस्तृत कर्मक्षेत्र है जहाँ सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और दिलचस्प तथ्य हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। शैक्षणिक वातावरण की जड़ता को तोड़कर उन तक पहुँचना है। मैं पुनः रेखांकित करूंगा कि आचार्यत्व और कवित्व युद्धमुद्रा में हैं यह चिन्ता का विषय है और इनमें मैत्री भाव किस तरह पैदा हो यह चिन्तन का विषय है।०

चर्चा

डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी की टिप्पणी

डॉ० श्रीवास्तव ने अपने इस शोधपत्र में जिस पक्ष की ओर ध्यान दिलाया है, प्रातः काल उसकी चर्चा करते हुए मैंने भी कोशिश की थी कि शोध के इस पक्ष की ओर आपका ध्यान जाय। अन्तरवलम्बन और आत्त-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रानुशासनिकता—'मल्टीडिसिप्लिनरी एॅप्रोच' और 'मल्टीडिसिप्लिनरी डिपेण्डेन्स' या 'इन्टरडिपेण्डेन्स' नए शब्द हैं और कब से ये हमारे शोधकार्य में आए हैं, इन दो शब्दों का प्रयोग शुरु हुआ है, यह भी एक ग़ौर-तलब बात है। मैंने आपसे सुबह निवेदन किया था कि पश्चिम में जब से ये अनुभव हुआ है, आइन्स्टीन की विचार-परम्परा के बाद, 'न्यूटोनियन व्यू ऑफ़ लाइफ़' और देकार्त के दर्शन से उपजा हुआ चिन्तन और उससे विकसित शैली शोध के लिए, गंभीर अनुसन्धान के लिए और चिन्तन के लिए नाकाफ़ी है तो इसका उत्तर उनके पास आन्तरानुशासनिकता के द्वारा दिखाई पड़ा। कहीं पर खण्ड-खण्ड में जो चिन्तन की शैली है, वो खण्ड में होने पर बहुत गहराई में जाने की और दूसरे शब्दों में अत्यन्त विशेषीकृत अनुसन्धान की शैली है और पिछले तीन सौ, ढाई सौ वर्षों में वो गहरे से गहरे, विशेष से विशेष और अत्यन्त विशेषीकृत ज्ञान की ओर जाने की जो बात बढ़ती ही चली गई, उससे अनुशासनों में एक अलगाव पैदा हुआ और एक आदमी सहज रूप से हम देखते हैं कि, एक जो विशेषज्ञ है, हड्डी का विशेषज्ञ है, अगर कोई ज्वर का आदमी पहुँच जाय, तो वह चिकित्सक यह कह देगा कि यह मेरे बस की बात नहीं है, आप जाइये। एक सिरदर्द से पीड़ित आदमी अगर एक दाँत के विशेषज्ञ के पास पहुँच जाय, तो वह कहेगा कि यह मेरा विषय नहीं है, आप जाइये किसी दूसरे को दिखाइये। यह जो अत्यन्त सहज आन्तरिक सम्बन्ध है, जब यह भी खण्डित हो गया, तब वहाँ यह बोध हुआ कि नहीं-नहीं यह तो ज्ञान को बहुत-बहुत खण्ड में कर देने की बात है और आन्तरानुशासनिकता की इस धारणा का वहाँ पर विकास हो रहा है और उस खण्डित-ज्ञान को फिर से जोड़ने के लिए आन्तरानुशासनिकता की बात उठाई जा रही है। अब ज़ाहिर है कि वह पूरब में भी आनी चाहिए, हिन्दुस्तान में भी आनी चाहिए। लेकिन उसका जो सरलीकरण और उससे जो विरूपण पैदा हुआ है, डॉ० श्रीवास्तव ने बड़े मनोरंजक तरीक़े से उधर की ओर संकेत कर दिया है। महज़ दो निर्देशकों को अगर बना दिया जाय, तो आन्तरानुशासनिकता का सम्बन्ध पैदा हो जायेगा, आन्तरानुशासनिक शोध हो जायेगा, ज्ञान की आन्तरानुशासनिक दृष्टि पैदा हो जायेगी, ऐसा सरलीकरण तो केवल हमारे विश्वविद्यालयों में ही दिखाई पड़ सकता है, जबकि हमारी अवधारणा ही मूलत: यह है 'तद्धि शास्त्रं शास्त्रान्तरानुबन्धम्'। दण्डी के यहाँ एक स्थल पर, एक प्रसंग में यह बात आती है कि कैसे नाना विद्याओं का, नाना कलाओं का ज्ञान एक व्यक्ति अर्जित करता है और वहाँ दण्डी कथा के प्रसंग में कहते हैं 'तद्धि शास्त्रं शास्त्रान्तरानुबन्धम्'। एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शास्त्र दूसरे शास्त्र से भीतर से अनुस्यूत ही होता है और इसलिए वहाँ पर 'एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति'। आन्तरानुशासनिकता का यह अर्थ नहीं है कि नितान्त विशेषीकृत ज्ञान से हम विदा लें, उसको नमस्कार कर दें। बल्कि एक का अत्यन्त गंभीर, अत्यन्त विशेषीकृत ज्ञान और अन्य का साधारण ज्ञान—यह आन्तरानुशासनिकता का अर्थ होता है। एक बार मैंने अपने गुरुवर से, बहुत बड़े विद्वान् प्रयाग विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफ़ेसर आचार्य क्षेत्रीशचन्द्र चट्टोपाध्याय से ये पूछा, "गुरुजी आप कम से कम दस भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित हैं, लेटिन, ग्रीक, पर्शियन, 'ओल्ड' पर्शियन, पहलवी, जर्मन, फ़्रेंच और अंग्रेज़ी का तो कहना ही क्या है। भारतीय भाषाओं में पंजाबी, बँगला, बँगला मातृभाषा है ही, उर्दू, हिन्दी, सब आती हैं। नाना शास्त्रों के आप पण्डित हैं, आप दर्शन के भी विद्वान् हैं और वेद के तो पारद्रष्टा पण्डित हैं, भारतीय इतिहास और संस्कृति के विश्लेषण की आपकी रखी हुई आधार शिला पर लोग काम करते हैं, आप कितने शास्त्रों के विद्वान् हैं ?" वे हँसे और उन्होंने कहा कि "जॅक ऑफ़ ऑल ऐंण्ड........" तो मैंने एकदम कलेजा पकड़ लिया कि क्या कहने वाले हैं। उन्होंने कहा कि "आइ ऐम जॅक ऑफ़ ऑल ऐंण्ड मास्टर ऑफ़ वन"। ये 'मास्टर ऑफ़ वन' और 'जॅक ऑफ़ ऑल' से जैसे उन्होंने एक सूत्र सा दे दिया।

दूसरी एक और भी, पारम्परिक विद्या की तरफ़ मैं आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ, जो बात शुरू की गयी है। महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री सी० आई० ई०, इस शताब्दी के आरम्भ में और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में बहुत बड़े संस्कृत के विद्वान् काशी के रहे हैं, साहित्यशास्त्र के अन्तिम विद्वानों में उनका नाम लिया जाता है। प्रोफ़ेसर वेनिस उस समय संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल होकर आ गए थे। प्रोफ़ेसर वेनिस के साथ महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्रीजी काशी से प्रयाग आ रहे थे ट्रेन में, तो बातचीत शुरू हुई। वेनिस अभी नए-नए आए थे और उन्होंने कहा कि "पण्डितजी आपके बारे में मैंने सुना है कि आप बहुत बड़े विद्वान् हैं। तो आप बताएँ कि आप कितने शास्त्रों के विद्वान् हैं ?" तो शास्त्रीजी हँसे। उन्होंने कहा "क्या कोई कितने भी शास्त्रों का विद्वान् होता है ? कितने ही शास्त्रों का पण्डित होता है ? मैं तो कितने शास्त्रों का...." वे संकुचित हो गए. उन्होंने कहा कि "अच्छा-अच्छा मैं किस शास्त्र का विद्वान् हूँ ? किस-किस शास्त्र का विद्वान् होना भी क्या कोई आसान बात है ? मैं तो महज एक ग्रंथ का विद्वान् हूँ। मैं तो केवल काव्य-शास्त्र का, काव्य-शास्त्र में भी केवल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मम्मट के क़ाव्यप्रकाश का पंण्डित हूँ। और तन्मुखेन फिर अनुश्रुत्या मैंने निखिल वेद को पढ़ा है, समस्त वेदान्त को पढ़ा है, सारे वेदाङ्गों को पढ़ा है, समस्त भारतीय दर्शन को पढ़ा है, व्याकरण को पढ़ा है, सब कुछ पढ़ा है, मैंने एक ग्रन्थ को पढ़ने के लिए ये सब कुछ पढ़ा है।" मैं समझता हूँ कि मैंने अपनी बात आपसे कह दी कि आन्तरानुशासनिकता का जो अर्थ है वह इतने यांत्रिक और इतने सरलीकृत तरीक़े से नहीं ग्रहण होता, जैसा कि अब समझा जा रहा है कि दो विशेषज्ञों को हम साथ ले लें, उनके पास चले जायें और उससे आन्तरानुशासनिक सम्बन्ध निकल आता है, बल्कि इसके विरोध में नाना शास्त्रों के भीतर अनुस्यूत उस एकता का, ज्ञान के उस ऐक्य का दर्शन करना, ज्ञान का दर्शन करना—ये आन्तरानुशासनिक अध्ययन का और शोध का एक क्षेत्र हो सकता है। मेरा यह मानना है और जैसा कि हमारे भाई डॉ० श्रीवास्तव ने उधर संकेत किया कि भारतीय साहित्य, भारतीय कलाओं के इस आन्तरिक सम्बन्ध का दर्शन करने के लिए अब तो ये बात पूरी समझ में आ गई है कि बिलकुल 'सॅक्लूडेड' (खण्डित) तरीक़े से, अलग-अलग स्थानों को लेकर, अलग-अलग प्रखण्डों को लेकर ज्ञान का उतना गहरा परिचय हमसे नहीं हो सकता। इसलिए एक बात, जो सहमति की बात मैं कहना चाहता था, पुरज़ोर देकर, कि मैं बिलकुल सहमत हूँ डॉ० श्रीवास्तव से।

दूसरी बात, जो आपने उठाई वो है लोक संस्कृति और लोक संस्कृति के चलते जो परिनिष्ठित कलाएँ हैं, उनके साथ अन्तःसम्बन्ध का जो सूत्र आपने यहाँ उठाया है—बातें बहुत सारी हैं जिन पर चर्चा को बढ़ाया जा सकता है। उसमें कई इतनी मान्य बातें है कि उनसे असहमत होने का प्रश्न ही नहीं है। केवल उसको आगे सोचने के लिए और आगे बात बढ़ाने के लिए कहा जा सकता है, और वह यह है कि लोकसंगीत के साथ, लोकसाहित्य के साथ, लोककलाओं के साथ, जिन्हें हम परिनिष्ठित कला कह लें, परिष्कृत साहित्य कह लें, परिष्कृत या अभिजात, जो भी शब्द आप कहना चाहें कह लें, उसके साथ सम्बन्ध का आधार क्या बनेगा ? कैसे वो बनेगा ? जहाँ तक पिछले ज्ञान का सम्बन्ध है, भारतीय ज्ञान का सम्बन्ध है, उसने तो अपना आन्तरिक सम्बन्ध तय कर लिया। लोक और शास्त्र के साथ जो पारस्परिक सम्बन्ध है, उसमें वहाँ पर कोई दिक़्क़त नहीं थी। जो अत्यन्त परिष्कृत ज्ञान है, वह लोक में आता है, जो लोक है वह शास्त्र बनता है। शास्त्र और लोक के बीच का यह संवाद एक सतत प्रक्रिया है और इस एकता को देखते हुए लोक अपने में प्रतिष्ठित है, शास्त्र अपनी जगह पर है। यहाँ तक ये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सब बातें प्रतिबिम्बित होती हैं विधान में और विधान में इसका प्रतिबिम्बन तब हुआ, जब मनु जैसे धर्मशास्त्रकार ने यह संकेत किया कि जो धर्मशास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित आचार हैं, नियम हैं, विधान हैं, उनका और जो लोक के जन में स्वीकृत विधान हैं, आचार हैं, धर्म हैं, उनका क्या सम्बन्ध होगा ? और तब मनु ने स्पष्ट संकेत किया, स्पष्ट निर्देश किया कि वह जो लोक में प्रचलित विश्वास है, विधान है, नियम है, क़ानून है, विधि है उसका पूरी तरह से संरक्षण करते हुए उसे समृद्ध करना चाहिए। लोक और धर्मशास्त्र को एक दूसरे के आलोक में देखना चाहिए। दरअसल समाज किस तरह से एक पूर्णता में किसी चीज़ को देखता है, मनु के यहाँ यह बात थी। आज हम कैसे देखना चाहते हैं ? क्या सारे के सारे इस प्रकार के साहित्य को लिखित रूप में रूपान्तरित कर देना और उस पर विश्वविद्यालय में शोध हो जाना, इससे उस साहित्य के साथ हमारे ज्ञान का आन्तरिक सम्बन्ध बन जायगा ? क्या यही दिशा होगी ? क्या हम इस बात को स्वीकार करते चलते हैं कि जो एक पारस्परिक द्वन्द्व लोक संस्कृति के साथ नागर संस्कृति का, शहरी संस्कृति का बन रहा है, उसमें शहरी संस्कृति के लिए इस सम्पूर्ण लोक संस्कृति का उपयोग हो जायगा और 'कोडिफ़िकेशन' द्वारा और उसको लिखित रूप में रूपान्तरित कर देने के बाद फिर वह समाप्त होने वाली है ? और हम यह मान कर चल रहे हैं कि उसकी जीवन्तता और उसकी भूमिका समाप्त हो गई है, इसलिए जल्दी से जल्दी अब उसको जानने के लिए रिकार्ड कर लेना चाहिए ? और क्या रिकार्ड कर लेने मात्र से हमारे शोध का उद्देश्य पूरा हो जाता है ? एक और भी बात हो रही है। इस सम्पूर्ण संस्कृति को, जहाँ यह जीवित है, जिस भूमि में, जिस जीवन में यह प्रतिष्ठित है, वहाँ से उठाकर कहीं एक केन्द्र में और बहुत करके नागरिक केन्द्र में ले जाकर स्थापित कर देने से क्या वह बच जायेगी ? और क्या ज्ञान के प्रति जो वास्तविक मांग है वह इससे पूरी हो पायेगी ? शोध की जब चर्चा यहाँ हो रही है, जब 'डॉक्युमेन्टेशन' किया जाय क्योंकि अब हमारे पास सुविधा है, रिकार्ड किया जाय, इससे विमति नहीं हो सकती। लेकिन वास्तविक सम्बन्ध क्या होगा ? वास्तविक सम्बन्ध यह है कि जीवन की जो एक स्पन्दित होती हुई संस्कृति, जीवन का जो अंग है, उसके वहीं पर सुरक्षित रहते हुए हमारे ज्ञान के साथ उसका तादात्म्य हो और यह जो शहरी मध्य वर्ग का ज्ञान है, यह सारी चिन्ता शहरी मध्य वर्ग की है, शहरी मध्य वर्ग में जिस ज्ञान को पूंजीवादी अर्थतन्त्र आने के बाद, नगरों में जो शहरी मध्य वर्ग विकसित हुआ, यह सारी समस्या दो सौ वर्षों से उसकी समस्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है कि कैसे उसके लिए यह ज्ञान सुलभ हो। वह यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि यह ज्ञान जहाँ पर हो, उनके लिए उपयोगी हैं और आपके साथ उसका सम्बन्ध कैसे बने, इसको आप सोचिए। परम्परा से विच्छिन्न वह हुआ है। वे कलाकार जो उस सारी की सारी विधा को लेकर और प्रयोग को लेकर शताब्दियों से जीते आ रहे हैं वे तो विच्छिन्न हुए नहीं हैं। उनसे परम्परा के विच्छेद का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। विच्छिन्न तो वह शहरी मध्य वर्ग हुआ है जो कहीं से उखड़ कर कहीं पहुँचा है। परम्परा से सम्बन्ध उसका समाप्त हुआ है। तो उसके लिए यह एक प्रश्न आता है कि वह अपने लिए कैसे इसको उपयोगी पाएगा? और उसी का उत्तर हम बैठकर विश्वविद्यालयों में खोजने की चेष्टा कर रहे हैं, जबकि यहाँ की समस्या बिल्कुल दूसरी है। भारतीय जीवन की समस्या बिल्कुल दूसरी है, हमारे लिए यह अजूबा नहीं हैं, हमारे जीवन से यह पृथक् नहीं है, हमारे जीवन के साथ अभी भी, समकालीनता में भी इनकी भूमिका बरक़रार है और इसीलिए मैं डॉ० श्रीवास्तव से यह अनुरोध करूँगा कि इस पर वे सोचें कि शोध का उद्देश्य है ज्ञान के अनाविर्भूत, अनाविष्कृत पक्षों को आविष्कृत कर देना और इस तरह से ज्ञान की धारा को आगे बढ़ा देना। शोध का जो प्रतिज्ञात अर्थ है, वह यह है कि ज्ञान के वे पक्ष, जो अभी तक सामने नहीं आये हैं, उनको आविष्कृत करते हुए सपूर्ण ज्ञान को आगे ले जाना। और जब उसका अघोषित उद्देश्य यह है तब फिर इन सम्पूर्ण ज्ञान की विधाओं को और प्रयोग की विधाओं को, क्योंकि ये संगीत और कला और काव्य के क्षेत्र में उस सर्जनशीलता की बात है, सर्जनशीलता के पक्ष से देखना है, इसलिए उस सर्जनशील दृष्टि से हम उसका कैसे सम्बन्ध स्थापित कर पायेंगे, ताकि यह जो एक स्पष्ट रूप से विभक्त समाज है, उस विभक्त समाज में भी ज्ञान की वह एकतानता एकता सुस्थिर की जा सके, इस दृष्टि से भी देखने की ज़रूरत है। मैं कहूँगा कि डॉ० श्रीवास्तव इस बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर अपनी टिप्पणी ज़रूर दें और ये संगीत के क्षेत्र में इससे जो रास्ता निकलेगा, वह ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों में भी लागू हो पायेगा, ख़ास तौर से मानविकी में क्योंकि यहाँ बिल्कुल सुस्पष्ट सम्बन्ध दीखता है लोकसंगीत का और शास्त्रीय संगीत का। सुस्पष्ट सम्बन्ध शताब्दियों से होता चला आया है और आज भी वह दिखाई पड़ रहा है। आज ही जिस ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है, देशी के ऊपर एक पूरा का पूरा अंश है, एक अध्याय में पूरा का पूरा अंश है मैं फिर जब यहाँ से गया, तो उठाकर उसको देखने लग गया और अभी पहली दृष्टि में जो देखने में आया है, मैं चाहूँगा कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यहाँ पर विशेषज्ञ विद्वान् हैं, और उस पर उसको देखें और मुझे भी बताएँ मैं समझने की कोशिश कर रहा हूँ देशी, जो सारे देश के विभिन्न अंचलों में फैला हुआ है, उस देशी को कैसे 'कोडिफ़ाइ' किया जाय, उसके सूत्र ढूंढता है संगीतसूर्योदयकार। मुझे लगता है कि वह ढूंढ रहा है। जब चारी और अडचारी इस तरह से जो दस उन्होंने वर्गीकरण किये, तो ऐसा लगता है कि जो सम्पूर्ण देशी में जो योजक समान तत्त्व हैं, जो सब में समान हैं, उनको वह पकड़ करके और 'कोडिफ़ाइ' करने की कोशिश कर रहा है। ज़रा देखिए पन्द्रहवीं शताब्दी का लेखक अपने समय की सम्पूर्ण देशी कला परम्परा को एक साथ देख करके और उनके भीतर जो समान तत्त्व है, सामान्य तत्त्व है, उन्हें पकड़ रहा है और अपने एक परिनिष्ठित शास्त्र में ले आ रहा है। क्या ऐक्टर के प्रशिक्षण की जो बात चल रही है, कलाकार के प्रशिक्षण की जो बात चल रही है, उस प्रशिक्षण के लिए सारी आंचलिक विशेषता को बरक़रार रखते हुए सबको अनुस्यूत करने वाली जो उसकी एकता है उन तत्त्वों के आधार पर उस प्रशिक्षण के लिए देशी के उपयोग की जो दृष्टि पन्द्रहवीं शताब्दी में इस लेखक के पास है, क्या वह हमारे पास आज नहीं आ सकती? कुछ ऐसे सवाल हैं, जो इस प्रघट्टक के साथ जुड़े हुए सवाल हैं। मैं सोचता हूँ कि इन पर अगर आप विचार देंगे तो शायद हमारे लिए एक नया रास्ता सामने आयेगा।

वक्ता का उत्तर—

डॉ० त्रिपाठी ने जिस बात की तरफ़ इशारा किया है, मैं समझता हूँ कि उन्होंने एक और मौक़ा मुझे इस बात का दिया कि मैं अपनी बात को थोड़ा सा फैलाकर कह सकूँ। मैं उनसे १५० प्रतिशत सहमत हूँ जो कुछ उन्होंने कहा उस बात से। और अगर आपने मेरे इस छोटे से नोट में एक मूल धारा देखी होगी तो वह यही है। चिन्ता इसी बात की है कि सरलीकरण और स्थूलता ये दो चीज़ें, जैसा कि डॉ० त्रिपाठी ने कहा कि, पूंजीवादी संस्कृति का एक बहुत ख़तरनाक नज़रिया होता है कि वह लोक संस्कृति को 'म्यूज़ियम' की चीज़ बना देती है। उसे इस तरह 'कलेक्शन' (संग्रह) की चीज़ बना देती है, कि जैसे वो मरी हुई चीज़ें हों। मेरी चिन्ता यही है कि ऐसा नहीं होना चाहिए। लेकिन एक चीज़ इसमें और देखने की है कि जिस तरह लोक संस्कृति निरन्तर अपना एक रूप बदलती रहती है, मैं ऐसा मानता हूँ कि वह रूप बदलती ही रहेगी। तो इस संक्रमण के दौर में जो कुछ आज है, वह जिस रूप में है, उसे उस रूप में, कम से कम हमें, उसका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गहरा परिचय हो जाना चाहिए। एक तो यह रूप हमारे पास सुरक्षित रहे और एक वह रूप है, जो बदल जायेगा भविष्य में और आगे दूसरे रूप में प्रचलित होगा। यह बात मैं समझता हूँ कि लोक संस्कृति के सम्बन्ध में हमेशा थी, आज भी है और भविष्य में भी बनी रहेगी। तो जब मैं ये कहता हूँ कि जैसे 'नाचा' पर हमें कुछ काम करना है, तो मेरी चिन्ता केवल इस बात की है कि 'नाचा' को क्या हम दूसरे हिन्दी नाटकों के समानान्तर नहीं रखते ? क्यों नहीं रखते ? रखना चाहिए, ये मेरा कहना है। या मान लीजिए कि लोरिकी है या चन्दैनी है, तो वह क्या लोक महाकाव्य नहीं है ? है। इसलिए उसके इस प्रचलित रूप के सम्बन्ध में भी हमें सोचना चाहिए। हाँ, उनकी इस बात से मैं पूरी तरह सहमत हूँ कि इस पर काम करते हुए हमारा नज़रिया बहुत 'क्रिएटिव' (सर्जनात्मक) होना चाहिए। मैंने इसलिए अपने इस पर्चे में इस बात का संकेत किया है कि अन्तरवलम्बन पर काम करने वाले शोधार्थी और उसके निर्देशक में भी हमें कुछ विशेषताएँ निश्चित रूप से देखनी होंगी और ऐसे ही काम को हमें आगे बढ़ाने की अनुमति देनी चाहिए। वह काम को इस तरह करे कि स्थिति की जड़ता को बढ़ा दे, यह ख़तरनाक बात होगी। तो क्या हमारा वह विद्यार्थी जो अंतरवलम्बन पर काम कर रहा है, उसके अन्दर कोई 'क्रिएटिविटी' है ? और वह गाइड जो निर्देशक है, उसकी 'क्रिएटिविटी' को तौलना भी जरूरी है। मेरा केवल इतना कहना है। और मैं समझता हूँ कि ऐसी स्थिति बन सकती है। लोक आज जिस रूप में मौजूद है, उसका केवल 'डॉक्युमेन्टेशन' हो, मैं ये नहीं मानता। 'डॉक्युमेन्टेशन' और शोध में निश्चित तौर पर अन्तर है। 'डॉक्युमेन्टेशन' 'डॉक्युमेन्टेशन' है। शोध वही है जैसा कि डॉ० त्रिपाठी ने कहा कि किसी चीज़ को हम और उद्घाटित करें, उसे और क्रिएटिव बना सकें, उसे धारा में और आगे बढ़ाने में कुछ मदद कर सकें, उसे ही मैं शोध मानने के लिए तैयार हूँ।

डॉ० श्रीराम नेमा की टिप्पणी और प्रश्न

कुछ प्रश्न मेरे मन में आ रहे हैं, मैं उनको आपके सामने रखूँगा। डॉ० श्रीवास्तव ने ये बताया कि शोधकार्य में सरलीकरण—'शॉर्टकट'—सभी विषयों की समस्या है। उन्होंने ये तो बतलाया है, परन्तु अच्छा होता यदि वे इसके उपाय भी बतलाते कि वो कैसे दूर किया जा सकता है, क्योंकि यहाँ पर जब चर्चा हो रही है, आज सुबह भी चर्चा हुई और शोध की जो सामान्य बातें थीं, कि हमारा किस तरह का दृष्टिकोण होना चाहिए, आज

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के शोध में हम वो नहीं पा रहे हैं, तो उसके लिए उपाय भी क्या है, यह साथ-साथ अगर चले, तो उसका बड़ा लाभ होगा। क्योंकि यदि हम एक सैद्धान्तिक पक्ष पर ही बहुत विस्तृत चर्चा करते चले जायें और यदि उसका कोई निष्कर्ष नहीं निकला, तो हो सकता है कि हम जैसे-जैसे आगे बढ़ें, हो सकता है कि कल की गोष्ठी में जब हम आगे बढ़ें, तो हम आज की बातों को भूल जाएँ। कल की समस्याएँ कुछ दूसरी होंगी। आज क्योंकि शोध के सामान्य विषय हैं, जो कि सभी विषयों से सम्बन्धित हैं, तो अनेक मूलभूत विषयों के ऊपर हमारे इस परिषद् के कुछ सुझाव भी अगर हम इंगित करते जाएँ, तो बहुत अच्छा होगा। इसमें जैसे एक जो मुद्दा हमारे रमाकान्तजी ने उठाया कि आज हम शोध के क्षेत्रों में एक 'शॉर्टकट मॅथड' को पा रहे हैं, इससे मैं सहमत हूँ। मेरे पास भी जब विद्यार्थी आते हैं, शोध के सम्बन्ध में, तो जब उनसे बात करता हूँ कि आपको इस क्षेत्र के ऊपर कार्य करना है। आपको फ़ील्ड पर जाना पड़ेगा। उस पर जाकर अध्ययन करना पड़ेगा, तो वो उससे कतराते हैं। वो कहते हैं कि 'सर' ये कार्य बड़ा कठिन है। हम तो जो प्रकाशित सामग्री है, उसको एकत्रित करके और हम अपना शोधप्रबंध 'सब्मिट' (प्रस्तुत) करना चाहते हैं, आप इसमें हमें सहयोग करें। मैं इससे मेल नहीं खाता हूँ, तो इसके लिए हम कोई उपाय भी सोचते जाएँ। जितना भी, एक जो सैद्धान्तिक पक्ष है, इससे कोई भी असहमत नहीं होगा। पूर्णतः सहमत हैं। एक गुणात्मक सुधार जो हम अपने रिसर्च में चाहते हैं, यू० जी० सी० के जो 'गाइडलाइन' आते हैं, हम 'एॅक्सिलेन्स' (उत्कृष्टता) की बात करते हैं, 'क्वॉलिटी' (गुणवत्ता) की बात करते हैं परन्तु वो होता कुछ नहीं है, हो नहीं पाता। अभी श्रीवास्तवजी ने एक बात उठाई कि विश्वविद्यालयीन जड़ता, परम्परावादिता, ये सारी चीजें खुले शब्दों में होना चाहिए। मैं ये चाहता हूँ कि उन पर जरा अच्छी तरह चर्चा हो और उसमें से रास्ता निकले। ये आक्षेप नहीं है कहीं पर भी। आक्षेप का प्रश्न ही नहीं उठता। दोषारोपण का कोई प्रश्न नहीं है। पर ये एक खुला संवाद है। मैं चाहता हूँ कि रमाकान्तजी जरा खुले शब्दों में उन चीजों को कहें और अपने सुझाव भी दें कि इसमें सुझाव क्या है, अब जैसे उन्होंने परम्परा और अवलम्बन की बात कही, वह मेरे विषय में भी आती है, मेरे विषय में जब मूर्ति शिल्प, 'आर्किटेक्चर' इस विषय को पढ़ाते हैं। पिछले वक्त भी एक सेमिनार यहाँ पर आयोजित किया था कि संगीत (शिल्प) कला में संगीत एवं नृत्य का अंकन। उदाहरण के लिए भोरमदेव का मन्दिर भी है पास में। वहाँ पर संगीत और कला का अंकन हुआ है। अब उसमें जो अंकन हुआ है, वो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संगीत के शास्त्रीय पक्ष को प्रदर्शित कर रहा है या उस शास्त्रीय परम्परा से हट कर आंचलिक प्रभाव को लेकर प्रस्तुत कर रहा है, ये शोध का प्रश्न है। यानी इसमें बराबर सहयोग तो लिया जाएगा, क्योंकि जो कला का अध्यापक होगा, वो शिल्प की टैक्नीक को देखेगा, जो एक शिल्प का क्रमिक विकास हुआ है, उसका अध्ययन करेगा, परन्तु संगीत का जो पक्ष है, या उसमें नृत्य का जो अंकन है, वो कितना शास्त्रीय है या लौकिक है इसको तो उस विद्या का जो विद्वान् है, वही बता पाएगा और उसमें विरोधाभास नहीं आयेगा, ऐसा मैं मान कर चलता हूँ। ये परस्पर विश्वास के ऊपर है। जो 'को-गाइडेन्स' (सह-मार्गदर्शन) है, वो एक-दूसरे के पूरक होंगे, विरोधी नहीं होंगे ऐसी मेरी मान्यता है। और वहाँ विश्वास होना ही चाहिए, क्योंकि एक क्षेत्र का, एक विधा का जो ज्ञाता होगा, वह अपनी बात एक विशेषज्ञ के रूप में कहेगा और हमको इसको स्वीकार करके या फिर जैसा कि डॉ० त्रिपाठीजी ने कहा, कि विद्वान् तो वो हो ये ठीक है 'मास्टर ऑफ नन (वन), ही शुड वी जैंक ऑफ़ ऑल'। उसको इस तरह से समग्र संगीत का भी अध्ययन, नृत्य का भी अध्ययन, ये जरा अभी संभव नहीं है, परन्तु फिर भी दोनों एक-दूसरे के पूरक होकर, एक दूसरे के आलम्बन हो कर, विषय हैं, उनको हम पूरक बनाकर सफल बना सकते हैं। तो मैंने कुछ जो बातें उठाई हैं, रमाकान्तजी उन पर थोड़ा विस्तृत प्रकाश डालेंगे और केवल प्रश्न उठा कर छोड़ें न। उन प्रश्नों को स्पष्ट करते हुए सुझाव भी दें कि क्या होना चाहिए और हम लोग उससे कहाँ तक सहमत हैं, असहमत हैं, उनकी भी चर्चा यहाँ होनी चाहिए और इस तरह से हम आगे बढ़ें तो हमारा सैमिनार सार्थक होगा। विश्वविद्यालय में सैमिनार आयोजित होते हैं, हम देखते हैं कि उसका 'फ़ॉलो अप' (अनुवर्ती) प्रोग्राम क्या होता है? कुछ नहीं होता है, हमारी सारी शक्ति नष्ट होती है, यू० जी० सी० का सारा पैसा व्यर्थ जाता है उससे हमने क्या लिया, कहाँ उसको हमने कार्य रूप में परिणत किया, ये भी प्रश्न सोचने का है।

उत्तर

डॉ० नेमा ने जो सवाल उठाया, जड़ता क्या है, परम्परावादी नजरिया क्या है, इस पर अगर अपन चर्चा करने लगें तो पूरा सेमिनार उस पर आयोजित हो जाएगा। मैंने जिस परम्परावादिता या जड़ता की बात कही वो विशेषकर उन विषयों से सम्बन्धित हैं, जो विषय साहित्य के अध्येता उठाते हैं, और दूसरे विषयों से जोड़कर शोध करते हैं। जैसे मैंने बताया कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किसी कवि की कविता से संगीत की शब्दावलि को ढूँढने बैठ गया कोई, केवल इतना काम करके, ठोक-पीट कर एक किताब लिख दी, तो यह कोई अन्तरवलम्बन नहीं हुआ और मैंने तो उपाय बताया है। यानी जो कुछ विषय मैंने सुझाए हैं, अन्तरवलम्बन मैं किसे कहता हूँ। 'क्रिएटिव 'ऍक्सपीरिएन्सेज़', सर्जनात्मक अनुभव विभिन्न कलाओं के एक-दूसरे के कथ्य को, रूप को कहाँ और किस तरह प्रभावित कर रहे हैं—ऐसे विषयों पर शोध होना चाहिए, और वही उपाय है कि इस सीमा के भीतर ही परम्परा-वादिता और जड़ता टूटे। मैं इतना ही कहना चाहता हूँ।

डॉ. प्रेमलता शर्मा की टिप्पणी—

बड़ी दिलचस्प बात उठाई गई है इस आलेख में। भाई कमलेशदत्तजी ने भी बहुत अच्छा ध्यान दिलाया हमारा इस 'इन्टरडिसिप्लिनरी' शब्द के इतिहास पर भी। जब हम लोगों ने विश्वविद्यालय में प्रवेश किया था, तो यह शब्द कहीं नहीं था। मुझे याद पड़ता है कि १९७० के आस-पास इसकी गूंज बहुत ज़ोर से सुनाई पड़ी थी। इसकी गूंज विदेशों से भी आई थी। मैं इसलिए कह सकती हूँ कि ऑस्ट्रेलिया में पर्थ में एक कॉन्फ़रेन्स हुई 'म्यूजिक ऍजुकेशन' (संगीत शिक्षा) पर, सन् १९७४ में। बात तो उससे पहले ही सोची जाने लगी होगी। वहाँ से मुझे यह विषय दिया गया कि आप यह कहिए कि 'म्यूजिक ऍजुकेशन' में 'इन्टरडिसिप्लिनरी ऍप्रोच' (आन्तरानुशासनिक दृष्टिकोण) क्या हो सकता है। उसके दस-पाँच वर्ष पहले ही यह शब्द विश्वविद्यालयों में काफ़ी प्रचलित हो गया था, 'फ़ैशनेबल' हो गया था। शब्दों के भी 'फ़ैशन' बदलते हैं, जैसे वस्त्रों के बदलते हैं। शब्दों का इतिहास आपने देखा होगा, कुछ मैंने भी देखा है, कोई शब्द कुछ दिन बहुत फ़ैशन में रहता है और फिर दूसरा कोई शब्द आ जाता है। तो यह आया क्यों होगा? कोई शब्द जब आता है, तो किसी जरूरत के कारण आता है। जब अत्यधिक विखण्डित हो गये, जैसा कि आपने बताया, पूरा हमारा शिक्षण का ढांचा, क्योंकि आज का शिक्षण का ढाँचा क्या है, यह एक पिरामिड की तरह बना हुआ है। पिरामिड में क्या होता है कि नीचे बुनियाद काफी चौड़ी होती है, फिर क्रमशः वह यों सँकरा होता चला जाता है और ऊपर जाकर फिर एक, बिल्कुल शिखर जो है उसका, बिल्कुल पतला सा हो जाता हैं। तो यह क्या है? स्कूल में बहुत से विषय पढ़ाइए। फिर बी. ए. स्तर तक आकर थोड़ा सा कुछ कम कर दीजिए, फिर थोड़ा सकड़ा हुआ। फिर ऍम. ए. में आकर एक विषय रख दीजिए। यह पिरामिड का ढाँचा है हमारी आज की शिक्षा-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पद्धति का। परन्तु वो जो बहुत से विषय शुरू में पढ़ाए भी जाते हैं, उनमें वही 'क्रिएटिविटी' (सर्जनात्मकता) की बात हमारे या तो जो शिक्षक समुदाय हैं, या जो शिक्षण के आयोजक हैं, संयोजक हैं, जो उसका सारा 'प्लानिंग' करते हैं, कहीं उनमें अन्त:सम्बन्धों की कल्पना नहीं होती। गणित है तो बच्चा गणित पढ़ रहा है और भूगोल है, तो भूगोल। जब भूगोल पढ़ रहा है, तो गणित की कोई बात नहीं सोच पाता, गणित पढ़ रहा है, तो भूगोल से कोई सम्बन्ध नहीं, इतिहास पढ़ रहा है, तो समाजशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं, यद्यपि पढ़ रहा है सभी शास्त्र। यह एक बात हो गयी। अब थोड़ा सा अगर पीछे देखें, तो हम जिनको आचार्य मानते हैं, अपनी-अपनी विद्याओं के, मैं केवल शार्ङ्गदेव का नाम आपके सामने लेती हूँ, हम संगीतशास्त्र के अध्येता या संगीत के अध्येता उनको बहुत बड़ा आचार्य मानते हैं, उनकी स्थिति क्या थी? याने वे केवल गायक-वादक तो थे नहीं। कितने गायक थे, यह तो ग्रंथ से नहीं कह सकते कि किस ढंग का क्या गाते थे? लेकिन हाँ, संगीत पर तो लिखा है। सारा लक्षण तो उनको ज्ञात था ही, लक्ष्य न ज्ञात हो, यह नहीं कह सकते, परन्तु उसके लिए कोई प्रमाण हम नहीं उपस्थित कर सकते कि उनका गाना 'रिकॉर्ड' किया हुआ रखा हो, हम सुना दें, ऐसा तो कुछ है नहीं। संगीतशास्त्र का पूरा संग्रह किया है उन्होंने, पूरा का पूरा। अब संगीतशास्त्र का प्रारम्भ करते समय उन्होंने क्या किया? आरम्भ में बिल्कुल, अपने ग्रन्थ की प्रतिज्ञा जिसको कहते थे, अपना 'टेबल ऑफ़ कन्टेन्ट्स' (विषय-संग्रह) दे दिया, इन-इन अध्यायों में हम ये-ये कहेंगे। तुरन्त वे कहते हैं कि भाई देखो ये जिस नाद की हम चर्चा करने जा रहे हैं, यह नाद क्योंकि मनुष्य के शरीर में उत्पन्न होता है, इसलिए पहले मैं मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति की बात करूँगा। तो तुरन्त वह हमें वेदान्त और वेदान्त से आयुर्वेद में ले गए। आयुर्वेद के वे बहुत अच्छे ज्ञाता थे, यह और स्रोतों से भी हमें पता चलता है। पूरा पिण्डोत्पत्तिप्रकरण, करीब-करीब डेढ़ दो सौ श्लोकों का, संगीतरत्नाकर के बिल्कुल आरम्भ में लिख दिया उन्होंने, आयुर्वेद का एकदम सार निकाल कर। और शरीर का आत्मा का क्या सम्बन्ध है, आत्मा का ब्रह्म का, पूरा वेदान्त के हिसाब से, वह एक बहुत सूत्र शैली में कह कर और उसके बाद मनुष्य का शरीर गर्भ में कैसे विकसित होता है, प्रथम क्षण से लेकर और बाहर आने तक, ये सारे का सारा। उन्होंने इसमें आयुर्वेद की दृष्टि से जल तत्त्व शरीर में कहाँ है, आकाश तत्त्व कहाँ है, पृथ्वी तत्त्व कहाँ है, वायु तत्त्व कहाँ है, अग्नि तत्त्व कहाँ है मनुष्य के शरीर में, यह सब पंचभूतों से जोड़ कर दिखा दिया, सब कुछ कर दिया, लेकिन लिख रहे हैं संगीत पर।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ये उनको कभी नहीं लगा या किसी को कभी नहीं लगा परम्परा में कि संगीत पर लिखने वाला आयुर्वेद की बात क्यों कर रहा है ? या संगीत पर लिखने वाला वेद की बात क्यों कर रहा है ? जहाँ-जहाँ उन्होंने मीमांसा की, बहुत जो ठेठ शब्दावलि है, उसका प्रयोग किया है। और दर्शनों की शब्दावलि का प्रयोग किया है। तो यानी एक परम्परा हमारे यहाँ ऐसी रही कि किसी विशिष्ट विषय का जो आचार्य है, उसका तो है ही, लेकिन ऐसा नहीं है कि वह व्याकरण नहीं जानता, ऐसा नहीं कि वो ज्योतिष नहीं जानता, ऐसा नहीं कि वो थोड़ा-बहुत आयुर्वेद नहीं जानता, यानी वेदान्त और उपवेद इसकी जो परम्परा थी, वेदांगों में व्याकरण है, शिक्षा है, शिक्षा जानेगा, उच्चारण की सारी प्रक्रिया जानेगा, वर्णों के सारे विभाजन जानेगा, शिक्षा जानेगा, व्याकरण जानेगा, छन्द जानेगा। ऐसा नहीं कि गायक है, तो छन्द न जाने या छन्द जानता है तो स्वर का कोई भी संस्कार न हो, वो बहुत बढ़िया गायक न हो, पर स्वर का संस्कार तो हो सकता है। और होता ही था लोगों को। कवि हैं, तो स्वर का संस्कार है। गायक न कहिए उसको, लेकिन स्वर के संस्कार से विहीन कवि शायद इस-देश में नहीं होता था, ऐसा अब होने लगा है। ये तो इसी युग की देन है कि हम कवि हैं, तो हम स्वर के संस्कार की कोई जरूरत न समझें। या गायक हैं तो साहित्य के संस्कार की कोई जरूरत न समझें। ये भी हुआ है, दोनों तरफ। एकतरफ़ा बात नहीं है, सभी तरफ़ की बात है। अब ये जो क्षति हो गयी इसकी, तो थोड़ी चिन्ता हुई हम लोगों को और उसके उपाय जो हमने खोजे, जैसे रमाकान्तजी ने अभी बताए, वो कितने पिछले उपाय हैं आपने हमारा ध्यान इसकी ओर बड़ी तीव्रता से आकृष्ट किया कि ये भी कोई उपाय है कि दो विषयों को जोड़ के एक विषय बना दिया जाय, 'इन्टरडिसिप्लिनरी' दिखाने के लिए और फिर उन दो या तीन विषयों के कोई विशेषज्ञ दे दिए जाएँ, तो हो गया 'इन्टरडिसिप्लिनरी'। वो जो करने जा रहा है, उसको हमने क्या तैयारी दी है ? क्या 'इक्विपमेंट' (उपकरण) दिए हैं ? सवाल तो ये हैं। हमारी शिक्षापद्धति में कौनसी व्यवस्था है कि उसको हमने किसी तरह तैयार किया है कि वो दो-तीन बातों को सोच सके ? दो-तीन विशेषज्ञ दे देने से उसके भीतर क्या निकलेगा ? उन दो-तीन में टकराहट होगी, ये तो अपने आप में एक सवाल है, वो अलग बात है। लेकिन उसमें अपने में, जो शोधार्थी है उसमें अपने में कितनी क्षमता है कि वो उन दो-तीन में से क्या ले सके ?

यहाँ मुझे ब्रिस्की की बहुत याद आ रही है। हम सबके मित्र ब्रिस्की, उनका उदाहरण दे रही हूँ। उन्होंने स्वयं मुझे अपना अनुभव बताया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पोलैण्ड के हैं, बहुत अच्छे 'स्कॉलर' (विद्वान्) हैं। यहाँ वो कोई बीस-बाईस वर्ष पहले बी. एँच्. यू. में आए, तो उन्होंने बताया कि मैं यह सोचकर आया था कि वेद से मैं अपना कोई वास्ता नहीं रखूँगा, मुझे इनसे कुछ लेना-देना नहीं है। मैं तो विशुद्ध रूप से नाटक पर काम करूँगा। बस सीधे अपना काम करूँगा और चला जाऊँगा, इन सब पचड़ों में मैं नहीं पड़ूँगा। तो उन्होंने दश-रूपकविधान पर काम करना शुरू किया। उसमें पंचसन्धियों की बात आयी। अब जब पंचसन्धियों पर उन्होंने गहराई से सोचना शुरू किया, अपने आप सोचते-सोचते उनको लगा कि इसके लिए तो ये भी पढ़ना चाहिए, इसके लिये तो ये भी पढ़ना चाहिए। तो उन्होंने बताया कि बहिनजी उसके बाद मैं चारों वेद पढ़ गया, न केवल वेद पढ़ गया, ब्राह्मण पढ़ गया, शतपथ तक, इतना बड़ा शत-पथ। यानी उनको लगा कि नाटक की पाँच सन्धियों की बात कुछ नहीं खुल रही है, जब तक ये न पढ़ूँ, जब तक ये न पढ़ूँ। तो ये उनकी अपनी खोज, अपनी खोज की वृत्ति थी, किसी निर्देशक की दी हुई नहीं थी। निर्देशक अगर कहेगा कि इतना जाकर पढ़ो, तो कौन पढ़ेगा? और कहने की उसकी हिम्मत भी नहीं है। और उस निर्देशक को भी इतनी दृष्टि होनी चाहिए, वह होना कोई जरूरी नहीं है। वह कहे और वह तब पढ़े, तो बात दूसरी है। अपने से उस आदमी को ये लगा कि नहीं इससे तो बात नहीं खुलती है। अच्छा अब ब्राह्मण पढ़ लिया, तो लगता है कि धर्मशास्त्र भी पढ़ना चाहिए। अब अर्थ-शास्त्र भी पढ़ना चाहिए। क्योंकि सब जुड़ा हुआ है, ये देश ऐसा है, ये संस्कृति ऐसी है कि इसमें दूसरे को देखे बिना पहला नहीं समझ में आता, तीसरे को देखे बिना दूसरा नहीं समझ में आता। तो जितना हो सके, उतना पढ़ो। तो चार-छः बरस जब यहाँ रहा उसकी अपनी जिज्ञासा की तुष्टि के लिए उसने ये सब फिर अपने आप पढ़ा। यानी कहाँ से शुरू होकर और कहाँ तक आदमी को पहुँचना पड़ता है। वो है न प्रसिद्ध आख्यान छोटा सा, कि एक मुनि के पास एक राजा गया। उसने कहा कि मुझे आप मूर्ति बनाना सिखा दीजिए। तो मुनि ने कहा कि पहले चित्र बनाना सीख जाओ। उसके बिना मूर्ति बनाना नहीं आयेगा। पहले रेखा से परिचय होना चाहिये न? रेखा तो मूर्ति में भी है। लौट कर आ गया कि महाराज चित्र बनाना तो सीख लिया। मुनि बोले कि अच्छा। अब नृत्य सीखो उसके बिना चित्र नहीं आयेगा। वह नृत्य सीख कर आ गया। तब कहा, नृत्य तब तक नहीं आयेगा जब तक वाद्य न सीखो। उसने कहा मैं वाद्य भी सीख कर आ जाता हूँ। सीख कर आया तो मुनि ने कहा वाद्य तब तक नहीं आयेगा जब तक गीत न सीखो। तो मूर्ति से शुरू करके उसे गीत में ले गया। यह कहानी मार्कण्डेय पुराण में है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस कहानी को कपिलाजी ने अपनी पुस्तक के पहले पृष्ठ पर उद्धृत किया था बहुत वर्ष पहले। अब तो ये कहानी पर्यटन विभाग के हर पैंफ़्लेट में छपती है यानी यह दिखाने को कि भारत की परम्परा क्या है। बहुत ही प्रचलित हो गई है यह कहानी। तो यह जो एक समग्र दृष्टि थी, चित्र में क्या है, चित्र के साथ नृत्य का क्या सम्बन्ध है ? चित्र में आप अंगों की मोड़-तोड़ दिखाएँगे, तो वह जो नृत्य में है, मनुष्य के अंगों की भिन्न-भिन्न भंगिमाएँ कैसे बनती हैं, यह चित्रकार को भी मालूम होना चाहिए। नृत्य वाद्य के सहारे के बिना होगा नहीं, वाद्य उसको मालूम होना चाहिए। वाद्य गीत के सहारे के बिना नहीं, तो गीत। तो मूर्ति से लेकर उसको गीत तक ले गया वह आचार्य। तो इस तरह की बात है, हमारे मूल में ही। मुश्किल क्या है ? मुश्किल यह है कि आरम्भ से तो हम विद्यार्थी को कोई भी समन्वयात्मक दृष्टि दे ही नहीं पाते। अगर एक से अधिक विषय पढ़ाते भी हैं, तो उनमें कोई अन्तःसम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते। जब एक ही विषय पढ़ता है एँम० ए० तक आकर, तब दृष्टि खुलने के बजाय और भी सिकुड़ जाती है, हालाँकि खुलनी चाहिए। अब फिर शोध के समय हम आशा करते हैं कि 'इण्टरडिसिप्लिनरी' काम हो। ये तो ऐसा है कि बिना मूल के हम फल की इच्छा कर रहे हैं। और कुछ नहीं, तो कम से कम शोध की तैयारी के लिए यदि हम कुछ भी बनाते हों, कोई भी पाठ्यक्रम, तो उसकी क्या कहें? यानी कोई भी योजना बनाते हों तो उसमें कुछ ऐसी व्यवस्था रखें, कुछ दृष्टि विकसित करें शोधार्थी की, चाहे वह एँम्० फ़िल्० हो, चाहे कोई भी उपाय हो, उसमें उसकी दृष्टि कुछ इस प्रकार विकसित करें कि कम से कम अपने विषय से जो बहुत जुड़ी हुई चीजें हैं, उनको तो जाने। दूर की न जाने, जैसे चित्र और नृत्य है। अब नृत्यवाला चित्र को कैसे समझे ? यूँ समझे कि नृत्य सतत गतिशील है और चित्र एक क्षण पर ठहरा हुआ है। चित्र में किसी क्षण को आपने 'फ़्रीज़' (स्थिर) कर दिया है, अगर हाथ यों है, तो यों ही रहेगा, कभी नीचे नहीं आ जायगा। जहाँ रख दिया, वहीं रह जायेगा, जैसे मूर्ति में है। तो जैसे भी हाथ है वैसे ही रह जाएगा। करण हैं, अंगहार हैं, इस पर आज अगर कोई काम करे तो उसकी सबसे बड़ी समस्या क्या होगी ? कि करण अंगहार तो गतिशील हैं और जो उसका अंकन है वो एक क्षण पर ठहरा है। अब वह क्षण कौनसा है, आरम्भिक है, मध्य का है, कि अन्त का है? कि हाथ यहाँ से आकर यहाँ यों आया है, या यहाँ से यों आया है, या ऊपर से नीचे आया है ? उसका पूर्व और अपर क्या है ? पहले उसके क्या है और बाद में उसके क्या होने वाला है ? ये जोड़ना उतना ही संकट का काम है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जैसे कि बिना किसी भी स्वरलिपि के, किसी सहारे के, लक्ष्य के उद्धार का काम। वैसा ही ये भी कठिन काम है। अंकन भले ही उसका हुआ है, मगर उसको कैसे 'रीकन्स्ट्रक्ट' (पुनर्निर्मित) करिएगा आप ? कैसे कहेंगे कि नृत्य का पूरा करण ये है ? उसमें तो सैकड़ों 'मूवमेन्ट्स' (व्यापार) होंगे। एक हाथ यहाँ से यहाँ तक आया उसमें कितने सारे बिन्दु हैं ? ये किस विन्दु पर ठहरा हुआ है, किधर से किधर को गया, यह तभी समझ सकेगा आदमी, जब नृत्य भी करता हो, चित्र की क्या अपनी विशिष्टता है ? इसको भी समझता हो कि उसने क्यों इसको लाकर इस जगह ठहराया है, इस जगह क्यों नहीं ठहरा दिया, क्या बात है ? तो ये सारे जो अन्तःसम्बन्ध हैं, इसके लिए हम शोधार्थी की पहले दृष्टि कुछ विकसित कर सकें, इसकी चिन्ता हम लोगों को किसी न किसी प्रकार अवश्य करनी चाहिए, ताकि फिर सचमुच में कुछ 'इण्टरडिसिप्लिनरी' काम हो। दो या तीन निर्देशक दे देने से वह काम नहीं बनने वाला है। व्यावहारिक कठिनाइयों के अलावा उनमें टकराव हो चाहे न हो यह अलग बात है, पर जो आपका माध्यम है, जिसको दो-तीन से समझ करके कुछ काम करना है, उसको हम क्या दे रहे हैं ? क्या तैयारी, क्या 'इक्विपमेण्ट' हम कर रहे हैं ? इसकी चिन्ता हम करें या फिर ऐसी उसमें जिज्ञासा ज्वलन्त हो, ब्रिस्की की तरह, कि वह अपने आप सब कुछ करे यह भी एक है, ऐसा कोई निकले या तो। वह सोचे कि भाई इसके लिए तो यह जानना चाहिए फिर यह जानना चाहिए, तो अब मैं स्वयं करूँ, किसी को बताने की कोई ज़रूरत ही न पड़े। ऐसे लोग भी पैदा हों उसके लिए भी हमें उपयुक्त वातावरण तो देना चाहिए। वह हम नहीं दे पाते। ये हमारे 'सिस्टम' (पद्धति) की सबसे बड़ी कमज़ोरी है। वह वातावरण हम दे पाएँ, इसकी चिन्ता हम किसी न किसी रूप में करें। हमारे नेमाजी कह रहे हैं कि साथ-साथ सुझाव भी तैयार करते जाएँ। बात बड़ी मुश्किल है। याने क्या सुझाव तैयार करते जाएँ ? समस्याएँ तो थोड़ी-बहुत समझ लेंगे, लेकिन अब तुरन्त इसका क्या उपाय करें ? पहले बात को समझ लें, फिर जब कोई भी हम योजना सोचेंगे शोध की तैयारी की, उस समय ये सब चिन्तन काम दे सकता है। अभी यहाँ बैठकर तो इतनी जल्दी में कोई रूप-रेखा तैयार नहीं कर सकते। इतना समझ सकते हैं कि यह बड़ा जरूरी है और यह हम लोगों को करना है। तो यह सारी अन्तःसम्बन्धों की बात आपके निबन्ध से सामने आई। बड़ी खुशी है, बड़ी दिलचस्प चर्चा इस पर हो गई। सबको धन्यवाद। □

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Problems & Areas of Research in Musical Aesthetics

☐ Dr. Sitansu Ray

The prime problem of musical aesthetics is its ambiguity. The very subject designated as aesthetics of music or musical aesthetics suffers from lack of clarity. I mean, lack of our well-defined notion about its discourse and area. Actually it is a growing discipline resting much on our trial and error in giving it its academic shape and status.

The term 'aesthetics' came into usage only after it had been coined by the German scholar Alexander Baumgarten while writing 'Reflexions of poetry' (1735), though its purport can be traced back from the Greek philosopher Plato, whose disciple was Aristotle, the author of 'Poetics'. The Indian origin of aesthetics, mostly ascribed to rhetorics, is traceable from Bharata Muni, the author of dramaturgy, under the title 'Nāṭyaśāstra' or even from more earlier works, as we come across the expression *raso vai saḥ* in the sayings of the *Upanṣad*. When especially studying musicology we come across the term '*rañjakatva*' or colourfulness in Matanga-Muni's '*Bṛhaddeśi*' (7th century). The germ of our musical aesthetics was dormant in the attribute of *rañjakatva*, the quality of engrossing human mind in ecstatic rapture. This attribute connotes much more than the concept of '*dhvani*' in poetry parallely to be seen in Abhinavagupta's '*Dhvanyāloka*'.

Whatever be the western or Indian origin of aesthetics, its scope lies in the border lines of rhetorics, dramaturgy, art-appreciation, art criticism, musicology and nonetheless in philosophy and perhaps in science too after Thomas Munro, the founder of the American Society for Aesthetics, attempted

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

to give it a scientific status his work 'Scientific Method in Aesthetics' (1928).

Be it philosophy or science, the intellectual and analytic trends of an aesthetician must not overpower the real enjoyment of beauty. Instead of being a hotch-potch of various subjects tread over at random, the study and research of aesthetics must aim at a systematic give-and-take between our art in question and all other disciplines and faculties related to it.

Our next problem is the problem of inclusion of aesthetics in the curriculum of the performing arts of music and dancing. Very often we see that the anti-theorist professional musicians are abhorent to intellectual exercise surpassing their actual performance, though directly or indirectly some intellectual pursuits are related to the practical aspects of music and dancing. However, when introduced in the curriculum, aesthetics as a subject faces the problem of its shape and size so as to suit the students of music and dancing. Development in practical aspect requires severe training and untiring practice. On the other hand, proper grasp and elaboration in musical aesthetics also require utmost time and energy. It is very difficult to meet the two ends. Still, it is highly necessary at the University level. Music and aesthetics must go hand in hand to substantiate each other and also to broaden their areas of interests, perhaps yet unconceived of. Music is no longer in its closed-door milieu. A university is a right place for trans-disciplinary pursuit of beauty and truth. Newer researches in musical aesthetics may have to freely borrow relevant data and materials from literature, history, philosophy and religion, from humanity faculties and physics, physiology, anthropology and psychology etc., from science faculties with a view to widening its surmounting encompassability. The discipline of musical aesthetics must acquire its own domain and adaptability.

Our next confusing problem is that of determining the aesthetic status of music. I mean the exact locus of the art of music in the realm of aesthetics. There is no doubt about

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

the fact that music is a temporal, dynamic and auditorial art as opposed to the spatial, static and visual arts, e. g., painting, sculpture and architecture. But legitimate doubt arises when it is called an abstract art. After all, music is a performing art as opposed to a theoretical and abstract idea. It has a temporal and dynamic entity. It must have a clearcut tonal form of some length, which is perceived through our auditory sense. So, the question arises, is it abstract at all ? And, if it is, in what sense ? Misconception and unscrupulous usage of the term 'abstract' have generated this sort of perplexing problem in musical aesthetics.

The art of dancing, accompanied with music, has twofold sensuous beauty. It is both spatial and temporal, visual and auditorial art. It may or may not be representational. Even when it is non-representational, it has its 'concrete' form, though supple and dynamic. In no case it can be called formless and abstract.

The problem is intensified when we choose the word '*amūrta*' to designate the apparently non-representational and non-referential character of pure music or absolute music. Whenever something has a perceivable form, be it auditorial or visual, how can we call it '*amūrta*' or incorporeal or unembodied ? It is a misnomer. Therein lies the problem of ascertaining the exact category of music and dancing in the realm of fine arts.

Even if we avoid the words like 'abstract' or '*amūrta*', the problem still persists. The tonal form of music is ethereal in its entity. It emits a celestial charm which enraptures us. The pure form of music seems to be above all worldly affairs. In other words, we cannot find out any reciprocal reference between music and the aspects of wordly affairs. When applied to lyric, it gets a helping hand in finding out a conceivable meaning. Similarly, when music is applied to a religious ceremony, or to a marriage ceremony in *Śahanāī* or to a theatre or film in the aid of background music, it achieves a conceivable association. Moreover, music, whether pure or applied, has its desired tempi, which can easily accompany the

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

tempi of our dynamic psyche. Then what should be the parameter for categorizing fine arts so as to suit to pure music and also for demarcating the aesthetic domain of music ? Pure music is neither totally absolute nor grossly relative to extra-musical zones, neither purely autonomous nor calculably heteronomous, neither purely non-representational nor clearly representational of the other faculties of human mind and the world around us. Yet, pure music is genuine music, a continuous outcome of highly sophisticated culture throughout ages. Its aesthetic paraphernalia is very complicated indeed.

Researches in folk music, ethnic music and applied music do not suffer from those complications. Source environments and semantic association supply their objective data. Yet, from time to time ethereal values of pure music emanate from folk, ethnic, applied and especially lyrical art music, There are under-currents of give-and-take among different forms and styles of music. This has widened the areas and aspects of possible research projects, comprising of comparative observations and enquiry of hidden and prominent inter-actions.

Another burning problem, we must take into account in musical aesthetics, is concerned with the aspects of regionality giving way to the values of universality. Some say that music is typically culture-bound art. Some other, on the other hand, claim that music is a universal language, Then and there one more question arises—is it language at all ? Semantics may help musical aesthetics in this regard, However, in the tug-of-war between regionality and universality, acquaintance and familiarity play a vital role. The forms and styles of Indian and western music are quite different. A westerner, listening to a *khayāl*, for example, for the first time, may feel it baffling. An Indian, on the other hand, listening to Beethoven's Moonlight Sonata, for the first time, may take it as meaningless configuration of varying sonic patterns. But, a little more acquaintance clears away the bar and gradual familiarity paves the way to real appreciation. In the long run, culture-bound musical forms may seem to possess universal appeal. Isolated focus on forms and conventions may lead to isolation. Forms can be analysed

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

and conventions can be explained. But after passing through the apparent barrier of form we may reach the unique and universal essence, which is, in fact, unanalysable. So, the greater area of research in musical aesthetics will be the parallel and comparative study of Indian and western music. Unforeseen findings may come out from such a wide-range enquiry. Without secrificing unique cultural identity, every piece of good music may win the test of universal standard, the parameter of which will emerge only through more and more healthy cultural exchange.

Cultural exchange not only enriches give-and-take. it will also enrich our own vision, it will create newer perspectives for observing our own music. We shall be able to appreciate the basic facts that the notes in western music are assimilation, while those in Indian classical music emerge from the basic drone of *ṣadja*, continuously emitted from the *tānpūrā*, the western music is harmonious in nature, while the Indian music is basically the ethos of melodies or *rāgas* and *rāginis*, the western music is a joint performance of many, while an Indian *rāga* is the outcome of one. The performer of western music does not enjoy the liberty of variation and improvisation over the composer's composition, while we do. Various other comparative field studies will enrich and widen the range of research activities in musical aesthetics.

In our own fields too, we have much to do in the area of musical aesthetics, whether at doctoral level or as term papers, seminar papers, round table symposium sessions on various aspects such as relationship between *rāgamālā* paintings and the *rāgas*, detailed analysis of *paramelapraveśaka rāgas* or *rāgas* diverging into a different mode, *sandhiprakāśa* or twilight *rāgas*, time association and seasonal association of *rāgas*, relationship between the contemplative imageries of *rāgas* and *rāginis* in Sanskrit verses and the actual *rāgas* and *rāginis* concerned and all other sundry aspects.

Reconsideration of the age-old sex-wise division of our melodies into *rāgas* and *rāginis* should attract the attention of researches. Random neutralization has dismissed the concept

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

of *rāginīs* and has done away with the masculinity and femininity of our melodies. Do the linguists and grammarians attempt to correct the apparently odd gender system of Hindi language ? Language is like a living organism. Grammer should not be a law-giver. It should rather discover the hidden principles of an organism and its conventions. *Dīpaka* obviously seems to be mascuine and *Sohinī* feminine, *Bhairava* masculine but *Rāmakalī* feminine. Generalization must not mar the subtle aesthetic essences of the maleness and femaleness of the *rāgas* and *rāginīs* respectively. That is why the issue should be reopened.

More objective and data-based research may be done on systematization of the infra-structure of our modes (*thāṭas* and *melas*) apart from the ten broad-based modes arranged by Pandit Bhatkhande and strict mathematical outcome of seventy-two modes arranged by Veṅkaṭamakhī.

Insight and subjectivity play a greater role in the *rasa*-theory. The nine categories of *rasa* may have full play in literature. Bharatamuni tried to associate those with musical notes for application in the theatre. But, when music is in its serene and pure form, it can suggest infinite varieties of sentiments only out of *shṛngāra* and *karuṇa rasas*. *Shṛngāra rasa* alone incorporates both religious and erotic sentiments, both joy of union and pathos of seperation, two principal feelings susceptible to musical aesthetics. Pandit Bhatkhande further suggested that *rasa* itself is a literary aspect, whereas the ultimate effect of music may be called *nādamoha* or tonal trance. Śubhaṅkara had pronounced in his *Saṅgītadāmodara* "*nādarupam param jyotiḥ*" and thereby suggested the luminosity of musical tone. Catura Dāmodara, the author of *Saṅgītadarpaṇa* resorted to a marvellous metaphor to denote and connote the vast ocean of musical *rasa*—

नादाब्धेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती ।
अद्यापि मज्जनभयात्तुम्बं वहति वक्षसि ॥

(Svarādhyāya, śloka 31)

The goddess Sarasvatī herself does not know the limit (of both span and depth) of the ocean of music. Being afraid

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

of drowning, still she carries gourd-shell (attached to her *viṇā*) in her bosom.

After all, all the *rasas* submerge into the vast ocean of music. So we see that music may be pluralistic in manifestation but monistic in its end.

As a dynamic time-art, music has its concomitant *tāla* or rhythm except in the case of *ālāpa*, which has its free time. Musical rhythm is much more virtual than the metre of a poem. The dynamic aspect of sonority is measured and regularized by virtue of rhythm. As sound emerges from unstruck sound (*anāhata nāda*) and dissolves into silence agin, so also rhythm comes out of the eternal flow of the infinite time (*mahākāla*) and merges into that boundless infinite time again. Our musical sensitivity differently responds to different rhythmic patterns of equal beats and unequal division of beats, and those again varying according to different tempi such as slow, fast and moderate. Our whole body sometimes responds to the rhythmic accents, which constitute the germ of the art of dancing.

The art of dancing may or may not be representational, but in each and every case it is rhythm incarnate. Its kinetic impulse has made it a more lively form of art.

In ancient Indian sense, *saṅgīta* included the total gamut of vocal music, instrumental music and dancing. Without losing specialization in each of them seperately, we must not forget their unification which provides much more dimensions of aesthetic enjoyment.

Select bibliography:—

(1) Bharata Muni, *Nāṭyaśāstra*
(2) Abhinavagupta, *Dhvanyāloka*
(3) Mataṅga Muni, *Bṛhaddeśī*
(4) Śubhaṅkara, *Saṅgītadāmodara*
(5) Catura Dāmodara, *Saṅgītadarpaṇa*
(6) Rāmāmātya, *Svaramelakalānidhi*
(7) Śārṅgadeva, *Saṅgītaratnākara*
(8) Somanātha, *Rāgavibodha*
(9) Ahobala, *Saṅgīta-pārijāta*

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(10) Pandit V. N. Bhātkhande, *Hindustāni Saṅgita Paddhati : Kramika Pustaka-mālikā*
(11) Rabindranath Tagore, *Śaṅgita-cintā*
(12) Plato, The Republic
(13) Aristotle, Poetics, Politics
(14) Alexander Baumgarten, Reflexions of Poetry
(15) Edward Hanslick, The Beautiful in Music
(16) Ferruccio Busoni, A New Esthetic of Music
(17) Thomas Munro, Scientific Method in Aesthetics
(18) Susane K. Langer, Feeling and Form
(19) O. C. Ganguly, *Rāgas and Rāginis*
(20) Morris Weitz, ed., Problems in Aesthetics
(21) Leonard B. Meyer, Emotion and Meaning in Music
(22) Kant, Critique of Aesthetic Judgement
(23) K. C. Pandey, Comparative Aesthetics

चर्चा

डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी की टिप्पणीः—

डॉ० रे ने एक बात जो उठाई है, मैं एक या दो 'पॉइण्ट' ही लूंगा चर्चा के लिये, और वह यह कि संगीत को अपेक्षाकृत अमूर्त क्यों कहा जाए ? संगीत को अमूर्त कहने के लिए आधार क्या हो सकते हैं ? 'एॅब्स्ट्रॅक्शन' (अमूर्तता) की बात और उसका आधार क्या हो सकता है ? क्योंकि आख़िरकार तो संगीत में और विशेषतः वादन और गान में एक रूप तो, आकार तो मौजूद ही है, भले ही वह नादात्मक आकार हो, ध्वन्यात्मक आकार हो। सुनिश्चित आकार जब आते ही हैं, तब फिर उसको आकाररहित कहना, रूपरहित कहना, शरीररहित कहना और इसलिए अमूर्त कहना कहाँ तक संगत है ? एक मूलभूत प्रश्न आपने उठाया है, इसलिए उस का प्राचीन भारतीय चिन्तन से जो जवाब हो सकता है वह मैं आपके सामने रखना चाहता हूँ। और वह यह है कि अमूर्त कहने का तात्पर्य अपेक्षाकृत सूक्ष्म कहना है। अपेक्षाकृत सूक्ष्म कहने से किसी कला की 'सुपीरियॉरिटी' (श्रेष्ठता) साबित नहीं होती, कलाशैली की या कला प्रकार की उत्तमता या निकृष्टता सूक्ष्म कहने से ऐसा तात्पर्य नहीं है। सूक्ष्मता कहने का आधार यह है कि कुछ कला प्रकारों के ग्रहण करने के लिए एकाधिक इन्द्रियों का हम उपयोग करते हैं और एकाधिक इन्द्रियों से ग्राह्य हैं। कुछ ऐसी हैं जिनके लिए एकेन्द्रिय की ही आवश्यकता है मन के साथ, आत्म-मनसंयोग के साथ एकेन्द्रियग्राह्यता,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रोत्रमात्र-ग्राह्यता। श्रव्य है कला और श्रव्य होने के कारण वह श्रवणेन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रियमात्रग्राह्य है। उसकी अपेक्षा नर्तन में श्रोत्र के साथ चक्षुरिन्द्रिय का उपयोग हो रहा है। जहाँ पर ऐसी बात आती है वहाँ पर ये माना जाता है कि कम से कम इन्द्रियग्राह्यता के द्वारा कलाप्रकार की सूक्ष्मता एक तरह से व्यंजित होती है। केवल इसी दृष्टि से अमूर्तता की बात कही गई है। अमूर्त कहने से कोई कलाप्रकार किसी दूसरे कलाप्रकार से उत्तम बन जाय, यह तात्पर्य नहीं है, कम से कम प्राचीन भारतीय चिन्तन में। क्योंकि जहाँ भी यह बात कही गई, जो 'कॉस्मोगॉनी' (ब्रह्माण्डोत्पत्ति) और 'कॉस्मोलॉजी' (ब्रह्माण्ड-विज्ञान) के संदर्भ में भी यह प्रश्न सूक्ष्मता और स्थूलता का उठाया गया तो 'एकस्मात् आत्मनः आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः, वायोः तेजः, आपः पृथ्वी'। तो जहाँ पर इस प्रकार की सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन किया गया है, वहाँ भी यही आधार माना गया है कि आत्मा सूक्ष्मतम है, क्योंकि वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है। पुनः आकाश एकेन्द्रियग्राह्य होने के कारण उस आत्मा से उत्पन्न है: आकाश की अपेक्षा तेजस् अधिक स्थूल है, क्योंकि उसमें दो इन्द्रियाँ आती हैं। फिर उसकी अपेक्षा रस है, फिर उसकी अपेक्षा गन्ध है। और इस सबको लेकर पृथ्वी को स्थूलतम निर्दिष्ट किया गया। तो इस प्रकार इन्द्रिय के आधार पर स्थूलता का, मूर्तता और अमूर्तता का निर्धारण करते हुए चर्चा, ये भारतीय चिन्तन से अनजान नहीं है। इस दृष्टि से 'ऍब्स्ट्रॅक्शन' की बात भारतीय कलाशास्त्र में और सौन्दर्यशास्त्र में उठाई गई है, शायद इसलिए इसको असंगत नहीं कहा जा सकता, ये अपनी जगह पर संगत है।

डॉ. इन्द्रदेव तिवारी की टिप्पणी और प्रश्न—Dr. Ray has not speculated only one factor of music, rather he has tried to grasp the spirit of music. In the beginning he was emphasizing the nature of music. What is the nature of music ? One thing which he emphasized which was very appealing is the ambiguiiy of music which we feel when we listen to music. Students and scholars who know a lot about music, for them it may not be very important because music becomes their '*dharma*' music becomes their culture. But ambiguity is more important for those who are the beginners. More because most of us studying music and doing research in music are proud or emphasize that there is no ambiguity in music.

Second thing Dr. Ray very minutely defined is the difference between eastern and western aestheties of music. He

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

also very elaborately defined the relation of music with other fine arts.

But I have one doubt in my mind. You were describing something about originality and universality of music. Would you please define this point somewhat more clearly ? Because I feel when you were talking about originality of music and universality of music you were talking about one music.

वक्ता का उत्तर—There are two extremistic views of aestheticians who consider music regional or universal. So I suggest that after familiarity and acquaintance, after passing the barriers of musical styles and forms, we can appreciate that. Each and every music is after all universal.

डॉ. तिवारी की टिप्पणी—Universality to my mind is that there is something common in every music irrespective of geographical territories. There is something in every music which forces us to keep on listening to that music, and that is rather more related with tonal effect of that music.

डॉ. नलिनी का प्रश्न --When you mentioned the universality of any good piece of music, I would like to ask you what are the criteria of selecting a good piece of music ? This is related to the appreciation of any type of music.

उत्तर—Suppose a khyāl presented by Ustad Bade Gulam Ali khan, if we think that it is a very good piece of music or Beethoven's moonlight Sonata execllent piece of music, familiarity is required to understand the universal appeal of a piece of music. If I listen to Beethoven's moonlight Sonata for the very first time I may not be able to grasp everything. I may not be able to extract much enjoyment from it. But if you help me in the way the western music runs I shall be able to understand. I suggest that this barrier of form and style will be done away with after familiarity. In case of literature it is much more prominent. If I do not know English, I shall not be able to follow Macbeth. If I do not know Sanskrit I shall not be able to follow Abhijnānśākuntalam. But after passing the barrier of language, if I learn that languge, I shall see that somehow or other the characters may be western characters or

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

eastern characters. somehow or other they are after all human beings and there is some sort of universality. So the forms, the styles and execution may differ from country to country, from region to region, but in the long run the aesthetie essence what is called 'phalaśruti'—after effect. There is some sort of universality.

डॉ. नलिनी की शंका—But still I believe that your familiarity with that specific Sonata of Beethoven does not mean that sonata is a good piece of music. That is the point I wanted to reach. For instance a particular piece of western music can be popular in India which is a very controvercial piece of music in western circle. But I feel many people here, much educated people, they will like that piece and same way in the west many people will prefer dhrupad to khayāl on some very fancy reasons which have absolutely no ground, And they would prefer this singer to that singer, I would not give any name, who are not good singers from your point of view. So it is not your familiarity with specific piece of music which would make this piece of music good.

उत्तर—Taste many differ from person to person. Suppose I am fond of dhrupad and someone may be fond of every thing. Taste may differ. Suppose I don't like to listen to modern film songs but my wife likes to listen to those songs. That is the question of taste. But after all, I pointed out to classical music. The classical means the best products.

श्री संजय बनर्जी का प्रश्न—What I think is, good or bad are veıy relative terms. There is nothing called good or bad, people make it so. It depends how he was taught, how his education took place. A group of people say that Gulam Alī Khan is a very good vocalist but may be some Agra Gharānā followers will differ with this opinion. And when you say this universality of music, you say that you have to cross the barrier. Barrier means you ought to get yourself acquainted with the understanding of music. It means that you make yourself regional. How you say that this is universal music? Can you explain?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्तर—Not universal music but I say universality of music. I don't claim some seperate entity as universal music. I just pointed out the universal appeal of music. Whether music is a universal language or not, is a problem, is a question, asked by the modern aestheticians. Some claim that music is regional, music is limited to one's own country, one's own culture and some again claim that no, music is universal. I myself cannot claim to be seperate from others.

श्री बनर्जी का प्रश्न—I am referring to opposite statements. One is the music is regional, the other is the music is universal Please say what of these, what do you believe yourself whether music is universal or regional ?

उत्तर—Form and style are regional, There is no doubt that form and style execution must be regional but after-effect may be universal.

श्री बनर्जी का प्रश्न—The feeling of music is very independent, very personal. Japanese music may not appeal to you, Indian music may not appeal to Japanese person and also I think the 'sruti' difference is different. We have several, sorts of music. So, you know. we can't do it like that, we can't explain like that.

I have another question about pure music. How do you define it ?

उत्तर—Pure music unaided by any sort of lyric or any sort of theatre when it is instrumental classical music. The term 'pure' I used only to stress music not allied wilh poetry. When I see a song, 'sthaī-antarā', it has its semantic meaning that may affect our sense perception, that may affect our mind while enjoying its tune. But when I listen to the tune alone, it will be as good as pure music. By pure music I mean only the tonal form of music.

डॉ० त्रिपाठी की टिप्पणी—यह सारी बहस, प्रश्न और उत्तर, संगीत की सार्वभौमिक भाषा होने या एक आंचलिक भाषा होने के इर्दगिर्द घूम रही थी। यदि संगीत को एक सार्वभौम भाषा कहा जा सकता है तो किस अर्थ में और उसको किसके समकक्ष रखा जा रहा है। सार्वभौम कहते हुए 'जक्स्टापोज़' (आमना-सामना) कहाँ किया जा रहा है, अगर यह बात स्पष्ट हो जाय तो यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सवाल भी साफ़ होता है और उसका उत्तर भी कोई ऐसा दुरूह नहीं होगा। संगीत को सार्वभौम कहने का, संगीत की भाषा की परिव्याप्ति, उसकी व्यापकता, इस भाषा की अपेक्षा जिसका हम व्यवहार करते हैं ज्यादा है, इसको कहने का तात्पर्य क्या है ? इसका उत्तर भी यहीं से आयेगा कि शब्द के द्वारा, वाचक के द्वारा वाच्य क्या है और संगीत के द्वारा सम्प्रेष्य क्या है ? यदि सम्प्रेष्य का निर्णय हम ठीक-ठीक कर दें तो उसकी अपेक्षा से संगीत की भाषा की व्यापकता की बात और इस भाषा की अपेक्षाकृत न्यून परिव्याप्ति की बात भी साफ़ हो जाती है। स्पष्ट है कि जो भाषा हम शब्द की बोलते हैं, उसमें एक शब्द का जो अर्थ है उसकी परिधि बहुत व्यापक है। शब्द के द्वारा जो वाच्य है इस वाच्य-वाचक भाव की परिधि बहुत व्यापक है। हम 'घट' शब्द से एक मूर्त को सम्प्रेषित कर सकते हैं और इस शब्द से यह अर्थ बोधित किया जाय, इसको एक 'कन्वेन्शन' (रूढ़ि) के ज़रिये तय कर लेते हैं। और इसलिए भाषा एक सुनिश्चित मूर्त अर्थ को कहने में समर्थ होती है। संगीत के द्वारा जो सम्प्रेष्य है क्या उसकी परिव्याप्ति इतनी व्यापक हो सकती है ? क्या नाद के द्वारा घट का सम्प्रेपण हो सकता है ? जब सम्प्रेषण नहीं हो सकता नाद के द्वारा, नाद के द्वारा सम्प्रेष्य अर्थ की सीमा दूसरी है तो उसकी सीमा उसकी व्यापकता का विस्तार कर देती है। आन्तरिक बात यह है कि नाद से सम्प्रेष्य क्या है और शब्द से सम्प्रेष्य क्या है ? शब्द की सम्प्रेष्यता को विराट् और अधिक व्यापक रूप में हम देखते हैं। इसलिये उसकी परिधि, समझ की परिधि कम हो जाती है। नाद की सम्प्रेष्यता कम है, इसलिए उसकी समझदारी, उसकी परिव्याप्ति, परिधि ज्यादा बढ़ जाती है। इस दृष्टि से संगीत को अगर एक सार्वभौम भाषा कहा जाय तो यह कहना संगत होता है। अब तो यहाँ तक बात आ पहुँची है, उठाई जाती है, संगीतशास्त्र के लिए यह विषय अपरिचित नहीं है कि संगीत का सम्प्रेष्य होता भी है या नहीं होता है ? कोई अर्थ उससे सम्प्रेषित किया जाता है या नहीं किया जाता है ? शुद्ध संगीत और शुद्ध नर्तन के द्वारा क्या सम्प्रेष्य होता है, एक अलग बहस की बात है, एक अलग क्षेत्र है, जिसको उठाया जा सकता है। शुद्ध संगीत और शुद्ध नर्तन की बात कहते हुए उसकी काव्य के ऊपर आश्रयणीयता किसी तरह से मानी जाय, शब्द के साथ संबंध माना जाय या न माना जाय—ये सब बहस के दूसरे पहलू हैं जिन पर इससे ही लगकर विचार हो सकता है। तो एक बात सुस्पष्ट तरीक़े से अगर समझ लें तो जवाब भी उसका कठिन नहीं दिखाई पड़ता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूसरी बात है संगीत की आंचलिकता और सार्वदेशिकता की। यह दूसरा प्रश्न था। इन दोनों बातों को हम एक दूसरे से जुड़ा हुआ यहाँ देख रहे थे। संगीत के वे कौनसे तत्त्व हैं जो आंचलिक हैं और वे कौनसे हैं जो सार्वदेशिक हो सकते है, सार्वभौम हो सकते हैं? और क्या इनमें परस्पर विरोधिता हैं? स्पष्ट रूप से परस्पर विरोधी नहीं हैं। अनुभव कहता है कि इसमें परस्पर विरोधिता नहीं है। संगीत की आंचलिकता से उसकी सार्वभौमिकता उद्भूत होती है। जितना आंचलिक, जितने प्रामाणिक रूप से आंचलिक या प्रादेशिक होता है या देशीय होता है, उतने ही अधिक सशक्त रूप में वह सार्वभौम हो सकता है। एक वृत्त का विस्तार मण्डल के रूप में हो सकता है। अगर हम आंचलिकता या देशिकता को एक बिन्दु के रूप में देखें तो सार्वभौमिकता उस बिन्दु का विस्तार एक 'सर्कल' के रूप में है, मण्डल के रूप में है। निर्भर इस पर करता है कि वह आंचलिकता कितनी प्रामाणिक है? और इसलिए, कम से कम भारतीय दृष्टि तो यही है। बिन्दु और जो चक्र का, बिन्दु का और मण्डल का जो संबंध है, आंचलिकता का और सार्वभौमिकता का वही संबंध उसी रूप में यहाँ देखा गया है। इसलिए सारे भारत का संगीत आंचलिक होते हुए भी भारतीय है। यह जो अन्तः संबंध होते हुए दिखाई पड़ता है, किसी भी प्रदेश का, किसी भी अंचल का संगीत भरत के नाट्यशास्त्र के साथ जुड़ जाता है। किसी भी प्रदेश का रंगमंच, रंगकर्म, सम्पूर्ण भारतीय रंगकर्म नाट्यशास्त्र के साथ जुड़ जाता है। वह अपनी देशिकता और अपनी कालिकता को, जो सीमित वाचिकता को अतिक्रान्त कर जाता है वह इसी कारण, बिन्दु और मण्डल का जो संबंध है वह बिन्दु और मण्डल का संबंध यहाँ पर देखना चाहिए। ये कुछ बहुत ही मूलभूत बातें हैं। अगर इनको हम ध्यान में रखें तो इसका अन्तर भी साफ़ तौर पर समझ में आता है।

डॉ० शर्मा की टिप्पणी—मैं जो कुछ कहने जा रही थी उसका अधिकांश हमारे भाई कमलेशदत्तजी कह चुके हैं। फिर भी मैं कुछ भिन्न शब्दों में उसी बात को और थोड़ी सी दूसरी बात रखूंगी, बस। अधिक पिष्टपेषण बिल्कुल नहीं करूंगी। सवाल यह है कि हम झगड़ रहे हैं एक वाक्य पर और बहुत बार इस पर झगड़ा चलता है। यह एक वाक्य है 'म्यूज़िक इज़ ए यूनिवर्सल लैंग्वेज' (संगीत एक सार्वभौम भाषा है)। मैं यह पूछती हूँ कि 'वॉट इज़ लैंग्वेज' (भाषा क्या है) पहले यह तो समझें। 'लैंग्वेज क्या है? 'लैंग्वेज' से हम समझते हैं शब्द की भाषा। देखिये, हम आप अब हिन्दी में बात कर रहे हैं, अभी अंग्रेज़ी में बात कर रहे थे, ये भाषा क्या है? भाषा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यह है कि हर शब्द का एक निश्चित अर्थ है। जो वाच्य की बात आपने की, मैं बिल्कुल मोटी अकल की बात करूँ। मैं तो वाच्य-वाचक, जो शास्त्रीय शब्द हैं, बहुत अच्छे शब्द हैं, वे भी नहीं कह रही हूँ। मोटे ढंग से बात रखती हूँ कि हर शब्द का एक निश्चित अर्थ है। अगर हम उस अर्थ को जानते हैं तो बात को समझेंगे और नहीं जानते हैं तो नहीं समझेंगे। यह 'लैंग्वेज' का एक पक्ष है और बड़ा सशक्त पक्ष है। वास्तव में 'लैंग्वेज' इसी से बनती है। शब्द अर्थ का संबंध न हो तो कोई भाषा नहीं बनती। ठीक उस अर्थ में संगीत भाषा है क्या? नहीं है। पहला उत्तर है, नहीं। वह मापदण्ड मत लगाइये वहाँ। मैं हिन्दी में आपको बता सकती हूँ कि आपको छत्तीसगढ़ एॅक्स्प्रेस पकड़नी है, इतने बजे यहाँ से बस मिलेगी। यह बात क्या नाद द्वारा कही जा सकती है? यह 'इन्फ़ॉर्मेशन (जानकारी) नाद नहीं देगा। भाषा जो है वह सूचना दे सकती है आपको। हम कहते हैं कि जो काम भाषा कर सकती है, वह सब काम संगीत कर सकता है, ग़लत बात है बिल्कुल सरासर ग़लत बात है। उससे बड़ा काम कर ले पर वह नहीं कर सकता। यह सूचना आपको नहीं दे सकता कि इतने बजे आप जाइये और राजनाँदगाँव जाइये या डोंगरगढ़ भी जा सकते हैं। वहाँ जाना हो तो इतने बजे की बस पकड़िये। यह जो सम्प्रेषण का काम भाषा करती है, यह काम अगर हम संगीत को दें तो यह वैसी ही बात है कि जैसे हम बादाम फोड़ने के लिये शालिग्राम का उपयोग करें। बादाम तो किसी भी पत्थर से टूट जायेगा, उसके लिये शालिग्राम की क्या जरूरत है? यानी दोनों के काम बिल्कुल भिन्न हैं, यह अगर समझ लें तो झगड़ा कहीं है ही नहीं।

लेकिन मैं थोड़ी सी बात और कहने जा रही हूँ। मैं वह कहने जा रही हूँ कि संगीत जो है भाषा से सर्वथा स्वतंत्र या बिल्कुल स्वायत्त है जिसको अंग्रेजी में 'ऑटोनॉमस' कहते हैं, संस्कृत का शब्द है स्वायत्त। अभिनवगुप्तपाद ने इसी शब्द का प्रयोग किया है। तो स्वायत्त संगीत हो सकता है यानी ऐसा भी एक स्तर है संगीत का जहाँ आप ऐसा कोई सम्प्रेषण करना चाहते ही नहीं या करते नहीं जिसकी शब्दों में व्याख्या हो। आप घंटा भर एक राग गाइये तो आपको कोई पूछे कि आपने क्या कहा? आप कहेंगे कि हमने कुछ नहीं कहा। आप क्या कहना चाहते है? कुछ नहीं कहना चाहते। यानी जिस दृष्टि से आप पूछ रहे हैं कि आप क्या कहना चाहते हैं, उस दृष्टि से तो हम कुछ नहीं कहना चाहते। कोई हमसे पूछे कि घंटा भर आप दरबारी 'ऍं ऍं.....' कर रहे हैं, क्या कर रहे हैं आप? कुछ कहिये तो। कुछ नहीं कह रहे हैं हम। हमारे हजारीप्रसाद द्विवेदीजी उदाहरण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देते थे कि कोई गायक गा रहा था—सोने की गडुरिया, सोने की मटकी लेके पानी भरन चली—ऐसे गीत गा रहा था। एक कड़ी को लेकर उसने घंटा भर, ठुमरी गा रहा था तो तरह-तरह से, प्रकारान्तर से 'सोने की गडुरिया पानी भरन चली' गाया। अब जितने सहृदय श्रोता थे, यहीं सहृदयता की बात है, परम मग्न थे, परम आनन्दित थे। उनमें से एक कोई था जो उसमें से भाषागत अर्थ ढूँढ रहा था। यही भाषा की बात है। उसने कहा कि भई आगे तो बढ़ो कि क्या हुआ? वह पानी भरने गई तो फिर क्या हुआ? अरे, गिरी कि मरी कि घर लौटी कि नहीं? क्या हुआ आख़िर? यह काम भाषा का है। अगर मैं यहाँ बैठकर बिना संगीत के और यह वाक्य दस बार बोलूँ तो आप कहेंगे कि शायद मेरा दिमाग़ ख़राब हो गया है, आगे बढ़ ही नहीं रही। लेकिन अगर इसे गाऊँ पचास बार भी, तो दिमाग़ ख़राब नहीं हुआ है क्योंकि वहाँ मेरा यह आशय नहीं है कि हम घटना को आगे बढ़ाएँ। घटना को आगे बढ़ाना भाषा की ज़रूरत है, संगीत की ज़रूरत नहीं है। जो शब्दों की भाषा है उसमें घटना कोई कहने चले तो बात आपको आगे बढ़ानी ही पड़ेगी। एक बिन्दु पर आकर आप उसी को बार-बार कहने लगें तो कुछ भी बात नहीं बनेगी। लेकिन संगीत में आपको बात आगे बढ़ाना या कोई सूचना देना या कोई घटना पूरी करना या कहना, यह तो आपका उद्देश्य है ही नहीं। नाट्य के साथ जब संगीत जुड़े तब उद्देश्य हो सकता है, वह उसका सहायक है उस समय। तो इस प्रकार संगीत की ये दो सर्वथा पृथक् धाराएँ हैं, इनको नाट्यशास्त्र ने बड़े स्पष्ट शब्द में स्वीकार किया है। यह आज की बात नहीं है, बहुत ही निर्भ्रान्त रूप से, बिल्कुल निःशंक रूप से ये दो धाराएँ प्रतिपादित की हैं। एक धारा है जिसमें काव्यार्थ का प्रेषण बिल्कुल हमारा उद्देश्य नहीं है। दूसरी धारा है जिसमें काव्यार्थ का सम्प्रेषण आवश्यक है। जिसको अभिनय कहा है उसके पीछे काव्यार्थ रहना ही चाहिए। जिसको नृत्त कहा है उसके पीछे काव्यार्थ की कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन आप यह नहीं कह सकते कि उसका कोई अर्थ नहीं है। उसका जो अर्थ होगा वह नृत्तात्मक ही होगा, उसका अर्थ भाषात्मक, उसका अर्थ शब्दात्मक या काव्यार्थात्मक नहीं होगा। इतना ही अन्तर है और कुछ नहीं। निरर्थक नहीं है लेकिन भाषा की दृष्टि से निरर्थक है। हम अगर यह समझ लें कि अर्थ भी दो प्रकार का है, भाषा भी दो प्रकार की है, एक तो वह भाषा जिसमें कि हम और आप एक-दूसरे को सूचनाएँ देते हैं, लेते हैं, घटनाएँ कहते हैं, सुनते हैं, विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। 'कम्यूनिकेशन'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सम्प्रेषण) तो संगीत में भी है, वह अलग ढंग का 'कम्यूनिकेशन' है, 'कम्यूनिकेशन' एक विशेष स्तर पर, यह समझने की बात है। 'कम्यूनिकेशन' नहीं है तो किसलिए सुनता है, कौन गाता है ? लेकिन 'कम्यूनिकेशन' किस बात का ? मैं यह कह रही हूँ, यह समझने की बात है। भाषा का 'कम्यूनिकेशन' 'इन्फ़र्मेशन' (सूचना) का है, विचारों का है, घटनाओं का है, यह सब कुछ है। यह जो स्वायत्त संगीत है, स्वतंत्र संगीत है, उसका यह काम नहीं है। इससे इस काम की आशा रखना उसके साथ ज्यादती है, अन्याय है।

अब बात यहाँ आती है कि यह प्रादेशिक है या सार्वदेशिक है। यहाँ पर मैं आपको पुनः भाषा के क्षेत्र में ले जाऊँगी। जो हमारी आपकी शब्दों की भाषा है, जिसके कि नियत अर्थ हैं, जो कि जानने पर ही आ सकते हैं, जो आदमी नहीं जानता वह नहीं समझेगा। लेकिन उसमें भी कुछ तत्त्व ऐसा रहता है कि जो नहीं जानता वह भी समझता है। इसकी ओर जरा सा ध्यान दीजिये, अभी समझ में आ जायगा। दो आदमी लड़ रहे हैं, तमिल में लड़ रहे हैं। मुझे एक शब्द भी तमिल नहीं मालूम है लेकिन मैं समझ जाती हूँ कि यह लड़ रहे हैं। क्या कह रहे हैं आपस में, यह नहीं समझ में आता। लड़ रहे हैं इतना बिल्कुल समझ में आता है। क्यों समझ में आता है ? वहाँ शब्द और अर्थ का सम्बन्ध जोड़ कर हम नहीं समझ रहे कि ये लड़ रहे हैं। मैं कैसे समझ जाती हूँ कि ये लड़ रहे हैं, भले ही तमिल में बोल रहे हैं ? वह इसलिये कि उनका जो स्वर है, चढ़ा हुआ है। या मान लीजिये कहीं से आवाज़ आ रही है और हमें दिखाई नहीं दे रहे हैं। यानी उनकी मुद्राओं से हम कुछ समझ रहे हों यह भी नहीं है। आवाज़ से, आवाज़ के प्रयोग से, आवाज़ के उतार-चढ़ाव से इतना समझ में आ जाता है कि ये लड़ भी न रहे हों, किसी उत्तेजना की स्थिति में है। उत्तेजना है अथवा शान्ति है, लड़ाई है अथवा प्रेम है, इतना समझ में आ जाता है मोटा-मोटा। ये जो बिल्कुल सर्वथा दो कोटियाँ हैं अनुभव की, तो यह जो शब्दों की भाषा है, यह भी कब सार्वदेशिक बन जाती है ? उस स्थिति में जब कि उसका नादात्मक अंश अपना काम करता है, वह इतना ज़रूर बता देगा कि सद्भाव से बात हो रही है या दुर्भाव से हो रही है ? शान्ति में हो रही है या उत्तेजना में हो रही है ? प्रेम से हो रही है या बैर से हो रही है ? इतना बता देगा। बाक़ी ये नहीं बता सकता कि ये पानी के लिये लड़ रहे हैं या हवा के लिये लड़ रहे हैं या धरती के लिये लड़ रहे हैं, किसके लिये लड़ रहे हैं, यह नहीं बता सकता। लड़ रहे हैं, इतना बता सकता है। अगर ये जानना है कि लड़ने का कारण क्या है और उसका धरातल क्या है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तो शब्दों में जाना पड़ेगा। तो भाषा में वह जितना सा अंश है, जो कि वाच्य-वाचक के संबंध पर आश्रित नहीं है और फिर भी भाषा के भीतर हमारा व्यवहार चलते हुए भी अगर हमें कुछ अर्थ समझ में आता है तो यह अर्थ ऐसा है जो आपके भाषा के अर्थ से भिन्न है। भाषा का अर्थ समझ में आता हो, तो फिर पानी, हवा, धरती, आकाश सब समझ में आ जायगा। वह नहीं आता है लेकिन केवल एक मनःस्थिति व्यक्त होती है और मनःस्थिति भी एक बड़े व्यापक रूप में। मनःस्थिति के तमाम विश्लेषण हो सकते हैं, ईर्ष्या से उसका उद्भव हुआ कि उसका उद्भव क्रोध से हुआ, ये तमाम भी पता नहीं चलेगा उससे। एक मोटे रूप से पता चलेगा कि उत्तेजना या शान्ति है। दो जो छोर हैं अनुभव के, ये छोर पता लग जाएँगे। बस उतना सा उसमें संगीत तत्त्व है। नाद ही अपना काम कर रहा है वहाँ, वाच्य-वाचक संबंध अपना काम नहीं कर रहा है। तो भाषा में भी नाद का प्रवेश है, लेकिन नाद भाषा के प्रवेश के बिना भी रह सकता है। भाषा नाद के प्रवेश को बाहर नहीं कर सकती। आप भाषा बोलेंगे तो किसी स्वर में तो बोलेंगे। आप यह नहीं कह सकते कि मैं ऐसे बात करूँगा कि कोई स्वर ही न आये। यह हो ही नहीं सकता। आप उसको 'फ़िल्टर आउट' (निकाल) नहीं कर सकते। भाषा में से आप स्वर को 'फ़िल्टर आउट' नहीं कर सकते। स्वर में से भाषा को 'फ़िल्टर' कर सकते हैं, पहली बात समझ लेने की है, इसलिये यह झगड़ा सब बिल्कुल बेकार है। सार्वभौम भाषा है, लेकिन उस अर्थ में नहीं जिसमें आप भाषा को समझते हैं। यह तो समझिये कि भाषा क्या है? अर्थ क्या है? 'अर्थ' का अर्थ क्या है यह तो समझ लें। अर्थ अगर शब्दार्थ है तो वह संगीत में रहना कोई जरूरी नहीं है। अर्थ अगर केवल विशुद्ध रूप से चित्तवृत्तिपरक है, तो वहाँ 'यूनिवर्सैलिटी' (सार्वभौमिकता) संगीत की आयेगी क्योंकि वह नादप्रधान है। भाषा में भी जब नाद अपना काम करता है तो जब विशुद्ध नाद का काम होगा तो क्यों नहीं करेगा?

अब यह जो कहा गया कि एक संस्कृति का आदमी दूसरी संस्कृति के संगीत को जल्दी से नहीं समझ सकता, बिल्कुल ठीक है। और ये आपने ठीक कहा कि उसके 'फ़ॉर्म' (रूप) को वह 'एँनॅलाइज़' (विश्लेषण) नहीं कर सकेगा। यानी उसके 'फ़ॉर्म' को समझना उसके लिये संभव नहीं है। लेकिन उसके भीतर भी आप सुनिये, अगर कोई भी 'सिम्फ़नी' सुनिये तो उसमें क्या होता है? उसके हर 'मूवमेण्ट' (खण्ड) के अन्त में जाकर एक बड़ा 'क्लाइमॅक्स बिल्ड अप' (चरम उत्कर्ष उत्पन्न) करते हैं; जिसको कहा जाय, उसका एक उत्कट रूप खड़ा किया जाता है और वह जहाँ समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हुआ, एक वाद्य से शुरू होगा, धीरे से जैसे कोई विलाप कर रहा है। १९६६ में मेरा पहला साक्षात्कार हुआ पाश्चात्य संगीत से। उसके पहले तो बात ही बात करते थे, कभी रेडियो में सुना होगा थोड़ा बहुत, साक्षात्कार नहीं था। मॉस्को में उसका पहला साक्षात्कार हुआ। तो मुझे लगा कि अरे यह तो नाट्यशास्त्र में जो कहा है कि रौद्र से करुण उद्भूत होता है, वह जब उस पर पहुँचे, 'मूवमेण्ट' के अन्त में बिल्कुल 'क्लाइमॅक्स' पर पहुँचे, और वह समाप्त होते ही बड़ा 'कन्ट्रास्ट' (वैपरीत्य), वह एक क्षण में समाप्त—ऐसा 'कन्ट्रास्ट' भारतीय संगीत में नहीं आता। हम समाप्त भी करेंगे तो धीरे-धीरे करेंगे। लेकिन वहाँ एक चोट से जैसे समाप्त किया और फिर एक वायलिन की हल्की सी आवाज़ से अगला 'मूवमेण्ट' शुरू होता है, बाद में और वाद्य पकड़ते हैं। पहले बड़े हल्के से अगर शुरू होता है तो लगता है कि वहाँ रौद्र पर समाप्त हुआ था, यह करुण से शुरू हो रहा है। अब ये रौद्र और करुण नाम न भी दें, इनको भी 'लेबल' लगे हुए हैं। ये भी हमारी संस्कृति के नाम हैं, दूसरी संस्कृति में न हों, न दें, कोई भी नाम ले लीजिए। शान्ति कह लीजिए, या उत्तेजना और शान्ति कह लीजिए, या कठोरता और कोमलता कह लीजिये, परुषता-लालित्य कह लीजिये, सुकुमार-उद्धत कह लीजिये। कुछ भी कह लीजिये, बहुत शब्द हैं उसके लिये। लेकिन जिसको 'फ़ॉर्म' नहीं भी समझ में आ रहा है उतना तो उसको भी समझ में आ रहा है। बस इतना सा ही 'यूनिवर्सल' है शायद। यह नहीं समझ में आया कि यह कैसे इन्होंने 'बिल्ड अप' (निर्मित) किया, इसमें हार्मनी के कौन से सिद्धान्त काम में लाये। लेकिन इतना समझ में जरूर आया कि यह तुमुलता के बिन्दु पर पहूँचाया। जैसे गीता में कहा है न जब युद्ध शुरू हुआ तो इधर से शंख बजने लगे, इधर से ये नगाड़े—'सशब्दस्तुमुलोऽभवत्' जो तुमुल एक बिन्दु पर पहुँचाने के बाद फिर एक बिल्कुल, बहुत ही मृदु बिन्दु से पुनः आरम्भ हुआ है, तो ये मार्दव और ये तुमुलता—इतना तो समझ में आता है, ये तो किसी को भी समझ में आता है। बस इतनी 'यूनिवर्सेलिटी' है।

तो मैं फिर से संक्षेप में, एक बार सूत्र में, कह दूं कि भाषा का अर्थ यदि शब्दों की जो भाषा है वह लेंगे, तो सरासर ग़लती है अगर हम कहें कि 'म्यूज़िक इज़ ए यूनिवर्सल लैंग्वेज', बिल्कुल नहीं है क्योंकि शब्दों से जो अर्थ समझ में आता है, अगर बँगला भाषा आती है, तो बँगला के गीत का काव्यार्थ समझ में आयेगा। लेकिन अगर भाषा भी नहीं आती है, तो उसकी जो स्वर योजना है, और स्वर के साथ हमें लय को भी कभी नहीं छोड़ना चाहिये, हम सभी यहाँ 'टोन-टोन' (स्वर) की बातें कर रहे हैं, किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ने 'टॅम्पोरल' (कालिक्ता) नाम ही नहीं लिया, वह भी लेना चाहिए। 'टॅम्पोरल' योजना भी तो है, उसका भी तो बड़ा असर होता है। तो उसका जो प्रभाव हो सकता है, किसी संवेदनशील चित्त पर, वह तो होगा ही। भले आप रूप का विश्लेषण कर सकें या न कर सकें। वह जितने से अंश में है उतनी सी ही 'यूनिवर्सॅलिटी' है. शेष तो जरूर 'रीजनल' (क्षेत्रीय) है और होना ही चाहिए। कोई भी 'पर्फ़ॉर्मेंस' (प्रयोग) 'रीजनल' हुए बिना 'पर्फ़ॉर्मेंस' नहीं है। यह सब बिल्कुल लिख कर रख लीजिये, चाहे पत्थर पर लिख लीजिये। प्रयोग को क्षेत्रीय होना ही होगा। 'पर्फ़ॉर्मेंस' 'नॉन रीजनल' होगा, जैसा आपने कहा, जितने प्रामाणिक रूप से, जितने सच्चे रूप से 'रीजनल' होगा, उतना अधिक प्रभावशाली होगा। कोई जरूरत नहीं उसको 'नॉन रीजनल' होने की, जरूरत है तो इतनी ही कि वह अपने में प्रामाणिक रहे। आपको कोई भाषागत अर्थ बताने की जरूरत नहीं है। उसके द्वारा जो काम होना है वह स्वतः हो जायेगा क्योंकि स्वर-लय का एक अपना असर है। यदि श्रोता सहृदय है तो उतना सा अंश वह जरूर समझ जायेगा। हाँ, यह नहीं समझेगा कि उसमें अगर पद है वह पद क्या कह रहा है।

श्री. सुलियासी तमनलेवु (फ़िजी से आये एक छात्र) का प्रश्न—I am unlucky because most of the valuable information coming from speakers this morning could not get into my brain, because I don't understand Hindi. Mr. Tripathi and you Madam have explained in Hindi. My problem is that it has not been explained in English. The problem is this. Before coming here, Indian commission told, "you are going to India, there you will be learning Indian classical music. Music is a universal language and you will learn it." So I came here. I used to play in one small orchestra with the help of staff notation. When I came here I was introduced to the 'svara-s' sa, re ga, ma, pa, dha, ni, and I could not get these and even now I have to struggle in my sitar lessons. So I am asking is it really true that music is a universal language ? I think this thing has been explained in Hindi by speakers. can madam explain this in English ?

डॉ. शर्मा द्वारा अंग्रेजी में वक्तव्य—He has only requested me to explain to him in English how or why music is said to be a universal language and if it is so why he is still struggling ? If it was universal, it should come to him very naturally, very

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

normally. Why does he have to struggle to get the right intonation of Indian music ? So it is a question of intonation. This is a question which has come from his own experience. It is a part of his life. It is not just an academic question. Your question is very pertinent. You say if music is a universal language, as you were told by the High Commissioner, why is it that even after spending one year in this country you are still struggling to get the right intonation of Indian music.

As I said this very sentence "music is a universal language" is very misleading. Misleading in the sense the word 'language' has been used here. Language is that in which each word has a definite meaning. Whatever language we use we know this word means this thing, this word means this thing. It has a definite meaning either with reference to particular things or with reference to ideas or with reference to emotions or with reference to time or space or things like that. This is language. Is music a language like that ? It is not. If we say it is a universal language, then it is a language of a different category. It is not a language of the category of Hindi or English or Bengali or Marathi or whatever it is. Because these languages have words with definite meanings. Each language has definite connection through convention with each word and its meaning. Music does not have meaning in that sense. Through music you cannot communicate information. If you play something, yes, If you make a code that 5 o'clock means five strokes on a drum, that signal language can be played on musical instruments but then it is not music. Then you are using the musical instrument for a different purpose. And musical instruments have been and are still being used for this purpose. In the classroom you bang on the bell. Now bell is a musical instrument. But when it is used for indicating that the period of 45 minutes is over, it is not music. Although bell is a musical instrument, you are not using it for giving delight or creating beauty. You are using it to convey a certain information. And musical instruments have been used from times immemorial for this purpose also. The drums have been used to give a signal of flood, of fire, of attack by an enemy. That is a code language coined to be played on the instrument, but then it is not music.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

So when we talk of mustc per se we are not communicating any information or ideas, we are not narrating any incident, we are not narrating stories music per se. I call it pure music although these terms are also very loaded and I feel very hesitant to use even the word 'pure music', but let us say for the time being. Without an external reference you can use musical tones, you can arrange them without reference to fire or flood or war or thieves or dacoits or anythihg. But then what function of language is it discharging ? It is not discharging those functions which we have given to language, even if it is doing something, it is doing only that part of language which is universal, That is one part of language which is universal and that is your intonation. Supposing you had another person from Figi here and you both start quarrelling. I don't know a word of your language but from your intonation I will know you are not in good mood, you are cross, you are talking cross-wards, you are not in harmony with each other. Something is wrong, this much I will know. But what is wrong, why is it wrong, for what you are quarrelling, this I may not know. It is difficult to know. Even in language there is a part played by intonation which is universal as when a person is quarrelling in English or in French or in German or in Tamil. Of course there also there may be some regional differences. A person quarrelling in Tamil may be more violent with his voice, a French may be less violent with his voice, but there will be a relative relevance because everything is relative. What is the normal speech of a French ? From that mnor you have to judge his violence. Intonation differs even from region to region. But even then there is a certain element of universality in a person quarrelling in French or Persion or Tamil. We have to know their norms. That is very correct, unless sometimes if the norm is different then, even if they are talking normally we might think they are quarrelling. Because it is only the norm which will determine the meaning you attach to a situation. This is a very pertinent point. Norm is termed as 'madhya' in our country. What is 'madhya' ? 'Madhya' is that which is standard for you. There is a very interesting thing in Patanjali's Mahābhāṣya. When he is discussing what

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

is high and what is low in pitch, he gives an example. He says there is a child, he is trying to memorize his lesson so he has a certain norm. The child is trying to memorize his lesson, he is repeating his lesson. There comes one elder, who says what is it ? Don't you have any energy in you ? Why don't you speak out a little loudly ? Why are you murmuring like that ? Speak out a little loudly when you are memorizing your lesson. The child is going on in his own voice. Then there comes another elder who says what why are you shouting like that ? Can't you speak out a little more softly ? The child is with the same level but the norms of the two elders are different. So the norm also determines our understanding whether it is high or low. What a beautiful explanation he has given of the 'madhya'. Everybody's 'madhya' is different as she (Dr. Nalini) says in north and south of France the 'madhya' the norm will be different.

So taking it granted that the norm is known to you, granting that the norm of the Tamil speaker or of the norm of the French speaker is known to you, you can very well understand from their intonation even without knowing the language whether the spekers are in harmony or in piece or are joyful or they are in love or they are cross with each other or they are fighting or they are jealous or angry with each other. This you can understand from the intonation but you cannot understand the whole story behind it without knowing the language. The story you cannot reconstuct but you can certainly have a general understanding of the situation. Now that part of the rendering of language, it is not language but the rendering of language, that part of the use of language in which you filter out the normal meaning part and whatever remains that is the musical aspect of language, which is universal. Coming to music you filter out the form and style and everything because you cannot understand the structure of a musical system without being initiated into that and that may take years. But how does one listen ? In listening one may not understand the structure at all, but one can certainly understand to a certain extent according to one's own subjectivity. In playing your sub-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

jectivity will be very much active. Even then there will be a certain level of universality. All the listeners would come to agreement on this whether it was harsh or soft, there can be many opposites, call it harsh-soft, or call it bright and dull or call it cold and hot give it any name. But these opposites can be understood to some extent even from the music of a system which you are not familiar with. Familiarity will, of course, enable you to analyse it, to understand it on the technical aspect, but understanding it from your heart does not need the knowledge of the form, style or structure. That is why it is said 'music is universal language' in the sense that from music you can totally cut out, you can totally filter out the meaning of language and leave it to its own meaning. Whatever is its own meaning, can to a certain extent be universal. There also I will say with a reservation because the norms differ. That is the only difficulty. If the norms were universal then everything would be universal. But norms are not universal. Even in one culture they are not universal, what to say of a different culture.

□

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Problems and Aspects of Reconstruction of Musical Instruments

☐ Nelly van Ree Bernard

During a period of 10 years I have been engaged in reconstructing lost musical instruments in use in Europe in former times, particularly 'psalteries' and 'clavichords'. both being stringed instruments. I have no experience with other types, such as wind or percussion instruments.

First of all I will present the working method as followed by me, which could serve as a line of action for reconstruction of musical instruments in general. The method consists of five steps.

FIRST STEP : Preparatory Studies

For the reconstruction of instruments of which no originals have been preserved we can study:

Early Depictions,
,, Texts,
,, Notations and
Similar or related instruments from later periods.

A. Early Depictions can consist of

Paintings,
Drawings,
Bas reliefs and
Sculptures.

Such representations may give us information about the shape and the size of an instrument. The size of an instrument in relation to the size of the person holding it, can give us an

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

idea of its real measure. We have however to bear in mind that in former times, human beings were smaller than nowadays.

The length of the strings might inform us whether it was a low or a high instrument in the sense of pitch. Sometimes the positioning of the tuning pegs can be read off and if we are lucky the number of strings and the place of the bridges and that of the soundholes.

Yet we must be careful with the interpretation of a representation of a musical instrument. The artist could for instance have had in mind to depict a fantasy or fancy Instrument in shape, size and construction. Or the artist might not have been famılliar with music and the way of holding the instrument can be wrong or even impossible, the number of strings aud their position on the instrument might not square with reality, and so on, Moreover early depictions are generally not naturalistic like 'photographs'. We can encounter representations where the artist as a caprice combined in consort-playing two or more tnstruments which in reality were probably not used to play together. On two-dimensional representations in particular, when an instrument is shown in front-view, it is almost difficult to know the thickness of the case and whether it is flat on the backside or domed.

B. Early Texts can provide us

Simple mentions of instruments and/or players.

Descriptions of instruments, playing instructions,

Descriptions of employed materials for the consruction of the case,

Descriptions of string-materials,

Descriptions of tunings and tuning-methods

Descriptions of the situation in which the instrument was played. and what kind of music was performed on it.

C. Notations

Notations of compositions from the same period as the instrument to reconstruct can give us the key to fix the desired

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

scale and number of strings by studying the mode and compass of these pieces of music.

D. Similar or related instruments from a later period

Preserved instruments from the same family but from a later period might give us some insight of how the construction of the earlier instrument could have been.

SECOND STEP : The working drawing

After having studied the available sources we can combine the collected data and start to make a re-design of the instrument followed by a working drawing in scale 1 : 1.

Sometimes it will be useful to make first a model of cardboard in real size, in order to experiment with the positioning of the instrument while playing, the position of the strings, for instance to see whether the distance between one string and the next is suited for a correct and easy performance.

THIRD STEP : The construction

From the technical working drawing the instrument can be constructed. In case for a particular instrument sources are available mentioning construction materials (such as for instance wood, metal, clay, bone, etc) and/or string materials, we should see if these are on hand nowadays; if not employ as much as possible similar ones.

FORTH STEP : The tuning

Mentions in text-sources can provide us with the proper tuning for a specific period.

FIFTH STEP : Playing the instrument

At this stage we can start to experiment with different playing-methods as well as what concerns the positioning of the instrument as the way of plucking or striking the strings.

Certianly there are depictions which represent in a realistic way how to play an instrument. This can be tested by experiment.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

If it concerns representations showing, as mentioned before difficult realizable or even impossible postures and, if no other pictorial or written sources for the same type of instrument are available, we will have to work things out by trial and error.

Very often depictions of the same type of instrument show different positions and techniques for playing; which does not mean that only one of them must be the right one. By experiment we will be able to test the different playing methods in order to know whether they are possible or not.

After these guide-lines for reconstruction of lost musical instruments I am going to treat the PSALTERY and a series of realized RECONSTRUCTIONS,

The Psaltery and a series of reconstructions

Definition :

The name 'psaltery' is used as the family name for the instruments consisting of a flat (sometimes slightly domed) case without neck, provided with a chosen number of strings, mostly parallel, but sometimes diverging in a fan-shape. There are 'plucked' psalteries and 'struck' psalteries.

Origin of the psaltery :

This is still the subject of speculation. We could consider the 'monochord' or one-stringed sound-box as the earliest forerunner of the psaltery. The word 'canon' (Greek : rule or law) with which the Ancient Greeks designated the monochord, was adopted by the Arabs as the word for psaltery (qānūn), and subsequently via the Iberian Peninsula reintroduced into Europe where we come across such names as canon, canon entero, canno, canone, kanon, canale, kanala, medius canon, medio canon, medicinale, mezzo canone and Metzkanon.

Construction :

A psaltery generally consists of : a *ground-board*, a *wrestplank*, a *hitch pin block* and one or more *sides*, depending on the shape, plus the *soundboard* with the *bridges* over which

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

the *strings* run from *hitch pin* to *tuning pin*. The soundboard which runs parallel with the bottom is provided with one or more *soundholes* which may be decorated with *roses* either carved from wood or of parchment or textile. Deal is a very popular wood for the soundboard. Hardwood is desirable for the wrestplank and the hitch pin block.

The tuning pins and hitch pins can be fixed in three different positions : (a) at right angles to the side, (b) at right angles to the upper part or (c) obliquely to the side.

Medieval psalteries often have two uninterrupted bridges placed quite close to the wrestplank and the hitch pin block; if a dividing bridge is employed (used in later periods on isosceles trapezium-shaped psalteries) the strings or courses are separated into two playable segments, which economises on space and strings, one string or course serving for two notes.

Stringing :

Stringing can be *single* or *in courses*. When single, the arrangement of the strings can be *parallel* or *fan-shaped*. When single and parallel, the strings can either be *spaced equally* or *in groups of 3 or 4 strings* tuned to different pitches. Courses however, consist of 2 to 6 parallel strings (occasionally even 7) spanned close together, tuned to the same pitch (sometimes the bass courses in octaves).

In parallel stringing we can distinguish three systems : (a) with *one playing section*, (b) with *two playing sections* and (c) with *three playing sections*, the 'crossed strings' system.

Tuning :

On a psaltery the entire row of strings is tuned to a specific series of tones, each string or course of strings representing one note, or : with a dividing bridge, two notes. All the strings are played 'loose' (without fretting), an exception being the Austrian fretted Zither.

Shapes :

Psalteries were and are in various forms. The most common being represented schematically on the following slide.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Historical Survey :

For the study of this group of instruments we have to do with illustrations and mentions of it in texts, especially where it concerns the Middle ages. Determining which name belongs to which instrument is often hampered by the use of the same name for differing instruments, or by the same instrument having several names.

Among the indigenous European types we come across the following names, in the Middle Ages and to a lesser extent afterwards : *psalterium*, *citara* (also called cedra) and *rota* (also called chrotta, crotta and crwth).

In the Middle Ages, European instrumental resources were considerably enlarged by importation from the East, via Byzantium (particularly from the 10th to the 12th Century) as well as via the Iberian Peninsula where the Arab invasion began in the year 711. In Southern Spain, Andalusia gradually became the melting pot of Eastern and Western culture. The Persian-Arabian instruments brought in by the Islamites then spread out from that part further across the Peninsula and via Catalonia to France and the rest of Europe.

In the 13th Century Persian-Arabian instruments occupied an increasingly important place. In the area of the psaltery, besides the then still popular rotas and citaras, we come across the *canon entero* and the *medio canon*, which we will treat in a little while. These are respectively the *nuzha* (rectangular psaltery) and the *qānūn* (semitrapezoid psaltery) introduced by the Moslems in Spain, the latter of which is still played in several Eastern countries. However this contemporary qānūn is in much further stage of development, particularly where tuning possibilities are concerned.

The Eestern *santur*, an isosceles trapezium-shaped struck psaltery (in English called dulcimer), found its way into Europe primarily from Turkey. In Hungary this instrument is called *cimbalom* and it has developed into a large concert instrument, still being much played today (see the exhibition).*

* An exhibition of the drawings, sketches, paintings and photographs of psalteries was also arranged by the author. —*Ed.*

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

In Northern Europe is found the *kantele*, a plucked psaltery native to Finland, Lithuania, Estland and Letland, still in use in many variants (see the exhibition).

Russia has two types of *gusli*, these too being plucked psalteries; one of them has developed into a large table instrument (see the exhibition).

The Austrian *fretted Zither* occupies a place apart, being provided with frets (see the exhibition).

Playing methods :

Psalteries are played in various ways. The positioning of the psaltery as well as the technique employed can differ from instrument to instrument, but also from performer to performer. As mentioned before, psalteries can either be *plucked* or *struck*.

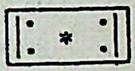

For the demonstration of different playing methods, I re-designed a very simple four-course psaltery, called *tetrachord*, as employed between the 11th and 15th Century. The chosen tuning is Re Fa Sol La, which in Indian notes would be Re Ma Pa Dha.

In the next section different playing methods will be demonstrated via a series of slides and recordings.

A. DIATOTIC PSALTERIES

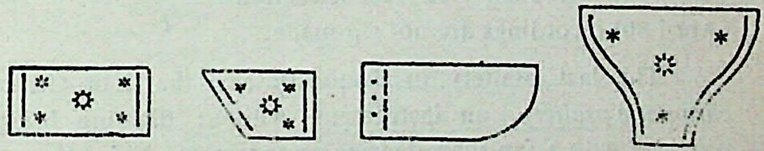

On a psaltery the strings are tuned to a specific series of tones. A 'diatonic' tuning (obtained by means of perfect fifths), with or without b–flat (komala Ni) next to b (Ni), is applicable to European medieval psalteries.

In the next section the following instruments will be treated via slides and recordings: *canon entero*, *medio canon*, *citara* and *ala entera*.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

B. SEMICHORMATIC PSALTERIES

Since after the Middle Ages, from the 15th Century onward, slowly more and more 'chromatic' tones are met with, tunings become adapted according to preference; and psaltery players are going to take advantage of the (earlier mentioned) 'dividing bridge', which separates the string or course into two playable segments; this economises on space and strings, because two different notes can be played on one string or course. 'Semichromatic' psalteries have a limited and variable quantity of flats and sharps.

In the next section the *semichromatic octochord* (with dividing bridge and removable semitone bridges) will be demonstrated via a series of slides and recordings.

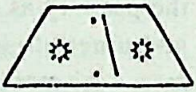

C. CHROMATIC PSALTERIES

18th Century tuning plans using one or more dividing bridges are 'chromatic' and make use of system with 'crossed strings' discussed before, consisting of full-length strings running under the dividing bridges and strings spanned over the dividing bridges (see also exhibition).

In the next section the *salterio 'Minguet'* will be demonstrated via slides; being my last completed reconstruction (April 86) recordings are not yet made.

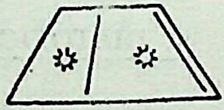

The last psaltery to demonstrate is the 20th Century *chromatic psaltery*, an instrument without dividing bridges provided with a fan-shaped string arrangement. This hexagonal psaltery is, in contradistinction to the previous treated instruments, no reconstruction. It consists in the combination of old principles with new ideas. As far as concerns the appearance, I was partly inspired by early types of Finnish kanteles. The ultimate shape however resulted (a) from the calculation of the string lengths, considering that all 20 strings had to be of the same material and thickness and (b) from the different ways of holding the instrument while playing.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

In the last section this *chromatic psaltery* will be demonstrated via a series of slides and recordings.

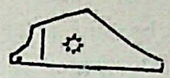

For complementary information you are kindly requested to see the exhibition about the P S A L T E R Y.

The C I T A R A of which no recordings were played during the lecture, will be demonstrated life in a separate meeting.

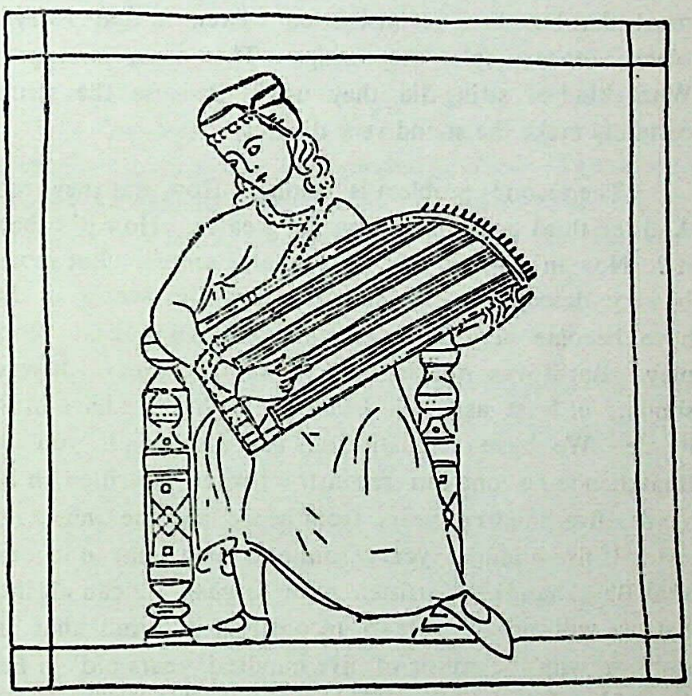

चर्चा

डॉ. मुकुन्द लाठ की टिप्पणी और प्रश्न

I am sure, many of us have problems with this kind of reconstruction. The first problem is, after all why do we reconstruct an old instrument as such ? It cannot be an Indian

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

asset because the main idea will be to reconstruct the music because after all the instrument is very ambiguous as to music. Even in a modern situation if we look at the Santur we can never imagine the kind of music that is played on a Santur, because the same Santur has very different music in Iran, in Kashmir and in the hands of a master like Shiv Kumar Sharma. So supposing I do succed in gaining our own instrument, how do I know how it was played ? That, I think, is the main problem and I am not very sure if we can be certain about it. We may be more or less certain about the instrument, that has been reconstructed. Even in that I have problems, for example, the strings. The string is a problem. What kind of string did they use ? Because the string will certainly make the sound very differet.

The second problem is tuning. How did they tune it ? And the third problem is even the greater. How did they play it ? Now in Europe you do get some scores. But scores can be very desceptive. In modern times the scores in Europe have become very thorough that you can look at score and play. But it was not the case in ancient times. It was very similar, at least as far as I know, to what we have in Bhatkhande. We have in Bhatkhande say a song. If you look at Bhatkhande no one can reconstruct what is written in Bhatkhande, five hundred years from hence and the music itself is lost. If five hundred years from now you want to reconstruct what Bhatkhande has written, even *sargam*, we can all imagine that we will not be able to reconstruct it. And that is the problem with the music of five hundred years old in Europe also. Now how sure can we be as to the kind of music. You played a lot of music to us, how sure that can be ? Some of it was sung in the ancient music also. How sure can we be that it was really old music ? This is the problem.

उत्तर—[We cannot be hundred percent sure, that is impossible. And about strings there are old mannscripts of the 13th century of a Spanish monk. He dcscribes for the psaltery brass strings. Then there are a few Arab manuscripts

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

about the psalteries which mention copper strings and twisted copper strings for the tambourines, but not so many manuscripts about this. But these I found out about 13th and 14th centuries. In Enrope we have compositions of those times.]

डॉ. लाठ का प्रश्न—[There is a problem about the music of those compositions. It was not left to the musician what is to be played and individual notes were also sometimes ornamented. Suppose in modern music if I write 'S' or if I write 'SRM', the actual playing or singing would be very ornamented. This is the actual problem. What is the unit that they are trying to get at? One would like to reconstruct the instrument but how much of it really helps us to get back with the music as such? Any one who wants to be a student of the history of music, for him that I think, is the central problem. The instrument is only a means to get to that music. And I have another problem about the Indian picture that you have. Are you sure it is a psaltery?

उत्तर—To me it looks like a psaltery.

डॉ० लाठ की टिप्पणी व प्रश्न—The period from which the picture is, about 8th-9th century we did not have psalteries. We do not get other examples from the same period. So I was a little doubtful about it. I have seen a psaltery. In fact we have not classified our music pictures and there are hundreds and hundreds and thousands before the 12th century. The only thing which looks like a Svaramandal, if we may call it psaltery, is I have seen from a 12th century temple in Rajasthan which looks like a psaltery. But one does not know because the pictures are not as exact as sometimes European pictures can be. So there is a problem. What made you sure it was psaltery?

उत्तर—It does not make me sure but to me it looks like psaltery. It is very vague.

डॉ० नलिनी का प्रश्न—This is also connected with the music played on the instrument, that composition which you gave as

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

demostration of the manuscript on Cantigas de Santa Maria. Is it a composition of yours ?

उत्तर—The song is there in the book, the text and the notes of the refrain also. Those decorations aroud I made up.

डॉ० नलिनी का प्रश्न—Another question is connected with the performance of last night where older compositions were played on that instrument. Were they made for that particular instruments ?

उत्तर—In those times in Europe there were never compositions made for specific instrument. Mostly there were songs with the text and those instruments which were at hand were used with it. But is was not as in modern times you have Sonata for Piano and so on.

डॉ० चौबे का प्रश्न—How far this reconstruction of your psaltery is useful in the modern music ?

उत्तर—I do not use it for the modern European music.

डॉ० चौबे—So it is only for the medieval songs and all that.

उत्तर—For instance, in the 18th century there are quite a lot of compositions for that instrument. I have a microfilm of an old book which has minuets and Sonatas for that instrument, for that particular instrument. But in earlier ttmes the music was not written for special instruments. Later on, yes, from the 17th-18th century it was, but earlier it was never told it ts for this or for that instrument. And it is mostly music with text for singing and instruments were accompanying or playing solo.

□

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्रन्थोक्त गेय रूपों का पुनर्निर्माण

—डॉ० प्रेमलता शर्मा

मैंने आज के इस सोदाहरण व्याख्यान के लिए विषय चुना है 'ग्रन्थोक्त गेयरूपों का पुनर्निर्माण'। इसकी मैं पहले जरा व्याख्या कर दूं। नाट्यशास्त्र से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक ग्रन्थों में किसी न किसी प्रकार गेय रूपों का, चाहे वह गीतक हो या ध्रुवा हो या प्रबन्ध हों या प्रबन्ध के कोई भी प्रकार हों, प्रकारान्तर हों, इन सबकी विभिन्न प्रकार से चर्चा हुई है। इन चर्चाओं को संगीत शास्त्र के किसी भी विद्यार्थी को पढ़ना पड़ता है। कोई भी जब शास्त्र पढ़ेगा तो गेय रूपों पर जो भी उसमें कहा गया है, उससे बच नहीं सकता, हर विद्यार्थी पढ़ता है, मैं भी पढ़ती थी, पढ़ाती थी। किन्तु यह बात मेरे चित्त में कैसे उठी, कैसे और क्यों मैंने यह थोड़ा-सा काम किया, इस पर थोड़ा सा कहती हूँ फिर आगे बढ़ जाऊँगी। १९७३ में अचानक हम लोगों से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में यह कहा गया कि एक-डेढ़ महीने की तैयारी से हम लोगों को उज्जैन के कालिदास समारोह में विश्वविद्यालय का एक दल लेकर जाना चाहिए। अब तो वह प्रथा बन्द हो गई है, किन्तु उस जमाने में यह प्रथा होती थी कि वहाँ कालिदास समारोह में जो भी प्रस्तुतियाँ होती थीं, उनमें से किसी एक को पुरस्कृत भी किया जाता था। वही अन्तिम वर्ष था, अब वह पुरस्कार की प्रथा बन्द कर दी गयी है। तो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में यहाँ मध्यप्रदेश के श्री एँल० ओ० जोशी गये थे उपकुलपति के सलाहकार होकर। वे कालिदास समारोह से शुरू से जुड़े रहे। उनके मन में यह बात आई कि हिन्दू विश्वविद्यालय से कभी कोई दल क्यों नहीं जाता, और जाना चाहिए। तो उन्होंने दौड़-भाग कराके हम सबको उसमें लगा दिया।

अब यह सवाल सामने आया कि वहाँ जाकर हम क्या करें ? समय भी बहुत कम था। यानी शुरू यहाँ से हुई बात। तो मेरे चित्त में यह बात उठी कि इतने वर्षों से मैंने पढ़ा-पढ़ाया है, क्यों न कुछ करके देखा जाय ? मुझे लगा कि यह भी तो 'रिसर्च' की एक दिशा होनी चाहिए। शास्त्र पढ़ना और उसको शाब्दिक रूप से समझना एक बात है, लेकिन कम से कम यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देखना कि सुनने में कैसा लगेगा, यह अलग बात है। तो कुछ करके देखा जाय। उस समय मैंने केवल एक ही काम किया कि 'विक्रमोर्वशीयम्' में चौथे अंक में प्राकृत के जो पद दिये हुए हैं, ध्रुवाएँ ही कहते हैं उनको हम, वे जो ध्रुवाएँ दी हुई हैं, उनमें से कुछ को चुना, सोचा कि प्राकृत में कभी कोई नहीं गाता। कम से कम मुझे तो नहीं मालूम है कि देश में इस आज के जमाने में कोई भी प्राकृत को सीधे गाता हो, मैंने तो नहीं सुना। तो यह हुआ कि सब कोई पढ़ने-पढ़ाने में भी इसकी संस्कृत-छाया से ही काम चला लेते हैं। जो आजकल नाटकों का अध्ययन होता है, अध्यापन होता है, उसमें भी प्राकृत पर कोई ध्यान नहीं देता, झट से उसकी संस्कृत छाया बनाके पढ़ने लगता है। तो लगा कि पहले प्राकृत को ही उसी मूल रूप में गाना चाहिए। तो ये तो बहुत सामान्य बात है किसी भी भाषा का गीत हो, प्राकृत तो और, बहुत ही गेय की इसमें सुविधा है। वह कोई बड़ा भारी 'रीकन्स्ट्रक्शन' नहीं था, ये कुछ भी नहीं था, लेकिन फिर भी एक बात का ध्यान रखा उसमें मैंने, सोचा ये कि वैसे तो मैं जो भी राग-योजना उसमें करूँ, अपने ही संस्कारों से करूँगी, जो भी आज मेरी 'ट्रेनिंग' है उसको छोड़कर तो मैं नहीं कर सकती, क्योंकि उनका कोई नोटेशन तो हमारे पास है नहीं और हो भी, तो उनको गाना असम्भव है, जैसा कि मुकुन्दजी ने कहा, वो सर्वथा सत्य है, हम सभी उसको जानते हैं और वो वहाँ है भी नहीं। तो मैंने ये सोचा कि एक बात की जा सकती है कि कम से कम ऐसा है कि आज जिन दस ठाठों की बात करते हैं उनमें से छः ठाठों का सीधे मूर्च्छनाओं से सम्बन्ध बैठता है बाकी चार का नहीं बैठता है—भैरव, मारवा, तोड़ी और पूर्वी का नहीं बैठता। तो सोचा कि इनको तो कम से कम छोड़ दिया जाय, जिनका नहीं बैठता। उसी में से चुना जाय जिनका बैठता है। यानी यह तो पहला चरण है; मैं कहती हूँ कि बहुत ही प्रारम्भिक चरण है यह। इतना ही है कि भाषा बदल गयी है, यानी आज की भाषा नहीं है, ब्रज भाषा नहीं है, हमारी कोई परिचित भाषा नहीं है। सीधे प्राकृत, जैसी ग्रन्थ में है, वैसी और जो रागरूप की योजना करें, वह कुछ ऐसी हो जो समझ में आती है कि सीधे ग्राम व्यवस्था में बैठती है। जो नहीं बैठती है, उसको छोड़ दिया जाय। इतना सा उस समय मैंने किया था। 'मालविकाग्निमित्रम्' और 'शाकुन्तल' में से भी प्राकृत गीत लिए। खैर, वह पुरस्कार तो हम लोगों को मिल गया, वह अलग बात है, उसकी अलग कहानी है। और भी बहुत कुछ हुआ उस समय। हमारे भाई चन्द्रशेखरजी ने काफी काम किया था, अन्य लोग भी थे, पाटेकरजी, डॉ. कमलेशदत्त त्रिपाठी आदि। लेकिन मैंने जितना-सा किया था,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसमें यही था कि इन प्राकृत गीतों को लेकर संस्कृत में एक वार्तालाप स्वयं लिख लिया। मैंने और रामनाथन् ने बैठकर वार्तालाप बोला और एक-एक गीत गवाया, उसकी भूमिका दे-देकर कि कौनसे नाटक में से यह गीत है और अमुक प्रसंग का है, इस तरह का है। कालिदास के चार मंगल पद्यों को भी 'गीत' के रूप में मैंने प्रस्तुत कराया था। यह शुरूआत हुई।

इसके बाद अगले वर्ष एक साल का अन्तराल देकर हमसे कहा गया या हमें खुद ही वहाँ जो भी प्रयोग हो रहे थे उन्हें देख के ऐसी इच्छा हुई कि नहीं कुछ और ढंग से प्रयोग होना चाहिए। तो, हमने कहा कि हम नाटक करेंगे। एक साल का अन्तराल देकर हमसे १९७५ में कहा गया कि ठीक है, आप 'मालविकाग्निमित्रम्' करिए। और जब नाटक करने की बात आई तो जी में हुआ कि पूर्वरंग का प्रयोग किया जाए। उस समय दस वर्ष पहले से मैं पूर्वरंग का अध्याय नाट्यशास्त्र में से पढ़ा रही थी विद्यार्थियों को। चौथा और पांचवाँ अध्याय पूर्वरंग के लिए पढ़ा रही थी और उधर इकत्तीसवाँ अध्याय पढ़ा रही थी गीतक के लिये, ताल के लिए। तो, जी में आया कि पूर्वरंग इतने दिन से पढ़ते-पढ़ाते आए, हैं, केवल इस शाब्दिक चर्चा से क्या फायदा है, इसको करके देखा जाय। नाटक से पहले उसी हिसाब से पूर्वरंग किया जाय, जैसा कि नाट्यशास्त्र में लिखा है। उसमें भी 'रीकन्स्ट्रक्शन' की तमाम समस्याएँ हैं, पर एक कोशिश करने की इच्छा उस समय हुई। जब वह कोशिश करने की इच्छा हुई, तो पूर्वरंग में यह कहा गया है कि एक अंग ऐसा भी होगा जिसमें कि वर्धमान गीतक गाया जाएगा और उसके साथ एक-एक करके क्रमशः चार नर्तकियाँ आयेंगी, यह सारा वर्णन ३१ वें अध्याय में बहुत अच्छी तरह से दिया गया है, उसमें कोई संशय की बात नहीं है; वह सब समझ में आ जाता है। संशय अगर है तो यही है कि यह नहीं दिया है कि 'मॅलोडी' (स्वर-योजना) आप क्या लगाएँगे, बस, उसका कालमान पूरा दिया गया है। कालमान को लेकर कोई समस्या नहीं है, ताल की क्रियाओं को लेकर कोई समस्या नहीं है। उतनी ही कलाओं में आप गीत बाँध लीजिए, उसी तरह से क्रिया कर लीजिए, वह कोई मुश्किल नहीं है, थोड़े से अभ्यास की बात है। वह तो हो गया, और वहाँ भी यह सवाल आया कि यह कहीं नहीं कहा है कि आप स्वरयोजना कैसी करेंगे, यह आप पर छोड़ दिया है। और उसकी भाषा संस्कृत होगी, यह निश्चित है। यानी हमें जो कुछ थोड़ा-बहुत आधार मिलता है, वह मैं बता रही हूँ कि आधार क्या मिला। एक ओर तो आधार यह मिला कि भाषा संस्कृत होनी है और कुछ-कुछ इस तरह की होनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होगी, अभी पढ़के बताऊंगी आपको, क्योंकि पद के उदाहरण भी नाट्यशास्त्र में दिए हैं। तो यह पता चलता है कि ये जो गीतक हैं, जिनके सात प्रकार थे १४ प्रकार, जो भी हैं, इनकी भाषा कुछ-कुछ ऐसी होगी। उससे कुछ संकेत मिलता है। यानी मैं यह कहना चाहती हूँ कि आमतौर से तो हम समझते हैं कि केवल पद से स्वर और ताल का कोई अनुमान लगाना मुश्किल है, लेकिन मुझे अनुभव से यह पता चला कि कुछ थोड़ा-सा अनुमान हो सकता है। भले ही कितनी भी क्षीण रेखा हो आलोक की, लेकिन थोड़ी बहुत मिलती अवश्य है कि यह गीत सुनने में कैसा लगता होगा। क्योंकि संस्कृत जो है, वह व्यञ्जनप्रधान भाषा है और संस्कृत को जब आप गायेंगे और प्राकृत को जब आप गायेंगे, (अभी थोड़ी देर में मैं आपको सुनाऊँगी) तो अपने-आप अन्तर आ जाएगा; आपको कोई प्रयत्न करना नहीं पड़ेगा इसके लिए। मुझे भी कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ा, वह अपने आप आ गया। तो यह एक उपलब्धि हुई उसमें से।

मेरे पास 'रीकन्स्ट्रक्शन' के लिए आधार क्या था? एक तो यह कालमान सारा बताया हुआ है, यह बताया हुआ है कि इतनी कलाओं में उपोहन होगा। उपोहन का मतलब है कि आप 'मॅलोडी' (स्वर- सन्निवेश) को 'इण्ट्रोड्यूस' कर रहे हैं यानी 'जाति' या 'राग' की भूमिका बाँध रहे हैं और शुष्क अक्षर ले रहे हैं, जिनका भाषा में कोई अर्थ नहीं है। जिनका कोई काव्यार्थ नहीं है, यों कहना पड़ेगा। अर्थ नहीं है, यह कहना शायद गलत होगा; हाँ, काव्यार्थ नहीं है। ऐसे शुष्काक्षर और जो भी स्वर-सन्निवेश हैं, उसको राग कह लीजिए, कुछ भी कह लीजिए, जिसमें भी आप गाने वाले हैं, उसी स्वर योजना में उसको गाइये। तो आपकी स्वर-योजना की एक भूमिका बन जाती है और जो सार्थक आप पद गाने वाले हैं उसके लिए श्रोताओं का चित्त तैयार हो जाता है। एकदम शुरू से सार्थक पद मत गाइये। तो वह जो वर्धमान गीतक है, उसमें यह स्पष्ट बताया गया है कि उसमें चार खण्ड होंगे, जिनको कण्डिका नाम दिया है। पहली कण्डिका में पाँच कलाओं का उपोहन होगा, दूसरी में छः कलाओं का उपोहन, तीसरी में सात का और चौथी में आठ का उपोहन होगा। ये तो उपोहन की कलाएँ हो गयीं। कलाविधि सब दी हुई है, उसमें कोई समस्या नहीं है और फिर पहली कण्डिका का कालमान होगा नौ कलाएँ और उसके बाद फिर उसमें दुगने का हिसाब शुरू हो जाएगा। पहली नौ कला की है, वह अलग है; फिर आठ, फिर सोलह और फिर बत्तीस। तो इतना तय है कि इतने-इतने लम्बे आपको खण्ड बनाने हैं। इसमें कोई समस्या नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सारी समस्या आपको स्वरयोजना को लेकर है और योजना से भी बढ़कर उन स्वरों के उच्चार की। योजना मान लीजिए की हुई भी मिल जाती, कहीं नोटेशन भी मिल जाता तो ये हम कभी भी नहीं कह सकते कि भरतकाल में लोग इस तरह से गाते थे। किस प्रकार के अलंकरण वे करते थे, किन गमकों का प्रयोग करते थे, यह जानने का हमारे पास कोई सीधा रास्ता नहीं है। फिर भी हमारी तो एक जरूरत थी, क्योंकि हमें नाटक करना था और हमें यह लगा कि उसमें पूर्वरंग भी करना है। तो जहाँ तक हो सके, जितना विधान समझ में आता है उसको लेकर हम करेंगे और जो हमारे ऊपर छोड़ दिया है, उसे भी करेंगे जैसा भी बनेगा, क्योंकि वह तो शास्त्रकारों ने ही छोड़ दिया है हमारे ऊपर। आपको जो जी में आये सो करिये। और फिर पूर्वरंग में यह भी बात है कि उसमें आपके सामने कोई 'सिचुएशन' (अवस्था) नहीं है, नाटक की। वहाँ रस का भी कोई सवाल नहीं है, इसलिए रस का तो नाम ही नहीं लिया गया है। वह तो देवस्तुति है। विघ्नविनाश के लिए, आपके प्रयोग की सफलता के लिए, अदृष्ट फल के लिये, इस सबके लिए आप कर रहे हैं, वह जीवन की किसी अवस्था का अनुकरण नहीं है। अभिनवगुप्त की भाषा में वह 'परमार्थ' है। परमार्थ संस्कृत का जो शब्द है, आज जिसे हम 'रिऐलिटी' कहें, उसके लिए है। तो आप जो नाटक करने जा रहे हैं, उसके पहले आप देवस्तुति कर रहे हैं, यह विधिविधान या अनुष्ठान कर रहे हैं। यह तो आपका 'परमार्थ' है, यह कोई 'अनुकरण' थोड़े ही है आपका। नाटक में तो अनुकरण करेंगे पात्रों का। तो इसलिए इसमें यह भी हमें कोई सहारा मिलने का नहीं है कि इसका क्या रस है; तो फिर क्या गायें? वह भी सहारा नहीं है। तो फिर वहाँ भी मैंने वह सूत्र तो ध्यान में रखा कि हम मूर्च्छनाओं के बाहर नहीं जाएँगे। और बाकी तो जो हमारा संस्कार है, जैसी हमारी शिक्षा (ट्रेनिंग) है उसी के हिसाब से हम कर सकेंगे।

कण्डिका की पुनरावृत्ति का क्रम भी दिया गया है। पहली, फिर दूसरी पहली। इसके बाद तीसरी, दूसरी और पहली। फिर चौथी, तीसरी, दूसरी और पहली। यह प्रयास केवल यह देखने के लिए है कि यह सुनने में कैसा प्रतीत होता है, क्योंकि आजकल हमारे पास इस प्रकार के गीत नहीं हैं। मैं यह दावा नहीं करती कि किसी भी रूप में यह उस समय के संगीत का पुनर्निर्माण है। इस गीत में चार कण्डिकाएँ होंगी। प्रत्येक कण्डिका में निश्चित कालमान होगा जिसमें हम पहले शुष्काक्षर गाएँगे फिर सार्थक पद।

उपोहन के बाद प्रत्येक कण्डिका है, जिसमें सार्थक पद है और हर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कण्डिका को गाने के बाद पहली पर हमें लौटना है। एक को गाया, दो को गाया, फिर एक को गाया। फिर तीन, दो एक। आज हम क्या करते हैं, इस तरह नहीं करते। अगर तीन से लौटे तो सीधे एक पर आ गये। चार पर जाते हैं, सीधे एक पर आते हैं, लेकिन इस तरह की आवृत्ति नहीं करते। मुझे लगता है कि यह 'ध्रुव' का आरम्भ है। 'ध्रुव' जिसे आज हम कहते हैं, उसने जो आकार ग्रहण किया, प्रबन्धों में आ कर ध्रुव का जो स्वरूप बना, वह तो ऐसा है कि आप चौथे आभोग से सीधे ध्रुव पर आयेंगे। लेकिन यह ध्रुव की प्रारम्भिक स्थिति है यानी ध्रुव के बनने से पहले की स्थिति है कि आप बीच के अन्तरालवर्ती खण्डों को भी लेते हुए चलते हैं। यह शब्दों में मैंने आपको बता दिया। अब यदि सुनेंगे, तो इसका प्रत्यय होगा : ऐसी आवृत्ति करने से कैसा सुनाई देगा, इतना ही सा है। अगर इसका कुछ मूल्य है कि इतना ही सा है या थोड़ा सा मूल्य यह भी है कि पद के आधार पर कितना-सा प्रयत्न करना संभव हो सकता है और वह स्वतः हो जाता है, उसमें कुछ प्रयत्न करना नहीं पड़ता।

अब जब मुझे ये कहा गया कि इस सेमिनार में मुझे कुछ बोलना है, तो मुझे लगा कि इस विषय पर बोलूं तो अच्छा है। कई बरस पहले मैंने नया गीतक 'मालविकाग्निमित्रम्' के लिए बनाया; फिर 'उत्तररामचरितम्' किया तो उसके लिए फिर मैंने नया गीतक बनाया। उसके बाद 'दूतवाक्यम्' किया, तो उसके लिए फिर एक नया बनाया। और तीनों में अपने ही काम को जब मैंने एक तीसरे व्यक्ति की तरह देखना शुरू किया तो मुझे दिखाई दिया कि पद के आधार पर बहुत कुछ रास्ता सूझता है। ये अब स्वयं मुझे दिखाई दे रहा है, जब बनाया था तब तो स्वतः बन गया था, वह तो स्वतः स्फूर्त था, तब कुछ सोचा नहीं था, लेकिन अब उसको जैसे समीक्षक की दृष्टि से देखती हूँ तो मुझे लगता है कि यह जितना सा भी काम हुआ है चाहे वह दो प्रतिशत हो, वह पद के सहारे जरूर हुआ है। और पद बहुत बड़ा मार्ग-दर्शन उसमें बनता है, यह बात अनुभव से मेरी समझ में आयी।

मैंने कहा कि पूर्वरंग में रस की कोई चर्चा नहीं है और कोई विधान भी नहीं है ऐसा कि जैसा आपका नाटक हो, उसके रस को देख कर आपको गीतक बनाना है। लेकिन फिर भी मैं जब रचना करने लगी तो मेरे संस्कार ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। मुझे लगा, अरे ये मालविकाग्निमित्रम् है, कौन सा राग चुनूं, क्या करूं ? तो सोचा कि मालविकाग्निमित्रम् सर्वथा शृंगार-प्रधान नाटक है और नाट्यशास्त्र में भी यह कहा है कि मध्यम और पंचम ये दो स्वर शृंगार के प्रसंग में अंश बनते हैं। तो मध्यम की मूर्छना से आज का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमें खमाज थाट मिल जाता है और पंचम की मूर्छना से चाहे आप आसासरी कहिये चाहे दरबारी कहिए, उसके स्वर मिल जाते हैं। तो मुझे लगा कि इसमें संयोग और वियोग दोनों हैं, अब यह भी आचार्यों का कहना है कि मध्यम संयोग के लिए है और पंचम वियोग के लिए। तो मैंने सोचा कि चलो इन दोनों को देखा जाय। और थोड़ा सा यह भी था कि मुझे लगा कि एक ही राग चारों कण्डिकाओं में ले जाऊँ, पता नहीं कहीं ऐसा न लगे कि खिंच रहा है, या उबाऊ न लगने लगे। थोड़ी सी झिझक भी थी, बाद में वह झिझक निकल गई, फिर तो मैंने एक राग में पूरा बनाया, लेकिन पहली बार थोड़ी सी झिझक थी। तो तीन कण्डिकाएँ मैंने खमाज में बनाईं और चौथी, मैं कोई नाम नहीं देती, आप उसको दरबारी कह लीजिए, अडाना कह लीजिए, वहाँ पर रागरूप को रखना क्योंकि मेरा उद्देश्य नहीं था, इसलिए उसमें मेरा कोई विशेष अभिनिवेश नहीं रहा। मेरा अभिनिवेश केवल इस ओर था कि यह कला-संख्या पूरी होनी चाहिए।

अच्छा, फिर उसमें एक और बात है कि यह नाट्यशास्त्र में ही दिया हुआ है कि जो कुछ भी आप पद लेंगे इन गीतों को बनाने के लिए, सब में चतुर्मात्रिक गण होने चाहिए, यह स्पष्ट निर्देश दिया हुआ है और जो उदाहरण मैंने आपको पढ़कर सुनाये हैं, उनमें चतुर्मात्रिक गण आपको बिलकुल साफ हो जाते हैं। तो पहली बार मैंने जब गीतक बनाया तो यह विशेष ध्यान रखा कि उसमें चतुर्मात्रिक गण हों और एक-एक गण एक-एक कला में आए, यह भी किया। क्योंकि कहा है कि हर कला में चतुर्मात्रिक गण अवश्य होना चाहिए। लेकिन फिर भी थोड़ा वैचित्र्य लाने के लिए चार को अगर आप आठ कर लें, तो उसमें कोई बात नहीं, क्योंकि चार का हिसाब रहना चाहिए, जरूरी नहीं है कि चार ही चार पूरे में चले। तो पहली कण्डिका में मैंने चतुर्मात्रिक पद रखा, फिर चार को ही आठ कर दिया। और चौथी में जा कर केवल दो कलाओं में वैचित्र्य के लिए उसको सोलह बना दिया, फिर वापस आठ में आ गये, और फिर वापस चार में आ गये। इस तरह से किया, थोड़ा सा वैचित्र्य लाने की दृष्टि से, और मुझे लगा कि यह कोई विधान के खिलाफ भी नहीं है। अब मैं नाट्यशास्त्र से पद का उदाहरण पढ़ती हूँ।

'देवं' चार मात्राएँ हो गईं। 'देवं देवैः संस्तुत नमितं दैत्यैर्यक्षैर्नागैः पितृभिः प्रणमितचरणम्।' चार-चार मात्रा के गण है। अब जरा सा देखिए— 'त्रैलोक्यहेतुमीशं', हमेशा ऐसे ही सरल शब्द थोड़े ही चुनेंगे। 'त्रैलोक्य' अब यहाँ तो 'त्रैलो' में ही चार मात्राएँ हो गयीं। ठीक है, लेकिन चार मात्रा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का गण तो बन ही न गया। 'त्रैलोक्यहेतुमीशं' 'क्यहेतु' इसकी, चार मात्रा बनी और 'मीशं' 'रुद्रं शरणमहमुपगतः, फिर और भी उदाहरण हैं जिसमें ऐसा लगा कि एक-एक वजन के शब्द जैसे बार-बार लिये हैं, वह देखिए— 'चन्द्रार्धधरं तिलकार्धधरं, ये एक वजन के शब्द आवृत्त हुए हैं, इस आधार को मैंने पकड़ा, ये सूत्र जो कि थोड़े-थोड़े मिले, कि किस तरह की पद रचना मैं लूँ क्योंकि यही पदरचना मैंने पूरी नहीं रखी है। क्योंकि ऐसा कहीं नहीं दिया है कि वर्धमान गीतक का यह पद रहा। ये तो यूँ ही कहीं उदाहरण डाल दिए उठा कर। न मालूम किस गीतक के हैं। यानी यह नहीं मालूम कि कौन से गीतक के हैं। इसलिए मैंने यहाँ से पकड़ा कि हाँ कुछ इस तरह की रचना बनती होगी। कभी-कभी एक वजन के शब्द भी रखे जा सकते हैं, रखे जाने चाहिएँ, उससे भी एक संतुलन आयेगा और चार के भी रखे जा सकते हैं, छः के भी रखे जा सकते हैं लेकिन हाँ कुल मिलाकर मात्रिक गण चार-चार के हों ऐसा हो, यह देख लिया शुरू से, फिर कुम्भा को देखा जो १५ वीं शताब्दी में हैं। कुम्भा ने बहुत से गीतकों के उदाहरण दिये हैं, 'नोटेशन' भी दिये हैं लेकिन वे 'नोटेशन' भी मैं गा नहीं सकती, क्योंकि समझ में नहीं आता कि कैसे गायें उसको, लेकिन जो पद दिये हैं, उससे एक बात और समझ में आयी, कहीं बड़े-बड़े समास लिये, हैं, जैसे 'समदमदनमद-दमनविधूनितरतिवरदाननिदानम्', इतना बड़ा समास, गीतगोविन्द की शैली का बिल्कुल और फिर बाद में देखने पर पता लगा कि नाट्यशास्त्र में भी, यहाँ जो मैंने पढ़ा इनमें समास नहीं है, लेकिन पूर्वरंग में ध्रुवा के उदाहरण दिये हैं, उसमें समास है, जैसे नरमुनिपितृगणनमितपदम्। इतना बड़ा समास नाट्यशास्त्र में भी है। सब लघु अक्षर हैं, अन्त में जाकर एक गुरु आता है बस, तो इससे ये लगा कि समस्त पद भी ले सकते हैं, असमस्त भी ले सकते हैं। जहाँ असमस्त पद आयेंगे, अब देखिएगा इसकी चौथी कण्डिका में जो गीत मैं अभी गाऊँगी, आप देखेंगे बीच-बीच में जानबूझ कर मैंने कुम्भा से एक मदद ले ली। कुम्भा में कहीं-कहीं ऐसा है, 'त्रिगुणं विगुणं विशदं सकलं अमलं' इस तरह से चार-चार मात्रा के और छोटे-छोटे शब्द हैं, तो वे जब आते हैं, तब आपकी स्वर-योजना का ढाँचा भी बदल जाता है। जब समस्त पद आप लेते हैं, तो 'मॆलोडी' (स्वर-योजना) का ढाँचा दूसरा हो जाता है। तो दोनों तरह के पद लेकर मैंने कोशिश की उस समय, जिससे कि कुछ वैचित्र्य बने। अच्छा जो कला है, उसका नाप भी मोटे तौर पर उन लोगों ने बताया है कि दो मात्रा की कला है और एक मात्रा जो है वह पाँच निमेष या पाँच लघु अक्षर होती है यानी छन्द में जिसको हम एक मात्रा कहते हैं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसके पाँच गुने को ताल में एक मात्रा कहते हैं, यह सीधी बात है, इसलिए उसमें भी कोई समस्या नहीं है। लय स्थिर करने में भी कोई बहुत अधिक समस्या नहीं है। उदाहरण—

गीतक १

खमाज

उपोहन १

झण्टुं जगतिय वलितक दिगिनिगि तितिचा।
१ २ ३ ४ ५

कण्डिका १

देवं वन्द्यं मदना- ङ्गहरं ललना- धंधरं चन्द्रा- धंधरं शम्भुम्।
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९

उपोहन २

झण्टुं जगतिय वलितक दिगिनिगि तितिझल तितिचा।
१ २ ३ ४ ५ ६

कण्डिका २

घनघनसारस- होदरसुन्दर- शशिकरनिकरश- रीरं उत्फणफणिगण-
१ २ ३ ४ ५

वलयशिरोमणि- किरणविभिन्नत- मिस्रम्।
६ ७ ८

उपोहन ३

झण्टुं जगतिय वलितक दिगिनिगि तितिझल कुचझल तितिचा
१ २ ३ ४ ५ ६ ७

कण्डिका ३

गौरीनयनसु- लोलविलोकन- जीवितमदनं कनकपिषङ्गज- टापरिसरगत-
१ २ ३ ४ ५

गङ्गाधौतक- पोलं चन्द्रापीडं चन्द्रकमण्डित- चारुनिचोलं विशदकपोलत-
६ ७ ८ ९ १० ११

लप्रतिबिम्बित- कर्णविभूषं गजमुखषण्मुख- बालक्रीडा- विकसितवदनम्
१२ १३ १४ १५ १६

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कान्हड़ा

उपोहन ४

झण्टुं जगतिय वलितक दिगिनिगि तितिझल कुचझल तितिझल तितिचा
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८

कण्डिका ४

सततं सनका- दिकपरिगीतं गीता- गम्यं गीतगु- णं पारे संसृति-
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८

नीरनि- धिं त्रितयातीतं त्रिजगदधीशं त्रिगुणं-विगुणं विमलं-सकलं
९ १० ११ १२ १३ १४

विकलं-विशदं अमलं समदमदनमददमनविधूनित- रतिवरदाननिदानं
१५ १६ १७ १८

गजवदनोदितभुजवनलीला- लालनहर्षितवदनं ध्यानागम्यं ध्येयं सत्यं
१९ २० २१ २२

कमलासदनं परमानन्दं व्योमकेशं निर्जितमदनं सुरनुतचरणं भवभयहरणं
२३ २४ २५ २६ २७ २८

वन्दे शान्तं दिव्यं नित्यम्
२९ ३० ३१ ३२

अब इसमें सारे चतुर्मात्रिक या उसके दुगुने अष्टमात्रिक इनके साँचे ऐसे हैं कि कहीं चार से छोटे नहीं हैं। एक-एक कला में चार अथवा आठ या सोलह सीधे समा जाएँ, ऐसा है। जब दूसरा नाटक 'उत्तररामचरितम्' करने लगे तब फिर मुझे लगा कि उत्तररामचरित जो नाटक है, उसमें एक देवता यदि आदि से अन्त तक है, तो वह वाग्देवता है। पहले ही श्लोक में वाग्देवता को नमस्कार है और वैसे ही अन्त में भरतवाक्य में वाक् है। हर जगह वाणी की बात आती है, वाग्देवता की बात आती है। तो लगा कि वाग्देवता के लिए गीतक बनाना चाहिए। वैसे आमतौर से नाट्यशास्त्र में और कुम्भा में जितने उदाहरण मिलते हैं, सब शिवस्तुति के हैं। तो यह तो हमने शिवस्तुति का ही बनाया पहला, पर मुझे लगा कि देवतास्तुति तो देवस्तुति ही है, शिव हो या और कुछ हो। तो, वाग्देवता का बनाया 'उत्तररामचरितम्' के लिए। पर उसमें सोचा कि राग नहीं बदलेंगे, तब जरा और हिम्मत आ गयी थी। इसलिए सोचा कि एक ही राग में खींच ले जाएँगे। लेकिन अब यह किया कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ये सारे के सारे खाँचे बिल्कुल सीधे-सीधे समाते रहें, यह कोई जरूरी नहीं है। थोड़ी सी, वैचित्र्य लाने के लिए, लय की काट थोड़ी रखी है इसमें। इसलिए वह इससे आपको अलग दिखेगा। प्रथम गीतक की पदरचना जो है, उसका संयोजन तो मेरा ही है, कहीं कुम्भा से कोई समास ले लिया है, कहीं कोई जहाँ जरूरत पड़ी अपना भी जोड़ लिया है, एकाध नाट्यशास्त्र से ले लिया। इस तरह पद का संयोजन पूरा मेरा है, बहुत से विशेषण मैंने भी लगा लिये हैं उसमें, जैसी जहाँ जरूरत पड़ी। थोड़ी सी संस्कृत जिसको आती है, उसके लिए यह कोई मुश्किल नहीं है। वाग्देवता का तो नाट्शास्त्र या कुम्भा में कहीं है ही नहीं। तो एक हमारे बड़े आप्तजन थे—ब्रह्मर्षि दैवरात, 'वागर्थकल्पलता' उनका एक ग्रंथ है, बड़े भारी वैदिक थे वे, तो वेद में वाग्देवता का जितना निरूपण है, ऋग्वेद के वाक्सूक्त पर उन्होंने एक प्रकार से पद्यबद्ध भाष्य लिखा। तो, मुझे अपने खाँचों के लिए जैसे पद चाहिए थे, कुछ मैंने उसमें से लिये, कुछ स्वयं बनाये। इसको पूरा का पूरा मैंने बिहाग में लिया लेकिन तीव्र मध्यम बिल्कुल नहीं लगाया केवल शुद्ध मध्यम। उदाहरण—

गीतक २

उपोहन १

झण्टुं जगतिय वलितक दिगिनिगि तितिचा
१ २ ३ ४ ५

कण्डिका १

देवीं वाचं पूर्णां ब्रह्म इ -वततां स्वर-रस- मयीं ज्योती- रूपाम्
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९

उपोहन २

झण्टुं जगतिय वलितक दिगिनिगि तितिझल तितिचा
१ २ ३ ४ ५ ६

कण्डिका २

भगवतीं वाग्दे -वतां परां दशमूलां श- तांकुरां रौद्रीं भद्रां उग्रां सौम्यां
१ २ ३ ४ ५ ६

अन्तर्बहिर्वृ- त्तिकां मन्द्राम्
७ ८

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपोहन ३

झण्टुं जगतिय वलितक दिगिनिगि तितिझल कुचझल तितिचा
१ २ ३ ४ ५ ६ ७

कण्डिका ३

धेनूरूपां कामं दुहा- नां सत्त्वं द- धानां आत्म- ना संविदानां अर्थनिदानां
१ २ ३ ४ ५ ६

रंजन-व्यंजन- वचननिधानां प्राक् सृष्टेरपि संस्थितां सम- थीं सुस्वर व-
७ ८ ९ १० ११

तीं श्रुतिमतीं -छन्दस्वतीं -सरस्वतीं -भारतीं विद्याम्
१२ १३ १४ १५ १६

उपोहन ४

झण्टुं जगतिय वलितक दिगिनिगि तितिझल कुचझल तितिझल तितिचा
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८

कण्डिका ४

नादात्मिकां वर्णात्मिकां वीणावादन- नादपरमां नानानामसु- रूपवदनां
१ २ ३ ४ ५ ६

घण्टावादन- सौम्यनाद- गुणतो विघ्ना- दिसंहारिणीं विष्णौ केवल-
७ ८ ९ ११ १०

सत्त्वके योग- निद्रामयीं पूर्णे ब्रह्मणि शुद्धसत्त्व निर- ते मौनमु- द्रामयीं
१२ १३ १४ १५ १६ १७

रुद्रे पूर्णस- माधिसत्त्व निर- ते चिद्योग- निद्रामयीं ब्रह्मात्मप्रति-
१८ १९ २० २१ २२

मां रसेन पर- मां यन्त्रात्मि- कां मन्त्रात्मि- कां तन्त्रात्मि- कां चितिमयीं
२३ २४ २५ २६ २७

-धृतिमयीं वि -द्युन्मयीं गौरीं वन्दे हंसीम्
२८ २९ ३० ३१ ३२

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तीसरा गीतक विष्णुपरक है, उसे मैं छोड़ देती हूँ। उसमें दूसरे तरह की काटछाँट की थी। जैसे बहुत दूर तक छः-छः मात्रा के गणों को बनाया है। यहाँ तक कि तीन चार तीन, बल्कि तीन चार-चार इस तरह से ११-११ के कुछ रूप आ गये हैं उसमें।

अब दूसरा प्रसंग ये लेती हूँ कि एक समस्या और कैसे आयी और कैसे सुलझाई। ये तो मैंने पहले ही कह दिया है कि 'इण्टोनेशन' (स्वरोच्चार) का मैं दावा नहीं करती हूँ और उसके लिए किसी के पास भी कोई मार्ग नहीं है, लेकिन फिर भी जो ग्रन्थोक्त काल-मान का विधान है, उसे तो हमने रखा है। पूर्वरंग में दो प्रकार की ध्रुवाएँ बताई हैं। ये हम सभी जानते हैं, (विद्यार्थी खास तौर से ध्यान दें) कि ध्रुवा शब्द जहाँ भी आयेगा, वह रचना निश्चित रूप से छन्दोवद्ध होगी। 'ध्रुवा' का पद कभी भी छन्दोहीन नहीं होगा ये जो अभी हमने पद गाये, ये छन्दोवद्ध नहीं कहला सकते हैं। इनमें गण तो हैं, लेकिन पादविभाजन नहीं है। छन्द के लिए पादविभाजन जरूरी है, वह इनमें नहीं है और यही भरत का विधान है, उसके (नाट्यशास्त्र के) जितने उदाहरण हैं, या किसी और के भी उदाहरण हैं, वे ऐसे ही हैं और ये दो धाराएँ छन्दोवद्ध पद गाने की और छन्दोहीन पद गाने की, मुझे लगता है, नाट्यशास्त्र के पूर्व से चली आ रही हैं और आज तक हैं। आज भी हमारे गेय पदों में कुछ आपको छन्दोवद्ध मिलेंगे और अधिकांश छन्दोहीन मिलेंगे और उसमें कोई हानि नहीं है, गेय की कोई हानि उससे नहीं है। तो यह छन्दोहीन था अभी तक हमने जितना गाया, इसमें कोई छन्द नहीं है। लेकिन अब जब ध्रुवा दी हैं, पाँचवे अध्याय में, पूर्वरंग में, तो वे छन्दोवद्ध हैं। और वे संस्कृत में हैं। ३१ वें अध्याय में ध्रुवाएँ हैं, वे सब प्राकृत में हैं, लेकिन यहाँ क्योंकि यह पूर्वरंग है, इसलिए इसमें प्राकृत नहीं आयेगी, यह सारा देवस्तुति का क्षेत्र है यहाँ प्राकृत का प्रवेश नहीं है। तो इसलिए ध्रुवाएँ भी संस्कृत में हैं और उसमें यह भी विधान है कि ३२ कला में यह ध्रुवा चलेगी एक-एक ध्रुवा मैं अभी आपको पढ़के बताती हूँ, लेकिन वह 'टॅक्स्ट' (पद) इतना छोटा है कि उसको ३२ कला तक खींचने के लिए कुछ न कुछ करना पड़ेगा। मैंने दो ढंग से किया है, दोनों ढंग आपको दिखाऊँगी। मुझे दो रास्ते दिखाई दिये कि जब 'टॅक्स्ट' (पद) अपने पास छोटा हो, तो उसको लम्बा करने के लिए क्या किया जा सकता है। और इसके लिए भी मैंने नाट्यशास्त्र से ही रास्ता खोजा है, अपनी बुद्धि से नहीं खोजा। नाट्यशास्त्र में पदों की या पदांशों की आवृत्ति का क्रम गीतियों में दिया हुआ है कि आपने एक पद कहा फिर अगला उसके साथ जोड़िए और दुगुन में उतने ही काल में दो कह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लीजिए जैसे—'देवं, देवं देवैः, देवं देवैः संस्तुतनमितम्', इस तरह तो ये गीति वहाँ दी है, तो मैंने सोचा कि इस तरह से कुछ आवृत्तियाँ करें। पहले सीधे में कह लें एक चरण को, फिर उसी की दुगुन में 'प्रणमत प्रणमत' इस तरह से आवृत्ति कर लें तो अपने आप दुगुनी कलाओं में आ जाएँगे। यह एक रास्ता है। दूसरा रास्ता यह है कि हम स्वरों में पद का कर्षण करें। तो मैंने दो ध्रुवाएँ बनाई हैं, जिनमें से एक में पहला रास्ता अपनाया है, दूसरी में दूसरा। दोनों आपको सुनाएँगे। लेकिन ये दोनों ही रास्ते वहाँ हैं, कर्षण की बात भी की हुई है नाट्यशास्त्र में। नहीं तो कोई उपाय नहीं है, कहाँ तक खींचेंगे, कैसे गाएँगे, वो पद फिर समझ में ही नहीं आयेगा, इतना खिंच जाएगा। इसीलिए मुझे लगता है कि ये गीति रखी हुई होगी उन्होंने। मेरे तो बड़े काम आयी है ये इसको बनाते वक़्त। अब आप इसका पद सुनिए, जिसको सोलह कलाओं में गाना है। मैं जो ताली दे रही हूँ ये एक-एक कला है। तो इसमें है 'प्रणमत सुरगण-नत-चरणम्'। केवल १४ मात्राएँ होती हैं। अगर आप इसको १४ को खींच के सोलह बना लेंगे, तो चार कलाओं में आ जाएगा, फिर क्या करेंगे। इसको बनाना है हमको आठ, क्योंकि ३२ कला तक चारों चरण मिलाकर जाना है। इसलिए कि उतनी देर में सूत्रधार को चारों ओर रंग में घूमना है, उतना समय तो चाहिए ही ३२ कला का। कहा भी है कि ३२ कलाओं में गाओ इसको। इसलिए ३२ तो बनाना ही है, तो फिर क्या करें? इसलिए फिर मैंने आवृत्तियाँ कीं इसमें। तो 'प्रणमत सुरगणनतचरणम्, नरमुनिफणिगणनमितपदम्, सकलसुरपितृगणभयहरम्' और 'समदमदनमददमनकरम्'। इसमें भी इस तरह के समास हैं यहाँ। कुम्भा में जरा और लम्बे हैं।

उदाहरण—ध्रुवा १

प्रणमत	सुरगण	नतचर-	णं — — —
१	२	३	४
प्रणमत प्रणमत	सुरगण प्रणमत	सुरगण नतचर-	णं— — —
५	६	७	८
नरमुनि	फणिगण	नमितप-	दं — — —
९	१०	११	१२
नरमुनि नरमुनि	फणिगण नरमुनि	फणिगण नमितप-	दं — — —
१३	१४	१५	१६

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकलसु-	रपितृग-	णभयह	रं — — —	
१७	१८	१९	२०	
सकलसकलसुर-	पितृगण सकल सु-	रपितृगणभयह-	रं हरं हरं	
२१	२२	२३	२४	
समदम-	दनमद-	दमनक-	रं — — — प्रणमत	
२५	२६	२७	२८	
नतचरणं— — —	प्रणमतनमितप-	दं— — —प्रणमत	दमनकरं— — —	
२९	३०	३१	३२	

आवृत्तियों से ३२ वनाया इसको, नहीं तो बड़ा मुश्किल था इतना खींचना। और सव लघु अक्षर हैं, आप देखें, एक भी गुरु अक्षर नहीं है अन्त के सिवाय। अब दूसरी है, यह उत्थापनी ध्रुवा है, इसके भी अक्षर बहुत कम हैं, इसको भी ३२ कला तक गाना है।

इसमें कर्षण दिया है, पर अधिकतर अन्त में दिया है, वह 'म्' जो है, उसको मुद्रित गमक से मैंने खींच लिया है। मुद्रित गमक है गमकों में, उसको मुँह बन्द करके अनुस्वार में ही खींच लिया है। उससे अक्षर भी स्पष्ट रहे और कर्षण से काल-मान भी पूरा हो गया।

उदाहरण—ध्रुवा २ (उत्थापनी)

दे-	वं-	विभुं — —	— — — —
१	२	३	४
त्रिभु-व	नाधि	पतिं —	— — — —
५	६	७	८
कै-	ला — — स	पर्वत	गुहा — —
९	१०	११	१२
भिरतं —	— — — —	— — — —	— — — —
१३	१४	१५	१६
शै-	लेंद्र	राज	तनया —
१७	१८	१९	२०
दयितं —	— — — —	— — — —	— — — —
२१	२२	२३	२४

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

—मू	-र्धर्मा — न	तोऽस्मि पुर	ना — शक
२५	२६	२७	२८
रं —	— — — —	— — — —	— — — —
२९	३०	३१	३२

यहाँ तक संस्कृत की वात पूरी करती हूँ। अब थोड़ी सी प्राकृत की वात। प्राकृत में गेयता संस्कृत की अपेक्षा अधिक है, क्योंकि उसमें स्वर प्रधान होता है, व्यंजनों का तो लोप ही होता चलता है और स्वर वनते जाते हैं। अब एक ही गाकर समाप्त करेंगे। वास्तव में ध्रुवा तो इसको नहीं कह सकते, क्योंकि यह देवस्तुति है। 'मालविकाग्निमित्रम्' में दूसरे अंक में जब मालविका को राजा के सामने किसी भी तरह प्रत्यक्ष प्रस्तुत करने का प्रसंग है, तब उसका नृत्य राजा के समक्ष रखा जाता है और पण्डित कौशिकी, जिसका नाम कल त्रिपाठीजी ले रहे थे, उनसे कहा जाता है कि आप बताइए कि यह क्या नाचे। तो पण्डित कौशिकी कहती हैं कि शर्मिष्ठा का बनाया हुआ एक छलिक करके गीत है, उसकी चतुर्थ वस्तु या खण्ड है एक चतुष्पदी उसे नाचा जाए। देखिए यह 'छलिक' नाम का शर्मिष्ठा का बनाया हुआ पद है। शर्मिष्ठा की कथा हम लोग जानते हैं कि वह ययाति के साथ गयी है, लेकिन दासी बन कर गयी है। यद्यपि ययाति से पहले उसी का विवाह होने वाला था, वह ययाति को चाहती है, लेकिन उसके सामने वह जा नहीं सकती क्योंकि पराधीन है। तो वो ऐसा है।—

दुल्लहो पियो मे तस्सिं भव हियय निरासं........इसकी अगर संस्कृत करें, तो—'दुर्लभः प्रियो मे, तस्मिन् भव हृदय निराशम्' "मेरा प्रिय दुर्लभ है, हे हृदय तू उसके प्रति निराश हो जा"। मालविका की भी ठीक वही स्थिति है। पण्डित कौशिकी ने बड़ा मार्मिक प्रसंग चुना है। मालविका भी वहाँ बन्दी बनाकर लायी गयी है और रानी के द्वारा नृत्यशाला में डाली गयी है। फिर एकदम से वह कहती है, 'अम्हो' अम्हो' माने "आश्चर्य है" 'अवांगो मे परिप्फुरइ किंपि वामओ' मेरा वाम अपांग जरा सा स्फुरित हो रहा है, कुछ अच्छा होने वाला है। यहाँ एकदम से भाव बदल जाता है। पहले तो विल्कुल निराशा है, फिर थोड़ी-सी आशा की किरण उसको दिखती है कि बाईं आँख फड़क रही है, क्या कुछ अच्छा होने वाला है। फिर कहती है "अरे यह तो सामने है"। 'एसो चिरदिट्ठो', इसको चिरकाल के बाद मैंने देखा है, लेकिन 'कहं उवणइदव्वो', इसके पास मैं कैसे जा सकती हूँ ? पास नहीं जा सकती, पुनः निवेदन है, फिर से बात बदली जाती है। फिर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहती है, 'णाह मं पराहीणं, तुइ गणग्र सतिण्हम्', "हे नाथ, मुझ पराधीन को आप अपने प्रति सतृष्ण समझिए।" यह पद है इसका। अब इसके साथ मालविका का नृत्य भी होगा।

एक बात कहना भूल गयी, दोनों गीतक जो हमने गाये, 'वर्धमान' नाम के, उनके साथ नृत्य भी होता है। तो हमारे चन्द्रशेखरजी ने इस पर नृत्य की भी रचना की थी। इसके साथ पहली कण्डिका में एक नर्तकी आती है, दूसरी में दूसरी आती है, तीसरी में तीसरी आती है और चौथी में चौथी। वर्धमान इसलिए है, क्योंकि इसमें कलाओं की और नर्तकियों की संख्या बढ़ती चली जाती है। पहली बार जब कण्डिका गायी जाती है तो प्रवेश के बाद नर्तकी अभिनय करती है और फिर सब की सब मिलकर पिण्डीबन्ध करती हैं। इस तरह से उसकी योजना है। तो नृत्य के लिए ही बने हुए दोनों गीत थे, जो मैंने बनाये और उसके साथ बहुत अच्छी तरह नृत्य हुआ। अस्तु।

तो, अब मालविका को भी नृत्य करना है इसके साथ। इसलिए इन तीनों भावों की जो अवस्था बदली, उसमें मैंने राग बदला है। राग चयन में मैंने ध्यान रखा, यहाँ आचार्य वृहस्पति की याद आती है। वे कहा करते थे कि बागेश्री (वागीश्वरी) जो है आज की, उसमें षड्जग्राम का बिल्कुल शुद्ध रूप दिखाई देता है, क्योंकि मध्यम मिलाते हैं न, पंचम मिलाने से बात बिगड़ जाती है। जब मध्यम मिलाते हैं, तो त्रिश्रुति ऋषभ मिल सकता है, वगैरह-वगैरह बातें। तो मैंने बागेश्री को इसका आधार बनाया है। बागेश्री में शुरू किया है। जब भाव बदला है, उसको आश्चर्य हुआ है या आशा की किरण आयी है, तब उस जगह गान्धार और निषाद को तीव्र कर दिया है। आज हम अगर उसको भिन्नषड्ज भी कह दें और कुछ नाम भी दे दें, लेकिन आप देखेंगे, कैसा लगता है। फिर जब निराशा आती है. तो सब कोमल कर दिया है एकदम मालकौंस कर दिया है और वापस फिर बागेश्री। (उदाहरण)

ये एक बहुत ही टूटी-फूटी कोशिश है इसमें कितनी अपूर्णता है, यह मुझसे ज्यादा कोई नहीं जानता, इसलिए अपूर्णताएँ बताने की तो कोई जरूरत नहीं, मैं स्वयं मान रही हूँ और यह सवाल हो सकता है कि यदि यह इतना अपूर्ण है, तो इसका क्या औचित्य है, क्यों यह किया है, तो मैंने पहले ही बताया कि लाभ शायद विशेष कुछ नहीं है। इतना जरूर है कि कम से कम जो भाषा दी हुई है, वह आज गाने में कैसी दिखती है। और दूसरे, जो भी कालमान दिया हुआ है, उतने कालमान में खण्डों को बना कर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देखने से गीत का क्या रूप बनता है, इतना तो कम से कम इसका औचित्य है ही, ऐसा मैं समझती हूँ। हमारे लिए तो प्रत्यक्ष औचित्य था, क्योंकि हमें नाट्यप्रयोग करना ही था। इसलिए वह तो एक बात है, लेकिन उसको अगर अलग रख दें, तो यह सवाल उठ सकता है कि भाई इसका कोई लाभ भी है ? क्या फायदा है, इसके करने से। कोई खास फायदा नहीं है, सिवा इसके कि केवल शब्दों में हम जो कुछ पढ़ते रहते हैं, उसे गाकर देखें। जैसे कि ये शुष्काक्षर हैं, चलिये, हम जैसे भी गायें, आज के ढंग से भी गायें, तो ये शुष्काक्षर भी कभी गाते थे लोग, तो गाते होंगे, तो कुछ-कुछ कैसा लगता होगा सुनने में, उसका शायद पाँच प्रतिशत अहसास तो हमें हो ही सकता है। इससे अधिक शायद नहीं हो सकता। इसकी मैं आपको एक कहानी बताऊँ। ये शुष्काक्षर जब हमने गाने शुरू किये तो हमारे साथ ऋत्विक् सान्याल भी थे। उन्होंने अपने गुरुजी उस्ताद जिया फरीदुद्दीन डागर को बताये। उन्होंने विद्यार्थियों को गवाना शुरू किया और फिर 'शंकराचार्य' फिल्म में कारन्त ने इनका उपयोग किया। इसके लिए ताल का ढाँचा पूरा है, लय का करीब-करीब है, पद है, यानी ताल और पद दो तो हमें मिल गये, स्वर नहीं मिला। स्वर, ताल, पद तीन घटक हैं, उसमें से दो घटक हैं हमारे पास। स्वर हमारी बुद्धि से है, अब वह चाहे दो प्रतिशत हो, चाहे ५ प्रतिशत हो। अब इसका कुछ मूल्य है या नहीं है, यह आप लोग तय करें।

डॉ० लाठ की टिप्पणी—

कुछ इसी तरह का प्रयास एक दूसरे प्रसंग में मैंने किया है, वह यह है कि पुरानी पदावली होती है, उसमें जब पाठभेद का प्रश्न आता है तो पाठभेद को समझने के लिये यह समझना जरूरी होता है कि वह गेय है, तो किस प्रकार से गेय है। यानी ताल में गेय है और उसमें ताल स्पष्ट रूप से है। तो पाठभेद का निर्धारण करते समय यह देखना पड़ता है कि जो पाठभेद अलग गेय परम्परा में होगा, वह पाठ भेद ताल में 'फ़िट' होगा जरूर, उसके बगैर वह पाठभेद नहीं कहला सकता, यानी पाठभेद ही नहीं बनेगा। यानी एक विशेष प्रकार का पाठभेद गेय परम्परा में बनता है। यदि मान लीजिए एक बहुत चलता हुआ पद है तुलसीदासजी का "श्रीरामचन्द्र कृपालु भज मन हरण भव भय दारुणम्", अब देखें, यह बिल्कुल ताल में बँधा हुआ है, इसमें आप अगर 'श्री' को, उठाव जिसको कहते हैं बोलें, तो "श्री रामचन्द्र कृपालु भज मन हरण भवभय दारुणम्" सात-सात में चलेगा। केवल इसी तरह से नहीं, आप देखें कि किस तरह से बाँधा है लोगों ने, अन्त में पाँच का एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

टुकड़ा आता है जैसे 'दारुणं' और उसके बाद दो मात्राएँ खाली रह जाती हैं जहाँ 'नव' या 'श्री' इस तरह से 'फ़िट' होता है। तो इसमें अगर कोई पाठभेद करना चाहेगा, और पाठभेद होते हैं तो ऐसा नहीं है कि वह कुछ भी डाल देगा। उसको पाठभेद ऐसा ही करना पड़ेगा कि वह उसमें 'फ़िट' हो जाय। तो यह तो मैंने आपको उदाहरण दिया। इस तरह के जो गेयपद होते हैं सूरदास में ऐसे भी पद मिलते हैं, जो कि स्पष्ट दस-दस मात्राओं में बँधे हुए हैं। और वे दस मात्रा के पद जो हैं, ये आपको एक सूर की जो सबसे पुरानी पोथी मिली है, वो १५८० की है और राजस्थान में फतेहपुर में लिखी गयी थी, उसके पदों को अगर मिला कर देखें, तो जैसा अभी बहिनजी ने कहा कि दो तरह के पद लिखे गये हैं, कुछ तानसेन के हैं, ब्रह्मानन्दादि के हैं जिसमें कि जो पदावलि है, वो हमको ताल का तो इंगित नहीं देती है, मगर दूसरे ऐसे हैं, कुछ सूरदास आदि के, जहाँ पदावलि ताल का इंगित दे देती है और उठाव भी हमको बता देती है। जैसे हम ये गायें, "मैया मैं नहीं माखन खायो", तो यहाँ हिन्दी में बहुत चलता हुआ पद या छन्द होता है, जिसको सार या सरसी कहते हैं १६-१२ का, वह है तो आप देखिये १६ और १२ जो है यह यों नहीं आयेगा। साधारण तालों में नहीं जा सकता, अब वो सोलह और बारह की ताल बनाएँ, तो ऐसी होती ही नहीं है। उसमें यह है कि बारह के बाद जो मात्रा आपको मिलती हैं या तो वे आलाप से भरी जाएँगी या उसमें कोई पद आयेगा। तो ये 'माई' वग़ैरह बने हुए हैं, माई मैं नहीं माखन खायो, ये वहाँ भरने के लिए हैं और पाण्डुलिपि में 'माई' की जगह 'सखी' या इस तरह के कुछ-कुछ पाठभेद मिलते हैं। तो ऐसे ही पाठभेद मिलते हैं, जो उन चार मात्राओं में समा जाएँ, और उससे यह पता लग जाता है कि यह उठाव है। और उसका ताल का ढाँचा हमको मिल जाता है। वैसे तो गाने वाला "श्रीरामचन्द्र कृपालु भज मन" को आठ में भी गा लेगा, नौ में भी गा लेगा। गानेवालों में एक होती है बात कि उसको कहीं बिठा लेते हैं पर उसका जो अपना इंगित है, वह स्पष्ट है कि वह सात में बँधा हुआ है और एक विशेष प्रकार से बँधा हुआ है। इसी तरह हमें १४ मात्रा के या धमार के पद मिल जाते हैं जो कि बिल्कुल साफ बताते हैं आपको कि धमार में बँधे हुए हैं और इसी तरह दस मात्रा में बँधे हुए पद मिल जाते हैं, तो उनमें जब पाठभेद का ध्यान करते हैं तो जो 'क्रिटिक' (संशोधक) है, वह इस बात को ध्यान में रखता है कि ये कहीं टूट तो नहीं रहा है। इसमें अगर नहीं बैठेगा, तो दो बात हो सकती हैं या तो वह गेय परम्परा का पाठ है ही नहीं। वह उस समय का पाठभेद है जबकि गेय परम्परा की चीज़ लिखित परम्परा में आ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गयी थी क्योंकि जो केवल लिखेगा, वह दूसरे समानार्थक शब्द या कुछ और जोड़ देगा, जो कुछ गाया नहीं है, वह गाया नहीं जा सकेगा। गेय परम्परा का जो पाठभेद होगा, उसमें वह 'फ़िट' जरूर होगा।

डॉ० त्रिपाठी की टिप्पणी

मैं केवल इस सारे प्रयोग को इसके पूरे सन्दर्भ में देखने के लिए आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता था। बहिनजी ने जब पूर्वरंग को पुनर्निमित किया, पुनराविष्कृत किया, तो वह आवश्यकता या तो 'मालविकाग्निमित्रम्' के संपूर्ण प्रयोग के सन्दर्भ में थी या उसे 'उत्तररामचरित' के उपस्थापन के सन्दर्भ में किया या फिर बाद में १९८२ में कालिदास अकादमी में 'विक्रमोर्वशीय' के चौथे अंक मात्र की प्रस्तुति की। देश के तीन अलग-अलग निर्देशकों ने अपनी-अपनी तरह से केवल चौथे अंक को पुनर्निमित किया और उसे प्रस्तुत किया। उसमें से जो एक प्रस्तुति हुई वह हम लोगों के द्वारा हुई। बहिनजी उसमें भी गयीं, उज्जैन में रहीं। उस सन्दर्भ में फिर से पूर्वरंग पुनर्निमित हुआ और पूरी संपूर्णता में फिर वह पूर्वरंग सामने आया। जरूरत इसलिए थी कि जब अपने प्रयोग, अपने नाटक की निजता की खोज में 'आइडेण्टिटी' को पाने के लिए कोशिश शुरू हुई तो यह समझा गया कि संस्कृत नाटक की आन्तरिक रचना ही ऐसी है कि उसमें काल के विभिन्न स्तर एक साथ उपस्थित हैं। पूर्वरंग जो 'कॉस्मिक टाइम' है, उसको संस्कृत नाटक में और पूरी की पूरी उपस्थापन की परम्परा में रखकर देखना होगा। पूर्वरंग आख़िर किसलिए है? जो परमार्थ है, जो कि पूरा उद्बोधन है, वेदों का आवाहन है, प्रार्थना है, संपूर्ण भारतीय प्रयोग-परम्परा, मैं सम्पूर्ण इसलिए कह रहा हूँ कि जो लोक-परम्परा है, उसमें भी अद्यावधि इस समय नाना रूपों में वह जो 'इन्वोकेशन' है, शुरू में है, उसका नामकरण पूर्वरंग हो या न हो। पूर्वरंग के तत्त्व एक या दो बचे हैं, १९ में से दो ही अंग 'नाचा' में बचे हैं और 'नाचा' में भी इसी छत्तीसगढ़ में पूर्वरंग- अपनी तरह से उपस्थित है, यह बात मन में थी, भले ही उसमें पूरे शुरू से जो अंग हम लोगों ने लिए वे वाद्य को रखने से लेकर कुतप के सन्निवेश से लेकर, उनको मिलाने से लेकर और अन्त से त्रिगत पर्यन्त तो सारे अंग है, संलाप होता है, उसका नाट्यांश है, वह बड़ी लम्बी बात है, उसको नहीं कह सकते हम इस समय लेकिन इन सारी बातों से एक तो 'कॉस्मिक टाइम' समझ में आता है। फिर प्रस्तावना के शीर्ष अंश में सूत्रधार, प्रयोक्ता खुद आता है, अपने समय में आता है और फिर जो कृति है, जो उपस्थापन है, उसके समय में प्रवेश होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। शकुन्तला और दुष्यन्त के समय में फिर हम चले जाते हैं। ये जो समय के तीन स्तर हैं, इन समय के तीन स्तरों की खोज के लिए पूर्वरंग का एक स्वरूप निर्मित करना आवश्यक था। नान्दी भी जो बहिनजी ने बनाया, वह जब 'इदं कविभ्यः पूर्वभ्यो नमो वाकं प्रशास्महे। विन्देम देवतां वाचममृता-मात्मनः कलाम् ॥' जब भवभूति कहते हैं, तो उसके साथ कोई 'कॉस्मिक टाइम' है, जो जुड़ना चाहिए और इसलिए 'देवीं वाचं' से वहाँ पर आरम्भ हुआ, उसको रखा था, ये बातें हम लोगों के विचार में आयी थीं, और तब बहिनजी ने उसको उठाया था।

इसका जो फिर दूसरा हिस्सा है, वह था तदनुरूप आंगिक और फिर उपस्थापनीय कृति के वाचिक में प्रवेश की बात। भाषा के जो स्तर और भावा में जो नादांश की बात आपने कल की थी, उस नादांश का हम क्या करें? भाषा को तो हम कह सकते हैं। संवाद को हम कह सकते हैं, पर संवाद के भीतर विद्यमान जो नादांश है वह समय से और देश से बदलता चला जाता है, उसे आप 'काकु' कहें, 'इण्टोनेशन' कहें, कुछ भी कहें, वह है नादांश। तो उस नादांश का हम क्या करेंगे, यह बात हमारे सामने थी और तब हमें लगा कि इसका अगर पुनर्निर्माण करना है, पुनराविष्कार करना है, तो दो ही रास्ते हैं। एक तो संस्कृत रंगमंच की जो भी जीवित परम्परा है, उसका सहारा लिया जाय और वहाँ तो है ही, वहाँ तो विद्यमान है। तो जहाँ संस्कृत रंगमंच की जीवित परम्परा है, वहाँ वह नादांश कैसे आना चाहिए, यह उनको मालूम हो। बाक़ायदा उसकी शिक्षा है, उसकी परम्परा है, मेरा मतलब है कुडियाट्टम् से। कुडियाट्टम की बात आपने कल उठाई थी, इसलिए मुझे यह कहना आज प्रासंगिक लगा कि इसको मैं कहूँ। इस पर आजकल चर्चा में हम लोगों से बात हो रही थी। जब उदाहरण के लिए संस्कृत है, और कुडियाट्टम् ने उस 'इण्टोनेशन' को कैसे बरकरार रखा है, दुष्यन्त आया है और शरसंधान हो गया है, वह मृग के ऊपर बाण छोड़ना चाहता है और तब तक मुनि प्रवेश करते हैं और कहते हैं "भो राजन्, आश्रममृगोऽयं, न हन्तव्यो न हन्तव्यः।" अब जब दक्षिण का प्रयोग होता है, केरल का प्रयोग जब होता है, उस समय इस नादांश का उपयोग वो कैसे करते हैं दो जगहों पर वो आज भी है। (उक्त वाक्यांश का सोदाहरण वाचिक अभिनय)।

यह जो पदार्थाभिनय से वाक्यार्थाभिनय तक जाने की आवश्यकता है, सूची, अंकुर, शाखा को प्रदर्शित करने के लिए सामान्य अभिनय के जिन तत्त्वों की आवश्यकता है, उसके अनुसार परम्परा में कैसे उसका कर्षण करना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चाहिए, क्योंकि समय चाहिए और उस समय के लिए आंगिक के लिए जो आवश्यकता है, तदनुकूल वाचिक का जो स्वरूप होना चाहिए, वह कुडियाट्टम् के पास है। कैसे है, मैं अपरान्ह में जब अपनी बात कहना चाहूँगा नाट्यशास्त्र के संपादन की समस्या पर, उस समय मैं इस बात को कहने का इच्छुक हूँ कि कैसे कुडियाट्टम् नाट्यशास्त्र से जुड़ता हुआ दिखाई पड़ता है। कैसे, मुझे दीख रहा है कि विद्वत् मण्डली के आगे रखकर के और तब उस पर एक संभावना के ऊपर, एक अनुमान के ऊपर हम विचार कर सकते हैं। फिर भाषा के जो, जैसे यहाँ पर प्रयोग हैं, से ही प्रयोग वैसे भाषा से विभिन्न संस्कृत नाटक बने हैं। उन में भाषा की बहुलता, स्तर की बहुलता है। और अगर इस भाषिक स्तर की बहुलता को हम सुरक्षित नहीं रख पाते, तो नाटक के प्रयोग का कोई अर्थ नहीं होता है और इस तरह से जो आज के नाटक का स्वरूप बनता है, वह भी भाषिक स्तर की बहुलता का है। उसको कैसे संस्कृत नाटक ने सुरक्षित किया और जहाँ पर यह परम्परा नहीं थी, नादांश की सुरक्षा की, मेरा मतलब हिन्दी भाषी प्रदेश से है, वहाँ भी इसे कैसे पुनर्निर्मित करें, यह हमारी समस्या है। तो संस्कृत में जो संस्कृत के वाचिक का विकास है, संस्कृत नाटक के लिए उसके पुनर्निर्माण में संस्कृत वाचिक की पुनर्रचना और प्राकृत वाचिक की पुनर्रचना और अपभ्रंश वाचिक की पुनर्रचना कैसे हो सकती है, उसकी क्या दिशाएँ हैं, इन पर भी कुछ प्रयोग हम लोगों ने किया है, वो वाचिकांश के ऊपर जो काम करना था, वह काम बहिन जी ने मुझको सौंपा था, आंगिक के लिये जो काम करना था, उसे चन्द्रशेखरजी ने किया था। संगीत के लिए बहिनजी ने किया और उसके दृश्य के लिए ख़ासतौर से चित्र के लिए जो काम होना था, उसको स्मार्त जी ने सँभाला था। स्थापत्य के लिए जो कुछ होना था, उसको भी उन्होंने संभाला था। और इस तरह से इसकी पूर्णता में इस प्रयोग को आप देखिए, तो बहिनजी ने जिस सार्थकता की बात कही, दरअसल सार्थकता का थोड़ा सा अन्दाज़ इन कार्यक्रमों में होता है, मुझे यह बात कहनी थी। यह बात निरन्तर दिमाग़ में है कि प्रयोगपरक कलाओं के अनुसन्धान की दिशा, (जब कल मैंने अपने आरम्भिक वक्तव्य में यह बात कही थी) हूबहू वही नहीं हो सकती जो प्राकृतिक विज्ञान के अनुसन्धान की पद्धति है या फिर मानविकी के अन्य विषयों के अनुसन्धान की पद्धति है, हूबहू वह वही नहीं हो सकती, ऐसे अनुशासन जो प्रयोगपरक हैं, उनमें अन्तरनुशासिक से मेरा तात्पर्य दरअसल इन्हीं बातों से था। □

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संगीत के इतिहास के निर्माण में शिल्प की भूमिका

□ डॉ० मुकुन्द लाठ

मुझसे यह कहा गया था कि संगीत के इतिहास को समझने में शिल्प की क्या भूमिका हो सकती है, इस विषय पर कुछ बोलूं। बताऊँ कि उसमें क्या समस्याएँ आती हैं। किसी भी इतिहास को समझने में हम किसी माध्यम का या किसी स्रोत का जब प्रयोग करते हैं, तो उसकी अपनी एक विषशे समस्या होती है। उसमें मैं आऊँगा। पर उससे पहले एक बात कहना चाहता हूँ और यह चर्चा कुछ दिनों से हो रही है हम लोगों में आपस में। मेरे ख्याल से बहुत से लोगों में यह चर्चा हो रही है कि हमारी जो प्रायोगिक कलाएँ हैं, उनके इतिहास की समझ, पश्चिम में जिसको 'हिस्ट्री ऑफ़ आर्ट्स्' (कलाओं का इतिहास) कहते हैं, क्या उस तरह की समझ भी हो सकती है या नहीं? जब हम किसी भी कला का इतिहास पढ़ते हैं, तो सबसे पहले कौन-सी चीज हमें चाहिये? कहना नहीं होगा कि सबसे पहले उस कला के उदाहरण होना, यह बहुत जरूरी है। हम मन्दिरों का इतिहास पढ़ते हैं, तो गुप्त काल से या उसके पूर्व से हमको मन्दिर मिलते चले आते हैं तकरीबन आज तक। कौन सा मन्दिर कब बना, उस पर और उससे क्या 'इन्फ़्लुएन्सेज' (प्रभाव) हुए? किस तरह एक मन्दिर का दूसरे से सम्बन्ध है, यह चर्चा हम कर सकते हैं और कला के इतिहास का मूल कार्य भी यही है। पर कुछ प्रायोगिक कलाएँ ऐसी हैं कि उनमें ऐसा सम्भव नहीं है और संगीत उनमें से एक है।

अभी सवेरे बहिनजी (डॉ. प्रेमलता शर्मा) ने बतलाया कि जो मूल संगीत है, उस तक तो हम पहुँच ही नहीं सकते। उसके किसी एक अंग को हम पा सकते हैं या दो अंगों को पा सकते हैं। पद मिल जाते हैं तो पद के आधार पर हम ताल की परिकल्पना कर सकते हैं, पर मूल संगीत, स्वर, तक हम जा नहीं सकते। यह समस्या बड़ी गहरी है हमारे यहाँ। फिर हम लोगों में 'मिथ' बनाने की बड़ी भारी प्रवृत्ति है। हम सब भारतीय सोचते हैं कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमारा संगीत तीन हज़ार वर्ष पुराना है। ठीक है, और भी पुराना हो सकता है। हर जगह संगीत तीन हज़ार क्या, कम से कम तीस हज़ार, इससे भी ज्यादा, अगर तीस लाख या तीस करोड़ साल पुराना है, सामवेद से उसका सम्बन्ध हैं, पर वह कैसा सम्बन्ध है ? आज अगर हम यह जानना चाहें कि सदारंग कैसे गाते थे, सो भी हम नहीं जान सकते। सदारंग के बाद उनके शिष्य कैसे गाते थे, सो भी हम नहीं जान सकते। जब से रिकॉर्डिंग शुरू हुआ है उसके पहले अगर हम जानना चाहें कि कोई कैसा गाता था, तो हम जान नहीं सकते। हम श्मशान सिद्धि के द्वारा एक वेताल को साथ लें कि ले चल मुझे पुराने समय में, तो शायद तत्कालीन संगीत का रूप समझ सकेंगे।

फिर भी एक समस्या ध्यान में रखने की है। पिछले पचास बरसों के संगीत का इतिहास, जबकि हमारे पास साधन हैं तो भी हम उसे अगर समझ सकते हैं तो किस तरह समझ सकते हैं ? सोचने की बात यह है कि जब हम इतिहास आँकते हैं, तो किसका आँकते हैं ? राग का आँकते हैं, ताल का आँकते हैं ? ये चीज़ें कैसी चीज़ें हैं ? इनका स्वरूप क्या है ? क्या ये कोई बँधी हुई चीज़ है ? इतिहास तब आँका जा सकता है कि हमको एक परि-निष्ठित चीज़ मिल जाये। उसके बाद एक दूसरी परिनिष्ठित चीज़ मिल जाये। यों क्रम बने। पर राग क्या ऐसी चीज़ है ? आप लोगों में से संगीत शास्त्र के जो विद्यार्थी हैं उन्होंने शास्त्र में राग-वर्णन देखा होगा। पुराना तो छोड़ दीजिये, आज भातखण्डेजी की किताब उठाकर देख लीजिये, आप राग का क्या वर्णन मिलता है ? तीन-चार लाइनों में राग का वर्णन पूरा हो जाता है। इससे ज्यादा तो वर्णन नहीं मिलता है। ज्यादा से ज्यादा कोई करता है तो थोड़ा सा प्रस्तार दे देता है। अब मान लीजिये कि इस तरह के वर्णन आपको मिल जाते हैं पुराने समय से तो राग के जो प्रयोग में फैलाव होते थे उसके बारे में आप क्या समझ सकते हैं ? कुछ भी नहीं समझ सकते। यहाँ सोचने की बात यह है कि जो वर्णन मिलता है क्या इससे अधिक कुछ मिल सकता है ? हम लोग अक्सर ऐसा सोचते हैं कि हमारे शास्त्रकारों में, हमारे पुराने लिखने वालों में कोई कमी रह गयी है। पश्चिम में तो संगीत की रचनाओं का पूरा परिनिष्ठित रूप मिल जाता है पर हमारे लोग जो थे, उनमें बहुत सी कमियों की तरह एक यह भी कमी थी कि उन्होंने संगीत का परिनिष्ठित रूप नहीं दिया। पर आइये हम अपने आप से पूछें कि जिस तरह का राग का रूप है, उसका कितना परिनिष्ठित वर्णन दिया जा सकता था ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राचीन साम में परिनिष्ठित रूप देने की प्रणाली थी ऐसा लगता है। हाथ से स्वर बताया जाता था। बाद में अंकों से भी स्वर बताने की प्रणाली चली। कारण यह था कि साम के परिनिष्ठित रूप सामने थे। उन्हें यों का यों बांधना था। यह बात और है कि फिर भी साम बाद में विकृत हुए। मौखिक परम्परा में विकृति को रोकना कठिन है। पर राग में तो विकृति उसके स्वरूप का ही अंग है। उसके अन्दर ही विकृति के नियम समाये होते हैं।

यहाँ से देखें कि गान्धर्व में क्या हुआ। हमें अपने यहाँ सबसे पहले जो राग की तरह का संगीत मिलता है वह गान्धर्व में मिलता है। गान्धर्व ऊपर से, स्वर्ग से उतरा हुआ संगीत था। 'फ़ॉर्म' जो ऐसा होता है, जो ऊपर से उतरा हुआ माना जाता है उसके बारे में हम यह समझते हैं कि उसमें विकृति नहीं हो, उसे हम इस तरह से बाँध दें कि कहीं इधर-उधर नहीं जाये। जिसको हम 'रेवेलेशन' कहते हैं, उसमें हम विकृति नहीं चाहते। पर गान्धर्व कैसे 'रेवेलेशन' था, कैसा "दृष्ट" रूप था ? उसके बारे में जब लिखने लगे तो पुराने शास्त्रकारों ने क्या लिखा ? उन्होंने उसके क्या लक्षण बताये ? कैसे थे ये लक्षण ? वैसे ही जैसे राग के होते हैं। गान्धर्व का लक्षण करते हुए शास्त्रकार बताते हैं कि अमुक स्वर रहेंगे। अमुक प्रधान होगा, अमुक अल्प होगा, अमुक अधिक लगेंगे, ऐसे ही कुछ नियम बताये हैं। संगतियों की बात भी करते हैं। अमुक संगतियाँ ज्यादा होंगी अमुक तरह से अन्तरमार्ग चलेगा, जैसे आज भी हम रागों की बात करते हैं। इसको परिनिष्ठित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अगर मैं कह दूं कि अमुक संगति ज्यादा होगी, इसका क्या मतलब होता है ? बीस बार होगी ? रे म, रे म गिनकर बीस बार कहेंगे ? ज्यादा होने का ऐसा तो कुछ पक्का हिसाब नहीं होता। ज्यादा मतलब यही होता है कि एक प्राधान्य की प्रतीति हो। हमारी संवेदना पर किसी संगति की अन्य संगतियों से बढ़कर छाप पड़े। यह राग जैसा ही नियम है। यहाँ तक भी है कि कुछ जातियों में आया है कि नियमों को मानते हुए यथेष्ट जो मन में आये, करो। गान्धर्व के रूप इस तरह के रूप थे जिसमें आप अपनी इच्छा से कुछ कर सकते थे, कामचार जिसको कहा जाता है गान्धर्व में उसका सन्निवेश किया हुआ है। यानी गान्धर्व का रूप पूरी तरह से बँधा हुआ नहीं था। बँधा था केवल नियमों से जिनमें कामचार संभव होता है।

ऐसा संगीत में ही नहीं और चीजों में भी होता है। जैसे क्रिकेट में या शतरंज में। हम क्रिकेट का इतिहास लिखना चाहें, तो कैसा लिख सकते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं ? उसके नियम का इतिहास हम लिख सकते हैं। साक्षात् खेलों का नहीं क्योंकि सौ साल पहले के खेलों का साक्षात् ही संभव नहीं। अब आजकल वीडिओ हो गया है अब दूसरी बात है फिर भी ध्यान देने की बात यह है कि जो चीज़ एक विशेष नियम के आधार पर बनाई जाती है, जिसके स्वरूप के मूल में यह प्रवृत्ति होती है कि कुछ नियमों के आधार पर ही उसकी आकृति को आँका जा सकता है उसका शास्त्र उस चीज़ को कितना बाँध सकता है ? बल्कि उल्टा ही करता है। हमारे यहाँ जो संगीत का शास्त्र है और जो भी प्रयोग के शास्त्र हैं, वो बाँधते नहीं हैं, खोल देते हैं। रास्ते बना देते हैं कि कुछ नियमों को लेकर आप बढ़िये, कामचार कीजिये। अब ऐसी जो कला होती है उसका वॅस्ट' (पश्चिम) जैसा 'आर्ट' (कला) का इतिहास कभी हो पायेगा यह तो हमको भूल ही जाना चाहिये। पर मन में यह कुण्ठा या ग्लानि भी नहीं रखनी चाहिए कि वैसा प्रयास, हाय, हम नहीं कर सकते। क्योंकि हमारा प्रयोगशास्त्र ही और तरह का है। या फिर हमें ठान लेना चाहिये कि हम रागदारी करेंगे ही नहीं, बिल्कुल उस तरह से गाना गायेंगे जैसे फ़िल्मी गाने होते हैं या जैसे रवि ठाकुर ने किया था, गानों को बाँध दिया। जब कि हमारा शास्त्र क्या करता है ? उल्टे खोल देता है अगर किसी शास्त्रीय संगीत वाले को आप रवि ठाकुर का एक गाना दें तो वह क्या करेगा ? वह कहेगा कि हाँ, ठीक है, इसमें बनाने वाले ने कुछ बनाया है, मगर देखो ये यहाँ इस अंग को बढ़ाया जा सकता है, और भी रास्ते निकाले जा सकते हैं। यों वह उसको खोल देगा। और यही रागदारी की रीत है। और हमारा शास्त्र रागदारी का शास्त्र है। शास्त्र क्या बताता है कि देखो थाट बनाने के ये नियम होते हैं। फिर किसी स्वर को वादी बना लो, कुछ संगतियाँ ले लो, उनके आधार पर बढ़त करो। आलापचारी करो, एक-एक स्वर पर बढ़ो और संगतियों का ध्यान रखो। धीरे-धीरे राग को और खोलो। रागदारी का अर्थ है मार्ग में गाना। आम तौर पर हम लोग यह समझते हैं कि जब किसी चीज़ को मार्ग में गाया जाता है तो उसको बाँध दिया जाता है। पर प्रयोग में क्या होता है ? मान लीजिए हम किसी धुन को मार्ग में ले आते हैं तो क्या होता है ? धुन तो छोटी होती है, पर मार्ग में आकर वह बड़ी हो हो जाती है। और यही उनका "शास्त्रीय" होना है।

जहाँ प्रयोग का धर्म ही ऐसा है, वहाँ एक विशेष प्रकार का कला का इतिहास जैसा कि पश्चिम में है और हमारी कुछ कलाओं में भी सम्भव है, वह नहीं हो सकता। यह तो हम को पहले ही सोच लेना चाहिये कि हम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संगीत का वैसा इतिहास तो नहीं आँक सकते जिस तरह का इतिहास पश्चिम में आँका जा रहा है।

फिर हम क्या कर सकते हैं? संगीत की जो आनुषंगिक, अर्थात् साथ की चीज़े हैं उनका इतिहास हम कुछ-कुछ आँक सकते हैं। संगीत शास्त्र का इतिहास लिख सकते हैं। संगीत के चिन्तन का इतिहास लिख सकते हैं। वह हमको मिलता है। संगीत में जो रसचिन्तन है, आध्यात्मिक चिन्तन है, उसका इतिहास लिख सकते हैं। और भी बहुत सी बातों का इतिहास आँक सकते हैं। संगीतकार कैसे रहते थे? कैसे होते थे? उनके बारे में क्या-क्या जानकारी हमको मिलती है? उसका इतिहास लिख सकते हैं। संगीत की ग्राहकी का इतिहास भी लिख सकते हैं, जिसको 'पेट्रोनेज' कहते हैं। संगीत के कितने प्रकार थे? उनके कितनी तरह के ग्राहक थे? संगीतकार और ग्राहक का आपस में क्या सम्बन्ध था? समाज में संगीत का क्या स्थान था? इन बातों का हम इतिहास लिख सकते हैं। दूसरे, संगीत कब होता था, कितने अवसरों पर होता था इसका ब्यौरा दे सकते हैं। हम लोग आमतौर पर जब संगीत की चर्चा करते हैं, तो यह भूल जाते हैं कि 'संगीत' शब्द का वैसा ही व्यापक अर्थ है जैसा 'कविता' का। शादी ब्याह में सेहरा कहा जाता है। वह भी कविता है और कालिदास का मेघदूत भी कविता है। दोनों को कविता ही कहा जाता है और दोनों का अपना एक स्थान है। दोनों के अपने अवसर होते हैं। यही बात संगीत पर भी पूरी उतरती है।

संगीत के अवसरों का हम अगर इतिहास लिखना चाहें तो एक बहुत बड़ा माध्यम है हमारे पास, शिल्प। भारत में ये एक संयोग की बात है कि दूसरी सदी बी. सी. (ईसा पूर्व) से लेके, साँची से लेके, लगभग आज तक हमारे पास शिल्प का अनन्त भण्डार भरा पड़ा है और उसके आधार पर हम संगीत के इतिहास पर एक विशेष प्रकार की दृष्टि डाल सकते हैं। केवल उसके आधार पर तो किसी भी तरह का इतिहास नहीं हो सकता। उसको हमें शास्त्र से भी मिलाना होगा, साहित्य में भी संगीत के बारे में बहुत सी बातें आती हैं, उनसे भी मिलाना होगा—यों हमको संगीत के इतिहास में प्रवेश करने का एक द्वार मिल सकता है। संगीत के अवसर क्या होते थे? कौन-सा बाजा कहाँ किस मौके पर बजाया जाता था? इन प्रश्नों का हम कुछ उत्तर दे सकते हैं। आज भी अगर हमें कोई तस्वीर दिखाई जाये, जिसमें एक विशेष तरह के बाजे बजते दिखाये गये हों जैसे कि शादी में बैण्ड बाजे बजते हैं, उसकी तस्वीर अगर हमारे सामने हो, तो कोई नहीं कहेगा कि ये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महफ़िल जमी है। देखते ही कोई भी समझ जायेगा कि यह एक विशेष अवसर का संगीत है। विशेष तरह से बजाया जाता है, विशेष लोग बजाते हैं इसके अपने विशेष रूप हैं। इस तरह की तस्वीरें हमें प्राचीन शिल्प में और चित्रकला में भी मिलती हैं। बहुत तरह के 'सीन्स' (दृश्य) उसमें आते हैं और 'सीन्स' एक तरह के नहीं है, समझना होगा कि एक तरह के संगीत के भी नहीं हैं। 'जगलरी' (बाजीगरी) के भी 'सीन्स' आते हैं कि जहाँ पर कोई नट बाजीगरी दिखा रहा है। उसके साथ भी संगीत बजता था। हम लोग कहते भी हैं कि हमारे जीवन का कोई ऐसा अंग नहीं है, जिसके साथ संगीत नहीं चलता। पुराने जो उल्लेख आते हैं संगीत के, जैसे गुत्तिलजातक में, सुना होगा आप लोगों ने, उसमें संगीत के एक अवसर का वर्णन है। कुछ व्यापारी थे। उन्होंने पैसा कमाया तो कहा कि भाई एक शाम गोठ में बितानी चाहिये। हम राजस्थान में गोठ कहते हैं 'पिकनिक' को, उसमें एक शाम बितानी चाहिये। उन व्यापारियों ने एक संगीतकार को पकड़ा उसको साथ ले गये। वो खा रहे थे, पी रहे थे, और साथ संगीत बज रहा था। यानी संगीत के अवसर बहुत तरह के हो सकते हैं। एक अवसर कुतप का भी होता है, नाच के साथ बजने वाले वाद्यों का। जब नाच होता है तो उसमें एक विशेष तरह का कुतपविन्यास होता है, एक विशेष तरह का संगीत गाया बजाया जाता है, विशेष प्रकार के वाद्यों का प्रयोग होता है। जब हम 'फ़ॉर्मल' संगीत या 'कन्सर्ट' करते हैं, तो उसमें और तरह का संगीत होता है, यानी संगीत के विभिन्न प्रकार हैं, इनमें हमको भेद करना होगा।

इसके सिवा कालगत भेद करना होगा। हम अगर इतिहास लिखना चाहें, तो जो सामग्री मिलती है, उसको विभिन्न समयों में बाँटना होगा। हमारे लिये ये सौभाग्य की बात है, कि जो शिल्प हमें मिलता है, उसका समय विभाजन काफ़ी अच्छी तरह से हो चुका है। उसको हमें ध्यान में रखना पड़ेगा।

एक और बात हमें ध्यान में रखनी पड़ेगी। वो ये कि जब हम भारत की बात करते हैं तो दो तरह से करते हैं। जब आपस में लड़ने पर आते हैं, तब तो यही हठ रहता है कि हम राजस्थान के हैं, हम मध्यप्रदेश के हैं। पर जब शास्त्र चर्चा की बात करते हैं तब बोध रहता है कि सब भारत एक है। पर ऐसा है नहीं। अलग-अलग इलाकों में अलग-अलग प्रयोग की पद्धतियाँ रही हैं और रहनी भी चाहियें। उनमें एकसूत्रता है, यह बात दूसरी है। पर यह तो हमें ध्यान में रखना होगा कि कौन सा शिल्प कौन सी प्रतिमा कहाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से आयी है, क्योंकि अगर गांधार का शिल्प होगा तो उसमें कुछ बातें मिलेंगी, जो कि दूसरे 'स्कल्प्चर' (शिल्प) में हो सकता है कि न मिलें।

मैंने थोड़ा-बहुत एक विशेष समस्या को लेकर काम किया है, उसके बारे में बताऊँगा। एक बात है। हमारे यहाँ इतनी बड़ी सामग्री है पर संगीत की दृष्टि से उसका कोई भी वर्गीकरण हो, ऐसा हुआ नहीं है। इसलिये कोई भी शोधार्थी कुछ करना चाहे, तो सबसे पहले एक बड़े से जंगल में उसको यह ढूँढना होगा कि कौन सा पेड़ काहे का है, यानी कोई तो वर्गीकरण करना पड़ेगा चाहे कितना ही कामचलाऊ क्यों न हो। बहुत सामग्री है, पर उसको संगीत की दृष्टि से एक जगह किसी ने एकत्र किया हो, यह न तो हुआ है और मेरे ख्याल में कोई ऐसा करने का 'प्रोजेक्ट' (परियोजना) भी नहीं है। आप किसी भी प्रान्त में चले जाइये, आपका मध्य प्रदेश तो भरा पड़ा है, किसी भी पुराने मंदिर में पहुँचिये, आपको संगीत के दृश्य मिलेंगे। कौन से दृश्य कहाँ हैं, किस समय के हैं, जब तक इसका एक पूरा पसारा न हो, और आप इसको अलग-अलग पेटे में न डाल सकें कि ये फ़लाने पेटे का है तो बात आगे नहीं बढ़ेगी। इस तरह का विभाजन ज़रूरी है, पर नहीं हुआ है।

पर विभाजन करने के बाद भी हम चट से बताने लग जायें कि फ़लाने समय ऐसा होता था तो उसमें भी एक समस्या आती है। वो समस्या क्या है? उसको मैं शिल्पधर्म की समस्या कह सकता हूँ। कई ऐसे शिल्प होते हैं, जिनको अनुकरणप्रधान कहा जा सकता है, जैसे नाटक। भरत ने कहा है, नाटक लोक की अनुकृति है। पर अनुकृति कई तरह की होती है। आजकल जब हम नाटक या कहानी और उपन्यास की चर्चा करते हैं, तो यथार्थवादी अनुकरण का चित्र हमारे सामने होता है पर भरत के सामने ऐसा आदर्श नहीं था। वो कहते थे कि नाटक अनुकृति तो है पर वो नाट्यधर्मी अनुकृति है। जिसका अनुकरण करती है उसका रूपान्तरण भी करती है। सच तो यह है कि कला मात्र रूपान्तरण करती ही है, पर हर कला एक विशेष प्रकार से रूपान्तरण करती है। हमारे यहाँ का शिल्प भी अनुकृति है और शिल्प भी रूपान्तरण करता है। उसमें नाट्यधर्म होता है एक तरह का, जिसको हम शिल्पधर्म कह सकते हैं। आप शिल्प में पाएँगे कि अक्सर पुरुष, स्त्री कोई कपड़ा पहने हुये नहीं होता है। इसके आधार पर यह कहना या समझ लेना कि जब का शिल्प है लोग कपड़ा नहीं पहनते थे, ये ग़लत होगा। शिल्प में इस तरह दिखाना शिल्पधर्म है। शिल्प में स्त्री पुरुष को यों दिखाने की प्रथा है। एक बात और। आप देखेंगे कि चेहरे सबके एक से होते हैं। ख़ासकर 'मिनिएचर' (लघु चित्र) में यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बात और भी साफ़ हो जाती है। वैसे ही शिल्प में भी एक विशेष स्कूल का एक विशेष 'स्टाइल' या रीति होती है, वो रीति हर मूर्ति में, हर चेहरे में झलकती है। उसका वास्तव से सम्बन्ध नहीं। अगर नाच दिखाएँगे तो कभी-कभी इस तरह से शरीर और मुँह मोड़ा हुआ होता है कि वास्तव में कभी संभव ही नहीं है। यह भाव व्यंजना के लिये किया जाता है। विशेष भाव की व्यंजना के लिये बहुत सी ऐसी बातें की जाती हैं जो कि वास्तव में सम्भव नहीं हैं। ये शिल्प की अपनी बातें है।

बाद की शिल्प कला में ऐसा हो गया कि जो फलक बनाते थे, उसमें गहराई का भाव नहीं होता था। इस समस्या में जाऊँ, उससे पहले एक अच्छी पुस्तक आयी है, उसका उल्लेख करता हूँ। पुस्तक में आठवीं सदी तक के शिल्प के आधार पर संगीत का अच्छा वर्णन हुआ है।* आठवीं सदी तक के शिल्प से जो कुछ हम जान सकते हैं उसका लेखक ने पुस्तक में एक रूप बनाया है। मगर हमारी समस्या दूसरी है जिस तरह का हमारा संगीत का इतिहास है, उसको हम समझने की चेष्टा करें तो मैं यह समझता हूँ कि हमको उल्टी गंगा बहानी चाहिये। हमको उधर से शुरू नहीं करके यानी इतिहास को आरम्भ से शुरू नहीं करके हमारी जड़ें जहाँ हैं, यानी जो हम आज गाते-बजाते है, वहाँ से शुरू करना चाहिये। उसको तो हम जानते हैं, पुराने को हम जानते नहीं। दत्तिल के समय क्या गाना-बजाना होता था, यह हम नहीं जानते। पर आज की अपनी ही जड़ों के सहारे अगर हम खोजते चले जायें, तो इतिहास की गहराई में उतरने का एक सुलभ तरीका हो सकता है। हो सकता है कि कुछ बातों पर प्रकाश पड़े, क्योंकि यह हमारे ज्यादा नज़दीक की बात होंगी। नज़दीक की चीज़ को हम समझते हैं पर ज़्यादा पुराना जो हो जाता है तो वह अधिक ओझल हो जाता है, उसको समझने में कठिनाई होती है। खासकर संगीत में जहाँ आज से मिलाकर ही हम पुराने को समझ सकते हैं—क्योंकि संगीत तो बचा ही नहीं है।

तो मैं यह कह रहा था कि दसवीं-बारहवीं सदी के समय के जो मन्दिरों के फलक मिलते हैं उनमें एक ऐसी प्रथा है कि सारे दृश्य को बिल्कुल सीधा सपाट बना लेते हैं। दृश्य को वास्तव जैसी गहराई देने की कोई चेष्टा नहीं

---

* पुस्तक का नाम है : MUSIKGESICHTE IN BILDERN ALTINDIEN
लेखक : WALTER KAUFMANN, LEIPZIG, 1981

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। आप पुराने अमरावती या साँची के फलक देखें, तो उसमें एक 'डेप्थ' (गहराई) की भावना होती है। उसमें अगर नाच हो रहा हो या कोई जुलूस जा रहा हो या मन्दिर में पूजा हो रही हो तो पूरा दृश्य कुछ-कुछ 'पर्स्पेक्टिव' में दिखाया जाता है। पर वाद के जो फलक हैं, वो इतने 'फ़्लैट' हैं कि उनमें दृश्य विल्कुल एक सतह पर उकेरे डिज़ाइन की तरह बन पड़ते हैं। वास्तव से दूर हट जाते हैं। साथ ही यह भी पता लगाना मुश्किल हो जाता है कि ये दृश्य सड़क का है या 'कॉन्सर्ट' (महफ़िल) का है, क्या है। इसके लिए हमको सचेत रहना पड़ेगा। विवेक तभी संभव है कि हम वहुत से दृश्य इकट्ठा करें। अवधान से देखें।

मैंने इस दिशा में थोड़ा सा काम किया है उसकी चर्चा करता हूँ। मेरे मन में एक प्रश्न यह रहा है कि तानपूरे का इतिहास क्या है? तानपूरा हमारे लिये ऐसा साज़ हो गया है कि उसके बिना हम गाना-बजाना सोच ही नहीं सकते। पर इसका इतिहास अंधेरे में है। संगीतकारों से पूछिये तो वह तानपूरे को नारद के समय से चला आता बता देते हैं। पर संगीत के विद्यार्थियों को और जो शास्त्र के विद्यार्थी हैं, उनको यह बात मालूम है कि यह वहुत पुरानी चीज़ नहीं है। यह बात और है कि आज यह हमारे लिये ऐसी बड़ी चीज़ बन गई है कि इसके बिना संगीत सूना है जैसे चित्र में पट होता है, जिस पर चित्र बनाया जाता है आज तानपूरे का यही स्थान है। हमारे संगीत में तानपूरा भित्ति के रूप में काम कर रहा है। इसके इतिहास के वारे में जिज्ञासा स्वाभाविक है। मैंने जानने की थोड़ी-वहुत कोशिश की है।

पहले यह सवाल उठायें कि वह कौनसा साज़ था, जो तानपूरे से पहले सुर देने का काम करता था? क्या ऐसा कोई साज़ था? ऐसे दृश्य बहुत मिल जाते हैं, जिसमें कुछ लोग वाद्य के साथ हैं, नाच हो रहा है, शायद गाना भी हो रहा है। पर अकसर पहली समस्या यही आती है कि अगर पाँच लोग बैठे गा बजा रहे हों, तो उनमें गा कौन रहा है? सवाल उठाया नहीं गया है इसलिए ऐसे इंगित ढूंढे नहीं गये है कि हम बता सकें कि अमुक गा रहा है। धीरे-धीरे जब कुछ मात्रा में चित्र देखे, तो कुछ स्थानों पर गाने वाला अपनी मुद्रा के कारण पहचान में आ गया। अक्सर उसके कान पे हाथ होता था। अब भी यह मुद्रा चलती है।

और अगर दो-तीन गाने बजाने वाले दिखाये जाते हैं तो एक बाँसुरी वाला होता है। गाने के साथ बाँसुरी बहुत चलती थी। लगता है स्थानक देने के लिये। आज जो काम तानपूरा करता है (देखें चित्र-१)। शास्त्रों में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी इसके निर्देश मिल जाते हैं। बाँसुरी के तानप्रदायित्व की चर्चा आई है। और भी पुराना शिल्प देखें तो गाने के साथ जिसे सप्ततन्त्री वीणा शास्त्र में कहा जाता है लगता है कि उसी से सुर देने का काम ज्यादा लेते थे। सप्ततन्त्री सुर कैसे देती थी? उसमें एक स्वरों का गुच्छा होता है। आधारश्रुति को कैसे कायम किया जाता था, इस समस्या में हम नहीं जायेंगे। बाद के शिल्प में गानेवाले के साथ बाँसुरी मिलती है। केवल गाने के साथ ही नहीं जहाँ कोई एकक बाजा बजता है उसके साथ भी हमको बाँसुरी मिलती है। इसके बहुत नमूने मिलते हैं।

यहाँ शिल्पधर्म एक समस्या खड़ी करता है। ख़ासकर इतिहास के लिये। शिल्पधर्म का एक गुण यह भी होता है कि कुछ चीज़ें वास्तविक उपयोग से हट जाती हैं, तो भी शिल्प में चलती रहती हैं, जैसे अब भी जब कोई चित्र बनाते हैं, सुन्दर स्त्री का, तो राजस्थानी अंग से बना देते हैं। नागरीदास की बनीठनी जैसी: ओढ़नी पहने हुये है, घाघरा पहने हुये है, जबकि गाँव के बाहर कोई पहचानता नहीं है आजकल। यों शिल्प की अपनी एक परम्परा होती है, जो कि वास्तव से थोड़ी हटकर चलती है। ये भी शिल्पधर्मी का एक गुण है। ये केवल अपने यहाँ ही नहीं है विलायत में भी है। वहाँ एक प्रथा है न्यूड—निर्वस्त्रा-स्त्री बनाने की। वास्तव में न्यूड नहीं नज़र आते हैं, मगर शिल्प में होते हैं। कोई साज़ प्रयोग से भी उठ जाता है, वास्तव में नहीं होता है, तो भी शिल्प में वो दीखता चला जा सकता है। इतिहासकार के लिये समस्या होती है कि क्या ये शिल्पधर्मी के तौर पे आया है या सचमुच ही किसी वास्तविक परिस्थिति का प्रतिफलन है। इसका उत्तर देना आसान नहीं है। मैं यह सोचता हूँ कि हम ज्यादा सामग्री इकट्ठा करें और इन बातों को ध्यान में रखें तो हो सकता है कि कुछ उत्तर मिलने लगें फिर भी एक बात कहूँगा। जो बाजा प्रयोग से उठ जाता है वो सौ दो सौ साल तो शिल्प में चलता है इसके बाद वहाँ से भी उठ सा जाता है। नजर नहीं आता। एक उदाहरण लीजिये पहले सप्ततन्त्री वीणा प्रधान साज़ थी। सरस्वती को प्राचीन समय में अगर साज़ दिया जाता वही सप्ततन्त्री दी जाती। बाद में हम देखते हैं कि सरस्वती के हाथ में दूसरे तरह की वीणाएँ आने लग जाती हैं। आजकल बंगाल में जब सरस्वती बनती है, तो सितार हाथ में आ जाता है और सितार अगर फैशन में नहीं रहेगा, तो दूसरा साज़ आ जायेगा। ये चीज़ें हैं जिनको बदलने में थोड़ा टाइम लगता है। पर बदलती ज़रूर हैं। हाँ ऐसा कोई नियम नहीं कि प्रयोग में आने के बाद इतने समय में शिल्प में भी आ जायेगा। फिर भी इतना तो कह सकते हैं कि देवता के हाथ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्र—१

नीलकण्ठ (राजस्थान)—१०वीं-११वीं सदी

दो किन्नर दिखाये गये हैं। एक बाँसुरी बजा रहा है दूसरे की मुद्रा से स्पष्ट है कि गा रहा है। बहुत संभव है बाँसुरी वाला 'स्थानक' दे रहा हो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्र—२

मालवा : मालकौंस राग—१६५० ई०

सत्रहवीं सदी में तानपूरा दिखने लग जाता है। आज के तानपूरे से आकृति छोटी है, पर है पूरा तानपूरा। चित्र में तार दो ही दिख रहे हैं, पर हैं चार, जैसा कि अगले चित्र से स्पष्ट है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

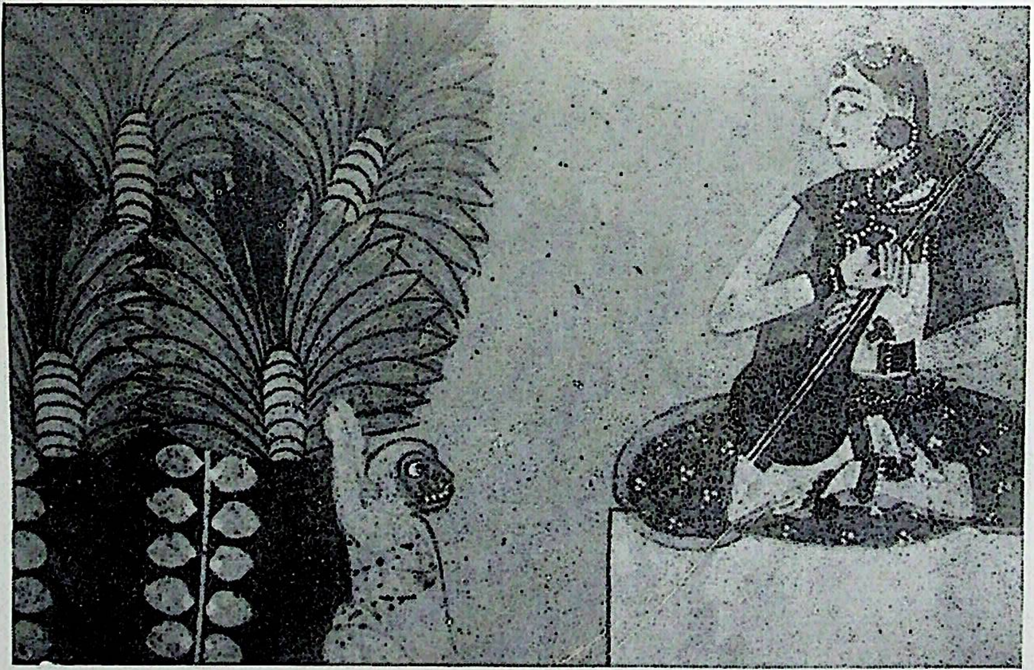

चित्र—३ मालवा : बंगाल रागिणी—१६५० ई०

ऊपर की चित्रमाला का ही एक और चित्र। यहाँ तानपूरा और भी स्पष्ट है। यह भी स्पष्ट है कि हालाँकि दो ही तार दिखाये गये हैं, हैं चार। एक ओर ही जब दो खूँटियाँ हैं तो सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि दूसरी ओर भी दो और होंगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

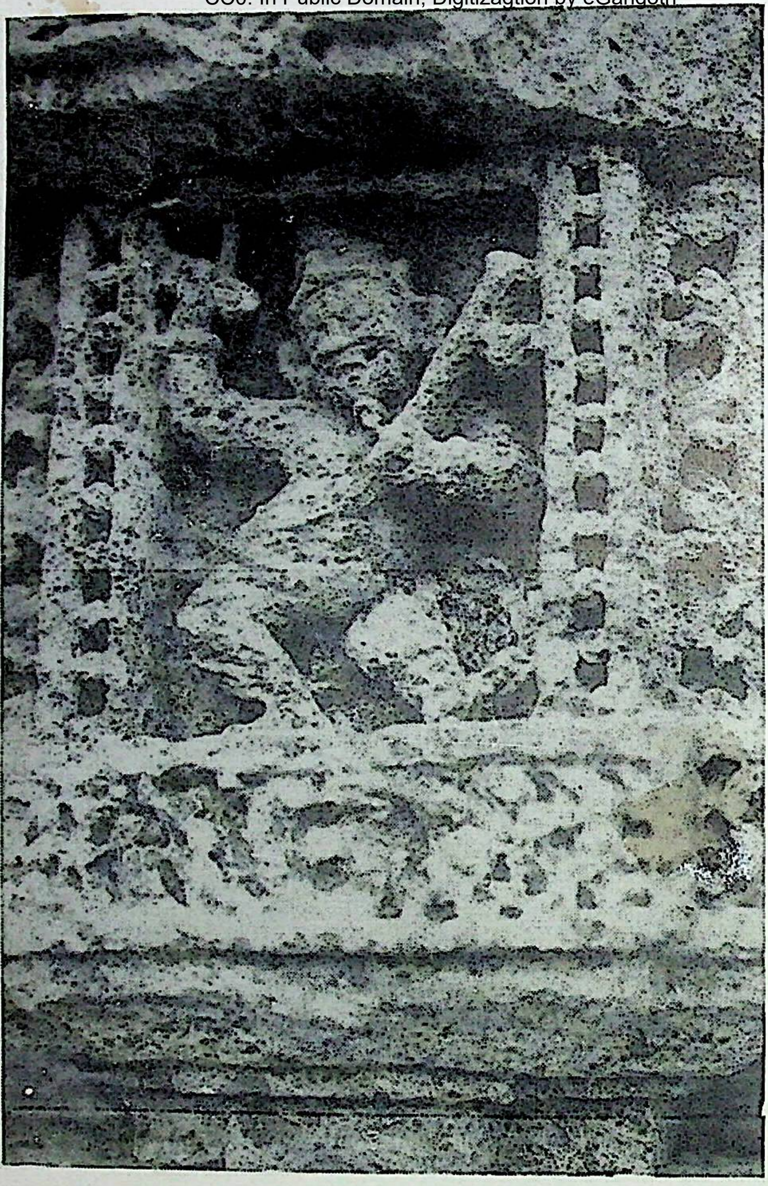

चित्र—४ कोणार्क । नाट मंदिर—१३वीं सदी

नाट मंदिर में ऐसी प्रतिमाएँ एक नहीं अनेक हैं। इसमें एक उन्मत्त या विभोर भाव से गाते हुए किसी दाढ़ीवाले, विकट मुखाकृति पुरुष को दिखाया गया है। मुख पर एक अट्टहास का सा भाव है, हो सकता है मुखौटा हो। एक हाथ में एकतारा (या दोतारा) है, जिसका उपयोग गाने की संगत के लिये किया जा रहा है। दूसरे हाथ में खंजड़ी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में जो बाजा हो उसके बारे में हम मान सकते हैं कि अब ये स्वीकृत हो गया है; नहीं तो देवता के हाथ में नहीं पकड़ाया जाता। जो बहुत ही माना हुआ बाजा होगा, जिस बाजे के बारे में हमारे मन में ये होगा कि हाँ, ये बाजों में बाजा है, उसी को हम देवता के हाथों में पकड़ाएँगे।

अब तानपूरे के इतिहास पर आता हूँ। तानपूरा हमको सत्रहवीं सदी के 'मिनिएचर्स' में मिलना शुरू हो जाता है (देखें चित्र-२,३) और अठाहरवीं सदी के तो सचमुच के तानपूरे भी मिल जाते हैं। आप लोगों ने अगर पुरानी तस्वीरों में कभी देखा हो, दो तरह के तानपूरे मिलते हैं। एक तो है छोटी सी तानपूरी। सूरदासजी की जो तस्वीर बहुत चलती हुई है, उसमें बहुत छोटी सी एक तानपूरी वो गोद में लिये हुए बैठे हैं। वही छोटी तानपूरी है। और एक बड़ा तानपूरा है। अठारहवीं सदी में तानपूरों की बड़ी-बड़ी जोड़ी भी मिलने लगती है। और जोड़ियों के नाम भी होते थे। जयपुर के एक राजा सवाई प्रतापसिंह थे, उनकी जोड़ी मिल जाती है। पर उसके पहले मुझे ये लगता है कि छोटी तानपूरी का ही चलन था। हमें तस्वीरों में वही मिलती है। तानपूरी तो छोटी है पर उसमें चार तार आ गये हैं। पूरी तरह से तानपूरा है। मेरे ख्याल से दक्षिण में भी तानपूरे का इतिहास इससे भिन्न नहीं है।

प्रश्न है, ये आया कहाँ से तानपूरा? क्योंकि हमारे यहाँ अगर पहले बाँसुरी से सुर देते थे, तो अचानक ये तानपूरा कहाँ से आ गया? क्या लोक से आया है? लोक संगीत में आज भी एकतन्त्री और दोतन्त्री वीणाओं का प्रयोग होता है। उसको सुर देने के भी काम में ले लेते हैं और लय देने के भी काम में ले लेते हैं। यह चलन गुजरात से लेके सारे उत्तर में है। दक्षिण में है या नहीं, मैं नहीं जानता। इस तरह की परम्परा कितनी पुरानी है? एक तरह की द्वितन्त्री वीणा का प्रयोग बहुत पुराना हमको मिल जाता है। आठवीं-नौवीं सदी के बाद की एक तरह की द्वितन्त्री है, जिसका तूम्बा कंधे के ऊपर रख लेते थे। दाँड धड़ के उपर से तिरछा आता है, निचला हिस्सा कमर या जाँघ तक पहुँचता है। तूँबा बायें कंधे पर होता और निचला हिस्सा दाहिनी ओर। यह द्वितन्त्री शिल्प में बहुत मिल जाती है। (देखें चित्र-४) इसको वीणा की तरह बजाया जाता था, दोनों हाथों से। एक हाथ स्वर निकालता था, एक झंकार देता था। पर कई जगह हम देखते हैं कि वो वीणा सिर्फ एक हाथ में पकड़ा दी गई है। दूसरा हाथ दूर है। अगर किसी भी वीणा को आप एक ही हाथ में पकड़ें तो बजा नहीं सकते, सिर्फ़

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

छेड़ सकते हैं, तानपूरे की तरह सुर देने के लिए। उदयपुर के पास एक गाँव है जगत, जहाँ एक आठवीं नवीं सदी का मन्दिर है। वहाँ सरस्वती की प्रतिमा है जो एकतन्त्री या द्वितन्त्री वीणा को केवल एक हाथ से थामे हुये तार छेड़ रही है। दूसरा हाथ किस मुद्रा में है यह अब मुझे याद नहीं, पर वह वीणा से दूर है। यह वीणा कंधे से तिरछी नहीं सीधी लटकती थी। बायें कंधे से बायीं जाँघ तक। अगर संगीत में उसका प्रयोग था तो केवल ड्रोन के लिए ही हो सकता था, सुर देने के लिए। यह वीणा तानपूरे का पूर्वज हो सकती है।

पर शिल्प के ऐसे साक्ष्यों को हमें साहित्य के परिप्रेक्ष्य में भी देखना होगा। कई वर्णन आते हैं। एक कहानी है जो पाँचवीं-छठी सदी से निरन्तर चली जाती है, वीणादत्ता के स्वयंवर की। जिसमें महफ़िल का वर्णन है। किस तरह से 'कॉन्सर्ट-हॉल' बनाया गया। हर एक प्रार्थी को एक के बाद एक बजाने का मौका दिया गया। शर्त थी, जो वीणादत्ता से अच्छा बजा लेगा, उसका हाथ जीत लेगा। इस एक ही कहानी को विभिन्न कालों में देखें तो हो सकता है वीणा का भी बदलता हुआ रूप सामने आये। बहुत से प्रसंग हमको मिलते हैं। उनको ध्यान में रखना होगा, एक दूसरे से मिलाना होगा। इसमें भी समस्याएँ होंगी। कई वैसी ही जैसी शिल्प में होती है, क्योंकि शिल्प धर्म की तरह साहित्यधर्म भी होता है। पर हम अगर कुछ पता लगाना चाहते हैं तब समस्याओं का सामना करना ही होगा। उनके बिना शोध ही कैसा ?

दूसरी समस्या है शास्त्र की। संगीत के बारे में हम जो जानते हैं, शास्त्र से ही जानते हैं। उसके क्या रूप होते थे, कैसे गाये-बजाये जाते थे, बाजे क्या थे, कैसे बनते थे, कैसे बजते थे, इसकी जानकारी संगीतशास्त्र से लग सकती है। और यहीं समस्या आती है जैसा मैंने आपको पहले ही कहा। हमारा संगीतशास्त्र नियम बताता है। कुछ वर्णन करता है तो यह मान कर कि पाठक प्रयोग से परिचित है उसके लिये इंगित बहुत है, वर्णन की बारीकियों में नहीं जाता। किसी भी शास्त्र में आपको यह नहीं मिलता कि क्या गाते बजाते थे। बल्कि गाने भी नहीं मिलते। कभी एकाध इधर-उधर किसी ने गाना दे दिया तो दे दिया, वरना शास्त्रकार गाने नहीं देते हैं। वो ये बताएँगे कि अमुक तरह का प्रबन्ध बनाना हो, तो उसके क्या नियम हैं। पर प्रबन्ध का प्रयोग में आने वाला नमूना कोई नहीं बताता। उसके लिये हमको शास्त्र से इतर ग्रन्थ देखने होंगे। मिल जाती हैं चीज़ें। जैसे एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुवलयमाला ग्रन्थ है* जिसमें चर्चरी गीत दिये हुए हैं।

शिल्प और साहित्य दोनों को साथ लेकर ही हम शायद आँक सकेंगे कि अमुक वीणा जो शिल्प में है उसका क्या उपयोग था; अमुक प्रसंग जो फलक पर है क्या हो सकता है? क्या यह 'कन्सर्ट' का दृश्य है या सड़क पर गाने-बजाने का है या शादी का जुलूस है या महाराजा का मंगल-अभिषेक हो रहा है? कभी कभी बात शास्त्र से साफ़ होगी। पर कहीं-कहीं ऐसा भी हो सकता है कि शिल्प के आधार पर हम शास्त्र को समझें। या साहित्य को समझें। क्योंकि शास्त्र और साहित्य दोनों ही अपने आप में इतने स्पष्ट नहीं है जितना कि हम चाहते हैं। मैंने अभी कहा कि बाँसुरी के लिये आया है कि वह स्थानक देती थी या तान देती थी। यानी सुर देती थी। आजकल भी बाँसुरी का तो नहीं, शहनाई का ऐसा प्रयोग मिल जाता है जब शहनाई बजती है तो दूसरा शहनाई वाला सुर देता है। पर ये स्थान देना या तान देना यह अपने आप में बात स्पष्ट नहीं है। अगर हमको शिल्प में नमूने मिल जायें, साथ ही साहित्य में भी 'डिटेल' (ब्योरा) मिल जाये जहाँ तस्वीर थोड़ी और साफ़ झलकती हो, तो हम और भरोसे के साथ कह सकते हैं कि बाँसुरी सचमुच सुर देती थी। ये एक दूसरे के पूरक हैं।

अक्सर होता यह है कि जो शिल्प के जानने वाले होते हैं उनका साहित्य और शास्त्र में प्रवेश नहीं होता। उसके बिना बात नहीं बनती। शिल्प में बने किसी बाजे के लिए हम जानना चाहें कि कौन सा बाजा है? इसका क्या नाम है? क्या बजा रहा होगा तो उत्तर के लिए शास्त्र और साहित्य का द्वार खटखटाना ज़रूरी होगा, पर हमारे यहाँ आमतौर पर जो शिल्प पर काम करते हैं, उनका संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश साहित्य से परिचय नहीं होता। जिनका परिचय होता है, उनका शिल्प से परिचय नहीं होता। जिनका दोनों से हो उनका संगीतशास्त्र से परिचय नहीं होता। जब तीनों को मिला कर देखने की परम्परा बन जायेगी जैसी कि पश्चिम में है तभी बात आगे बढ़ेगी। पश्चिम में आज यह संभव है कि किसी प्राचीन 'इन्स्ट्रुमेण्ट' की तस्वीर को लें और उसको बिल्कुल 'रीकन्स्ट्रक्ट' करने की धृष्टता कर सकें। हमारे यहाँ अभी मुश्किल होगी, क्योंकि जब तक साहित्य, संगीत शिल्प इन

* देखिये उद्योतन सूरि विरचित कुवलयमाला, सिंघी जैन ग्रन्थमाला (पुष्प—४५), १९५९, पृ. ४-५, १४५। देखिये विशेष: On some specimens of carcari, H. C. Bhayani, Paper contributed to seminar in Prakrit studies, Univ. of Bombay 1971.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तीन धाराओं का सम्मिलन नहीं होगा, एक शोध की परम्परा नहीं बन जायेगी, तब तक तो तीर या तुक्का ही चलेगा। हमें चाहिए कि इन तीनों का सम्मिलन करें, चाहे ग़लतियाँ ही क्यों न करें। बात यों ही आगे बढ़ सकती है।

चर्चा

डॉ. नेमा—शायद आपने चर्चा की होगी, परन्तु मैं देर से यहाँ उपस्थित हो सका, अतः मुझे यह पूछना है कि शिल्प में जिस समय-विशेष के वाद्यों का प्रचलन है, वे उस समय प्रचलित थे अथवा नहीं ?

उत्तर—इसके बारे में मैंने चर्चा की थी। मैंने कहा था कि शिल्प में जो मिल रहा है, वह शिल्पधर्मी होता है। कभी-कभी जब लोक से चीज़ चली भी जाती है तो भी शिल्प में बची रहती है क्योंकि शिल्प की एक अपनी परिपाटी होती है। नया शिल्प अक्सर पुराने शिल्प की नकल करता है, पुराने शिल्प के आधार पर बनता है, पुराने शिल्प में कोई वाद्य होता है तो नया बनाने वाला उसी को बनाता है।

डॉ. रामनाथन्—वैसे तो शास्त्रग्रन्थों में भी जिस गीत की चर्चा मिलती है, उसके विषय में यह नहीं जा सकता कि उस समय उसका प्रसार था ही, जैसे सत्रहवीं शताब्दी में जाति-गीत।

उत्तर—हाँ, शास्त्र में भी यह है कि परिपाटी को घसीटते चलते हैं। हमारे यहाँ यह भी एक परम्परा है, बल्कि बाद के संगीतशास्त्र ग्रन्थों में ये हो जाता है कि ग्रन्थ का अपना कहना कितना है और रत्नाकर का कितना है, इसमें विवेक करना कठिन काम हो जाता है।

प्रश्न—श्री गंगाजलीवाले के प्रश्न का आशय यह था कि शिल्प में शिल्पी निरूपण करते समय अपनी ओर से भी कुछ जोड़ देता होगा ?

उत्तर—उसको बनाने में, 'स्टाइलाइज्ड' करने में यह ज़रूर होता है। कितना होता है, यह तो कहना बड़ा कठिन है, क्योंकि पुराने वाद्य तो हमारे सामने नहीं है।

मूल भाषण पर डॉ. चौबे की टिप्पणी—आपने अभी यह कहा कि शायद तम्बूरे के प्रचलन के पूर्व बाँसुरी से आधार स्वर का काम लिया जाता होगा। मुझे लगता है कि बाँसुरी यद्यपि फूंक के द्वारा आधारस्वर प्रदान कर सकती है, लेकिन निरन्तर काफ़ी देर तक किसी को केवल आधारस्वर प्रदान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करना ये बाँसुरी का काम नहीं रहा होगा। ऐसा कहा जाता है कि वीणा और बाँसुरी ये वाद्य भी ऐसे थे जो संगति प्रदान करते थे गायक को। मैंने ऐसा भी सुना है कि अभी एक सौ वर्ष के भीतर ही कुछ पुराने गायक जब कहीं यहाँ-वहाँ जलसों में जाते थे तो अपने दो-चार शिष्य ले जाते थे और वो शिष्य केवल षड्ज स्वर उनको प्रदान करते थे, आधारस्वर प्रदान करते थे और उसके आधार पर गवैये गाया करते थे। तो एक तो ये बात है कि बाँसुरी का केवल इतना ही उपयोग नहीं था कि वो आधारस्वर प्रदान करती हो। यदि बाँसुरी का प्रयोग था तो क्या वो निरी संगति प्रदान करती होगी ? अगर वीणा का प्रयोग हो, तो पूरी संगति प्रदान करना होगा न कि आधारस्वर देना।

दूसरी बात ये भी जाँच करने की है कि तानसेनजी के समय में तम्बूरे का व्यवहार वास्तव में प्रचलित था या नहीं था, चूँकि अभी जो उनके चित्र दिखाये गये हैं, तानसेनजी के, तो कुछ लोग बड़े 'कॉन्फ़िडेन्स'(आत्मविश्वास) से कहते हैं कि ये तानसेनजी का प्रामाणिक चित्र है और उसमें उनको तानपूरा हाथ में लिये हुए गाते हुए दिखाया गया है। और एकाएक तो तानपूरा व्यवहार में नहीं आ गया होगा। धीरे-धीरे उसका क्रमिक विकास हुआ होगा। बाँसुरी के साथ हो सकता है वह (तानपूरा) पहले एकतन्त्री वीणा के रूप में आया हो। फिर बाद में उसमें चार तारों का व्यवहार होने लगा हो। इस तरह से एकतन्त्री वीणा से चार तार का व्यवहार प्रचलित हुआ हो। इसकी ज्यादा सम्भावना मुझे लगती है, बजाय इसके कि केवल बाँसुरी मात्र से पहले के लोग अपना आधारस्वर का काम चलाते होंगे और वो बड़ा कठिन भी है।

वक्ता द्वारा स्पष्टीकरण—आपने जो कहा है, ठीक है, कि केवल बाँसुरी से फूंक में रुकावट आती है पर हो सकता है दो रखते हों, जैसा आपने कहा कि एक से ज्यादा शिष्य सुर देते थे। देखिए इसमें समस्या ये है कि हमको अंधेरे में ही चलना है। हमको जो साक्ष्य मिलता है, उसके आधार पर हम जितना पकड़ सकते हैं, उतना ही हम कह सकते हैं। बाँसुरी का स्थानक देना, तानप्रदायित्व ये शास्त्र में है और हमको इस तरह के 'स्कल्प्चर' में प्रसंग दिख जाते हैं जिसमें कि एक प्रधान वादक है या एक प्रधान गायक है उसके साथ बाँसुरी वाला है। इससे हम अनुमान ही लगा सकते हैं और अर्थापत्ति ही कर सकते हैं कि वो आधार स्वर दे रहा होगा। हो सकता है थोड़े बहुत और भी सुर छेड़ रहा हो। कुछ साज ऐसे हैं, जिनके साथ तानपूरा न भी हो तो भी काम चल जायेगा, जैसे सितार है। उसमें कुछ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तार ऐसे होते हैं जो आधार श्रुति देते रहते हैं। पर गाने के साथ यह मुश्किल है। क्या-क्या होता होगा यह सम्भावना मात्र है। हम लोग केवल कल्पना कर सकते हैं। वैसे फूंक देने के भी तरीके होते हैं। राजस्थान में इस तरह के फूंक देने वाले होते हैं जिनकी फूंक नहीं रुकती। जैसे शहनाई में होता है।

श्री गंगाजलीवाले—महाराष्ट्र में सुन्दरी में भी होता है।

अपना स्पष्टीकरण जारी रखते हुए वक्ता पुनः—अगर मान लीजिये स्थानक के लिए उसका प्रयोग होगा तो इस तरह की फूंक की कोई शिक्षा होती होगी। ये समस्या मन में आयी है। तो इसके बाद अगला कदम हमारा ये होना चाहिये कि हम ढूंढें कि इस बारे में कुछ मिलता है या नहीं मिलता। केवल अनुमान या जिसको हम उत्प्रेक्षा कहते हैं, वहीं नहीं रुक जायें। हम लोग उत्प्रेक्षा से ही काम चला लेते हैं कि यही होता होगा। पर उत्प्रेक्षा से या यों कहना चाहिए कि केवल उत्प्रेक्षा से शोध में काम नहीं चलाना चाहिए। जब हमको कुछ न मिले तो वहाँ आकर कह देना चाहिए कि इसके बाद नहीं मिलता है, पर जहाँ तक हमको मिले उसमें खोज रखनी चाहिए।

दूसरी रही बात अकबर के समय तानपूरे की। तानपूरे के चित्रों को लेकर झगड़ा है। कौन से तानसेन के समय के हैं पहले यह विचार होना चाहिए।

बीच में डॉ० चौबे ने यह भी कहा कि सूरदासजी का भी चित्र है।

वक्ता पुनः—पर सूरदासजी के समय का नहीं है।

प्रश्न—पँचमढ़ी के जो चित्र हैं, उनमें पंचतन्त्री वीणा का प्रयोग हुआ है। क्या आपने देखा है?

उत्तर—मैंने नहीं देखे हैं पँचमढ़ी के चित्र।

डॉ. नेमा—इसी तरह से समुद्रगुप्त के सिक्के में जो वीणा है, क्या उसका बाद के काल में कोई विकास हुआ है?

वक्ता—उस तरह की वीणा सातवीं-आठवीं सदी के बाद तकरीबन खत्म सी हो जाती है। पर गुप्तकाल में तो बहुत है। चतुर्भाणी में कई उल्लेख आते हैं। मैंने उस वीणा पर एक पूरा पर्चा लिखा था। यह दिखाने की कोशिश की थी कि समुद्रगुप्त वीणा छेड़ रहे हैं। वो असल में गा रहे हैं, बजा नहीं रहे हैं। क्योंकि सप्ततन्त्री पर कितना कोई बजा सकता है? सात तो उसमें कुल तार होते थे, जबकि उस समय का गाना-बजाना तीन सप्तक में हुआ करता था। तरह-तरह के अलंकार का प्रयोग होता था। सप्ततन्त्री तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

केवल जैसे आजकल स्वरमण्डल का प्रयोग गाने वाले इस्तेमाल कर लेते हैं उस तरह काम में आती थी। किसी के हाथ में स्वरमण्डल हो, तो हम जान जाते हैं कि वह गा रहा है, वजा नहीं रहा। यों ही सप्ततंत्री का प्रयोग कोई नहीं जानता हो, तो कहेगा कि वज रही है। पर वजना यहाँ उपचारमात्र है, गौण है, गाना प्रधान है। चतुर्माणी से यह स्पष्ट है। मैं यह समझता हूँ कि समुद्रगुप्त का जो सिक्का है, उसमें भी गाना ही प्रधान है। बजाना गौण है। उस समय के बहुत प्रसंग हमको मिल जाते हैं जहाँ कोई गा रही है साथ में सप्ततन्त्री वजा रही है। मैंने ऐसे प्रसंग एक जगह इकट्ठा किये थे। एक पर्चा भी इस पर लिखा था, समुद्रगुप्त की वीणा पर ही और यही दिखाने की कोशिश की थी कि जैसा आज हम किसी के हाथ में तानपूरा देखें तो देखते ही समझ जाते हैं कि ये बजा नहीं रहा है गा रहा है। तानपूरे को क्या वजाना? वैसे ही पुराने लोग जव देखते थे किसी के हाथ में सप्ततंत्री है तो समझ जाते थे कि गाना हो रहा है। खैर ये अलग प्रसंग है।

अकवर के समय की वात लीजिये। अकवर के समय के बहुत से चित्र हैं। अकवर ने वहुत से चित्र वनवाये और कई तरह के चित्र बनवाये। एक चित्र कहा जाता है कि अकवर के समय से तानसेन का चला आ रहा है। पर उस में तानपूरा नहीं है। चित्र सचमुच अकवर के समय का है इसको लेकर भी थोड़ा विवाद है। जो भी हो पर सोलहवीं सदी के किसी भी चित्र में मैंने देखा नहीं है तानपूरा। हो सकता है, क्योंकि मैं समझता हूँ कि लोक में तो था। पर लोक से इतने सुविकसित रूप में कैसे आ गया होगा, यह एक समस्या है। पर इस समस्या का समाधान अगर हम किसी साक्ष्य के सूत्र से ढूँढना चाहें, तो फिर साक्ष्यों को जाँचना चाहिए। कोई केवल उत्प्रेक्षा करे तो उत्तर नहीं मिलता है। वस एक कहने की ही वात हो जाती है कि ऐसा हुआ होगा। प्रमाण कुछ नहीं होता। यों तो हम हर चीज के बारे में कह सकते हैं कि ऐसा हुआ होगा, पर जो साक्ष्य हैं उनको झुठलाना नहीं चाहिए। उनका ध्यान रखना चाहिए। ये जो सूरदास वग़ैरह के चित्र आते हैं अठारहवीं सदी के, उनमें तो तानपूरा, बल्कि छोटी तानपूरी गोद में लिये गाने वालों के चित्र वहुत आम हो जाते हैं। आपको सैंकड़ों चित्र मिल जायेंगे। पर सत्रहवीं में भी बहुत कम मिलते हैं तानपूरे देखने को। सोलहवीं में तो मैंने देखा नहीं है। हो सकता है कि हो। पर एक बात तो साफ़ मालूम होती है। आज अगर हम गाने-बजाने की तस्वीर बनायेंगे, तो तानपूरा बड़ा प्रधान होगा। अकबर के समय में यह बात नहीं थी। वाद्यों के बहुत चित्र बने हैं, मगर तानपूरा नहीं है। वीणा जरूर है, रुद्रवीणा है। पर तानपूरा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं। लगता यही है कि उस समय प्रचलन नहीं था। सत्रहवीं में आ गया। अचानक कैसे आ गया, यह अपने आप में एक समस्या है। कहाँ से आया, इसी का उत्तर खोजने के लिए मैंने थोड़ी बहुत चेष्टा की थी। इसका उत्तर नहीं मिला है कि अचानक कैसे आ गया, पर एक सूत्र जो बताया आपको कि एकतन्त्री, द्वितन्त्री का प्रचलन जिसको हम प्रतिष्ठित विदग्ध संगीत कह सकते हैं, उसमें भी होने लगा था ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में। पर ये एकतंत्री द्वितंत्री किस सूत्र से तानपूरे में बदली इसका पता नहीं। क्योंकि एकतंत्री और तानपूरे में बड़ा फ़र्क है। दो तार से चार कैसे बने ? इन सवालों का मेरे पास उत्तर नहीं है मगर उत्तर हमको ढूंढना चाहिए, यह मैं ज़रूर समझता हूँ।

डॉ॰ प्रेमलता शर्मा की टिप्पणी—संगीत शास्त्र में निबद्ध एवं अनिबद्ध तौम्बूर ये आये हैं। तो निबद्ध तौम्बूर को सितार के साथ जोड़ते हैं थोड़ा बहुत यानी सितार के तुल्य। अनिबद्ध बिना परदे का है, तो शायद इस तंबूरे का पूर्वज हो सकता है, ऐसा पारिजात में है। निबद्ध तौम्बूर और अनिबद्ध तौम्बूर में जो अनिबद्ध है, उसको वर्तमान तंबूरे का कुछ पूर्व रूप मान लें, वो भी सत्रहवीं शताब्दी का है।

डॉ॰ रामनाथन्—लेकिन यदि लक्षणग्रन्थ में उल्लेख है, तो यह परम्परा कम से कम दो सौ साल पुरानी चली आती होगी।

आगे जारी रखते हुए डॉ. प्रेमलता शर्मा—हाँ, यह हो सकता है। उसमें उल्लेख है। परिजात ने ज़रूर लिखा है निबद्ध और अनिबद्ध तौम्बूर हैं। निबद्ध में उसने गत के पद्य बताये हैं, जैसे पहले होते थे। अभी भी गत बाँध के पद्य बना लेते हैं, यह निबद्ध तौम्बूर में आता है।

तो बड़ी अच्छी चर्चा भाई मुकुन्दजी ने चलाई यहाँ, हम सबको लाभ हुआ इससे। एक तो पहली बात जिधर उन्होंने हमारा ध्यान दिलाया वो ये है कि कोई भी अंकन हम देखें तो पहले ये ज़रा जानने की कोशिश करें कि यह किस परिस्थिति का, किस 'कॉन्टेक्स्ट' (प्रसंग) में संगीत यहाँ हो रहा है, ज़रा उसका संदर्भ भी जानने की कोशिश करें। आम तौर पर हम नहीं करते हैं। वाद्य देखा कि झपट पड़े कि शायद यह अमुक वाद्य है। जैसा मैंने कल भी कहा था कि निष्कर्षों पर पहुँचने की जल्दी हम लोगों को बहुत होती है और उसमें चिरकालिक होना बहुत ज़रूरी है। महाभारत का जो पात्र है चिरकाली, वो हम सबको होना चाहिए। जल्दी से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहिए। जो बात आपने तानप्रदायी के बारे में कही, वर्षों से मैं अपनी कक्षा में ये बात

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करती रही कि मुझे ऐसा लगा है कि बाँसुरी जो है, वह स्वर देती है, क्योंकि कालिदास ने भी कुमारसम्भव में 'उद्गास्यकामः यः कीचकैः' हिमालय के लिये ये कहा है। तो एक ही सुर होगा और किन्नरों का तानप्रदायी होना चाहता है हिमालय। वहाँ पर तानप्रदायी मिला और संगीत रत्नाकर में मिला तो फिर दोनों को मैंने जोड़ा। दोनों को जोड़कर मुझे लगा कि जरूर सुर देने की बात है। और दोनों जगह दो तरह के पाठ हैं 'तानप्रदायित्व' भी है और 'स्थानप्रदायित्व' भी है। यही दो पाठ कालिदास में है, वही दो पाठ संगीतरत्नाकर में है। तो इसमें मैं भी इसी निष्कर्ष पर पहुँची थी, लेकिन फिर भी अब उसको इदमित्थं कोई भी नहीं कह सकता। एक अनुमान जरूर है और बड़ा प्रबल अनुमान है कि वंश जो है स्थान के काम आता था। लेकिन एकमात्र वही काम नहीं करेगा। पर एक काम ये भी है। हो सकता है कि दो वांशिक रहते हों। एक दूसरा बजाता हो, जैसे आज भी शहनाई में एक आदमी उस पर काम करता है और एक 'पों' देता रहता है पूरे वक्त। वो खाली पीछे बैठा हुआ सुर ही देता रहता है। तो ऐसा भी हो सकता है। और भी आपका ध्यान दिलाऊँ ग्रन्थसाक्ष्य में, जहाँ वृन्द की बात की है, संगीतरत्नाकर में, किसी वीणा का नाम नहीं है। इतने गायक हैं, इतनी गायिकाएँ हैं और दो वांशिक हैं, कोई वीणा नहीं है। किसी वीणा का नाम नहीं है, यानी सप्ततन्त्री नहीं, द्वितन्त्री नहीं, एकतन्त्री नहीं, कोई भी नहीं। केवल वांशिक, मार्दंगिक और गायक है। बस बहुत है, और कोई वाद्य और नहीं, यह भी एक प्रमाण है।

वक्ता—ऐसे फलक मिलते हैं जिसमें गायक के साथ केवल वांशिक और मार्दंगिक होते हैं।

वक्तव्य जारी रखते हुये डॉ. प्रेमलता शर्मा—बिल्कुल, वृन्द का यही लक्षण किया है उसने। कोई भी वहाँ वीणा रही हो, ये नहीं बता रहा, एक भी वैणिक नहीं बतलाया किसी प्रकार का, एकतन्त्री वाला भी, द्वितन्त्री, त्रितन्त्री कोई नहीं, कोई वैणिक बताया ही नहीं। इससे भी थोड़ा इस अनुमान को पुष्टि मिलती है। फिर भी अनुमान तो अनुमान ही है। लेकिन अब इतना सा साक्ष्य मिले तो कम से कम मुझे लगता है कि ७५ प्रतिशत गुंजाइश है इस अनुमान को कि ये बहुत प्रबल परम्परा थी। ऐसा क्या है कि बहुत सी चीजें एक साथ चलती रहती हैं। आज तानपूरा है, तो हारमोनियम भी है। अब ये तो पाँच सौ सात सौ साल बाद कोई नहीं कह सकेगा कि उस समय हारमोनियम ही होता था या तानपूरा ही होता था। यह अगर कहेगा, तो गलत बात होगी क्योंकि दोनों चल रहे हैं। लेकिन आज अंकन सहज में कोई हारमोनियम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का नहीं करेगा। शायद अंकन करने लगे, तो तानपूरे का ज़्यादा करेगा। इसलिए बहुत से कारण आ जाते हैं कि क्यों किसी चीज़ का अंकन होता है, कौन सी चीज़ फ़ैशन में है: कौन सी प्रतिष्ठा में है, कौन सी प्रतिष्ठा में नहीं और समाज की उसके बारे में क्या-क्या दृष्टि है, ये बहुत सी बातें हैं। फिर भी ये 'तानप्रदायित्व' का तो बहुत जगह उल्लेख है। और ये संगीतरत्नाकर का वृन्द का साक्ष्य और भी भारी है; जो इसमें वांशिक ही लगता है और एक भी वैणिक नहीं, एक भी वीणा की जरूरत नहीं समझी। दो-एक वांशिक ले लेता है, दो जरूर लेता है लेकिन।

डॉ० चौबे—इसमें एक गुंजाइश इतनी सी जरूर है कि वो जो आप रत्नाकर की बात कह रही हैं, वो वृन्द के संबन्ध में है और एकाकी गायन के सम्बंध में वो बात कहाँ तक लागू होगी ?

डॉ० चौबे की शंका का समाधान डॉ० प्रेमलता शर्मा द्वारा—हाँ, ठीक है, मैं तो नहीं कह रही। पर ये भी ठीक है। लेकिन वृन्द में भी तो, आज तो हम वृन्द में भी कहेंगे, तानपूरा तो रखते हैं, यानी उसको भी सोच सकते हैं। सब सोचने की बातें हैं। हम यहाँ कोई निर्णय करने नहीं बैठे हैं। यहाँ हम इस बात के निर्णय पर पहुँच भी नहीं सकते और पहुँच कर भी क्या कर लेंगे। कल को कट सकती हैं बातें। यहाँ विचार इतना ही हो रहा है कि किसी निष्कर्ष पर पहुँचते समय हमें एकाधिक प्रमाण मिलने चाहियें, एकाधिक विधाओं में से मिलने चाहियें। जैसा कि आपने कहा कि शिल्प में जो अंकन है उसकी किसी तरह पुष्टि साहित्य से हो, या संगीतशास्त्र से हो या और किसी माध्यम से हो, तो ही कुछ बात जमती है। बहुत सी बातें ही एक साथ जुट जायें, तो कुछ-कुछ बनती है। बहुत सी बातें जोड़ सकें, यही बात हम कल से कर रहे हैं कि भाई, हमारे विद्यार्थियों में, खुद हममें भी इतनी क्षमता होनी चाहिए कि हम एक से अधिक पहलुओं से किसी बात को देख सकें और वो क्षमता अर्जित करने के लिए जो कुछ जरूरी है, उसके लिए हम जितनी व्यवस्था कर पायें वो हमें करनी चाहिए, यही है सारी बातों का निष्कर्ष, और क्या। परन्तु भाई मुकुन्द ने बहुत प्रांजल रूप से, बहुत स्पष्टरूप से हमारे सामने बहुत सी समस्याओं को रखा है क्योंकि यहाँ हम समस्याएँ ही समझने को बैठे हैं, हल निकालने को तो नहीं बैठे। क्योंकि आधे घण्टे में कोई हल तो नहीं निकल सकता कि हम इस बात पर पहुँच जायेंगे कि हाँ इस समय ऐसा था या यही होता था, ये कहना बहुत कठिन है किसी के लिए भी। आपको हम बहुत-बहुत धन्यवाद देते हैं इस चर्चा को यहीं पूरा करके।

□

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रयोगपरक शास्त्रों के सम्पादन की समस्याएँ —नाट्यशास्त्र के विशेष संदर्भ में

☐ डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी

डॉ. मुकुन्द लाठ के व्याख्यान के वाद मैं जो बातें कहना चाहता था, उनके क्रम में थोड़ा अन्तर कर देना आवश्यक है। मैं प्रयोगपरक शास्त्रों के सम्पादन की समस्याएँ : नाट्यशास्त्र के विशेष सन्दर्भ में—इस सीमित दायरे में अपनी वात कहना चाहता था। और प्रयोगधर्मी शास्त्र के सम्पादन की समस्या के दो सुस्पष्ट आयाम हैं। एक तो लक्षणग्रन्थों के सम्पादन से, उनके मूलपाठ से सम्बद्ध समस्याएँ और दूसरे उन लक्षणग्रन्थों के विषय—'ऑब्जेक्ट' लक्ष्य के सोपानों की पहचान, फिर उन लक्ष्य के सोपानों को तत्तत्काल के लक्षणग्रन्थों से जोड़ने की समस्याएँ—शोध के लिए ये सुस्पष्ट आयाम हैं। डॉ. मुकुन्द लाठ ने लक्ष्य को किस तरह से समझा और दूसरे प्रमाणों को, विशेष रूप से शिल्प से, जो कुछ हमें मिलता है, कैसे सहायता लें, यहाँ से बात शुरू की है और उस पर बात आगे बढ़ी है। इसलिए मैं बहुत संक्षेप में दो-एक प्रश्न यहाँ रखकर और तब मूल बात के ऊपर अपनी बात कहना चाहूँगा।

मैं इस बात से सहमत हूँ कि प्रयोगधर्मी शास्त्रों के इतिहास को और प्रयोग के इतिहास को निर्मित करना विशेष रूप से पश्चिम के सन्दर्भ में इतिहास की जो परिकल्पना है, उसके अनुसार उसे रचित करना बहुत कठिन है और उस दुष्करता, कार्य की दुष्करता को स्वीकार करता हूँ। मैं सहमत हूँ इससे और यह भी कि उसकी दो विधि हो सकती हैं। या तो ऊपर से चलकर उतरते हुए आज तक आया जाय, या आज से चलकर पीछे की ओर जाया जाय। दोनों ही तरीक़े हैं। डॉ. कपिला वात्स्यायन ने इन दोनों तरीक़ों की ओर पहले संकेत कर दिया है, अपने व्याख्यानों में भी किया है और लिखा भी है। आज ख़ास तौर से अपने सन्दर्भ में हम नीचे से ऊपर चलने की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रक्रिया को अपनाएँ. यह ज्यादा सुकर और शायद अधिक फलद बात होगी। और उसका एक विशेष पक्ष है, जिधर की ओर मैं ध्यान दिलाना चाहता हूँ। हमारे मित्र अशोक वाजपेयी अपने सन्दर्भ की व्याख्या करते हुए कई बार कहते हैं कि हम समय की बहुलता के समाज में रहते हैं। हमारा अपना जीवन सौभाग्य से कहिए, मैं सौभाग्य ही उसको मानता हूँ, दुर्भाग्य तो नहीं मान सकता, कि हम ऐसे समाज में है, जिनमें एक साथ समय के अनेक स्तर विद्यमान हैं और प्रयोग की जितनी कलाएँ हैं, उन कलाओं के भी प्रयोग के नाना स्तर एक साथ विद्यमान हैं। यह हमारे लिए एक सुविधा है और सुविधा की बात इस तरह से है कि शास्त्र के लक्षणग्रन्थों के उस क्रम में जो कुछ भी हमें प्राप्त है और आज प्रयोग के स्तर पर काल के जो नाना स्तर विद्यमान हैं, उन से चलकर आज उन-उन तत्त्वों की वहाँ-वहाँ पहचान कर और फिर पीछे के सोपानों पर बढ़ते हुए लक्षणग्रन्थों के साथ अगर उनके जोड़ने का प्रयास करें, तो शायद कुछ सफलता हमें मिल सकती है। इस पूर्व-मान्यता के साथ प्रयोगपरक अनुसन्धान की दिशा खुल जाती है। प्रयोगपरक अनुसन्धान सर्वथा दुष्कर नहीं है। समकालीन प्रयोग आज के प्रयोग में अग्रगामी, अग्रतम जो प्रयोग है, वह समकालीन हैं। जिस अर्थ में हम समकालीन प्रयोग की बात कहते हैं, लेकिन ऐसा हो नहीं सकता कि जो अत्यन्त सरलीकृत और धीरे-धीरे जिन्हें हम काल में पीछे ले जाते हैं—ऐसे प्रयोग प्राप्त नहीं हैं।

नाट्यशास्त्र संपूर्ण कलाओं का आकर ग्रन्थ है। कम से कम हमारे पास एक ऐसा ग्रन्थ विद्यमान है, जो सम्पूर्ण भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का आकर ग्रन्थ है, इसलिए उसमें जो बात कही जाती है वह क्या सभी कलाओं पर लागू हो सकती हैं? क्या सभी कलाओं पर लागू होने वाली कोई प्राक्कल्पना हम कर सकते हैं? इस पर भी विवाद की बात है। लैंगर ऐसे सौन्दर्यशास्त्री उस पर भी प्रश्नचिह्न लगा रहे हैं, जो अलग बात है। लेकिन हम मानकर चलते हैं कि एक जहाँ ज्ञान एकीकृत रूप में देखा जाता है, वहाँ समस्त कलाओं में अनुस्यूत कोई प्राक्कल्पना, सबमें अन्तर्निहित, सबको अन्तर्ग्रथित करने वाली कोई प्राक्कल्पना हो सकती है। जहाँ एक सम्पूर्ण विश्वदृष्टि एकतामूलक है, वहाँ इसको होना चाहिए, ऐसा मानकर के हम नाट्यशास्त्र की ओर चलते हैं और वहाँ इसीलिए जब नाट्य के प्रमेयों की चर्चा की गयी तो रस, भाव, अभिनय और धर्मी आदि की बात की गयी है। नाट्यधर्मी इसके विस्तार की बात है। वह धर्मी तत्तत्कला का अपना धर्म है। तत्तत्कला का जिसे आपने एक सामान्य नियम समझा है, जो देशी से पृथक् है। देशी में तो लोक का स्वभाव है जैसा परमार्थ में है, वहाँ से उठाकर जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिल्पधर्मी है, जो नाट्यधर्मी है, उसको एक आकार दिया जाता है कला का यह व्यापार है। कला के व्यापार की यह महिमा ही है और उस धर्मी को, उस धर्मी के नाना स्तरों को और कला के स्वभाव के उस नाना स्तर को जो कि लोकस्वभाव है उनको देखने का एक ज़रिया हमारे आज के सन्दर्भ में विद्यमान है और इसलिए मैंने एक सुझाव दिया है कि इसकी सम्भावना को देखते हुए हम आज से पीछे की ओर जाएँ, पीछे से आज की ओर आयें और तब समस्त उपलब्ध साधनों के ज़रिये एक पुनराविष्कार या पुर्ननिर्माण हो पाता है। फिर सबसे बड़ी बात कि जो कुछ हमने बनाया इन प्राक्कल्पनाओं के ऊपर वह 'एँस्थेटिकली सॅटिस्फ़ाइंग' (सौन्दर्यबोधात्मक दृष्टि से सन्तोषप्रद) है कि नहीं, यह दूसरी बात है। पुनः निर्माण कर देना अपने में कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। जो कुछ हमने बनाया, वह सौन्दर्य की दृष्टि से हमें संतुष्ट करता है कि नहीं, यह एक बात है। संतुष्ट करना ही काफ़ी नहीं है। आज जो कुछ प्रयोग हो रहा है, उसमें कोई नई सम्भावना, उसमें कोई नई दिशा उन्मीलन करने के लिए उपयोगी भी है कि नहीं, वह सामर्थ्य भी रखता है कि नहीं, यह दूसरी बात है। इन समस्त दृष्टियों से कलापरक जो अनुशासन हैं, उनके अनुसन्धान को प्रयोग के साथ जोड़ने की एक सुस्पष्ट दृष्टि जब तक नहीं होती है, हम जो कुछ करते जा रहे हैं अनुसन्धान, उनमें एक तो ऐतिहासिक दृष्टि ही नहीं है, फिर समग्रता की दृष्टि ही नहीं है। फिर हमारी सुसंगत विधि नहीं है, जो पूरी तरह से लागू हो सके। मेरा अपना सम्बन्ध थोड़ा सा रंगकर्म के साथ है, रंगप्रयोग के साथ। रंगप्रयोग में जो समस्या विशेष रूप से प्रयोग के साथ आती है, वह समस्या है कि एक जो गतिशील स्थिति है, जिसकी ओर कल बहिनजी ने संकेत किया था, उसे अंकित करने के लिए किसी 'नोटेशन' को कैसे प्राप्त करें, एक संपूर्ण 'करण' और एक पूरे 'अंगहार' की सम्पूर्ण स्थिति को एक विशिष्ट मुद्रा में देश के एक बिन्दु से देश के दूसरे बिन्दु तक संचरण को, हम किस तरह से अंकित करें, यह हमारी दूसरी समस्या है। जब मौखिक परम्परा को बिल्कुल लिखित रूप में बाँध देने का हमने आग्रह ही ठान लिया है, तो फिर इस प्रकार के 'नोटेशन' की खोज करना भी हमारे लिए ज़रूरी हो जाता है। एक यह समस्या है, इसका सब लोग अनुभव कर रहे है। कई लोग उसके ऊपर लगे हुए है। कुछ रूप आये भी हैं, लेकिन वह केवल रेखीय प्रतीकों के द्वारा भी सुसंगत क्रम से, अलग-अलग क्रम से रेखीय प्रतीक लेकर रेखा में एक शैलाश्रयों के मानव की तरह का मानव बना कर और फिर उसके एक क्रम को देखकर उसके हस्तपाद के संचरण के क्रम को देखकर एक पूरी, एक नाना क्षणों की स्थिति को अंकित करने का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रयास करके 'नोटेशन' बनाया जा रहा है। लोगों ने किया है। कुडियाट्टम् के सन्दर्भ में किया है, तो एक उसकी शुरूग्रात हो गई है, पर वह भी कितनी, उसकी सामर्थ्य कितनी सीमित है, यह हम देख रहे हैं, ग्रौर विशेष रूप से यहाँ कुमारस्वामी जैसे ग्राचार्य तो शुरू में ही जब ग्रास्तो के साथ उनका विवाद हुग्रा ग्रौर जब एक दक्षिण-पूर्व एशिया के कला-प्रयोगों को इस समीक्षक ने ग्रन्यथा व्याख्या की थी, तब जब कुमारस्वामी ने लिखा भारतीय कला के ग्रौर प्रयोग के, विशेष रूप से नाट्य-प्रयोग के, रंप्रयोग के, संदर्भ में, तो उन्होंने इस बात का संकेत किया कि एक सुसंबद्ध ग्रनुशासन के ज़रिये, 'कोडिफ़िकेशन' के ज़रिये वर्षों तक लम्बी साधना के बाद किसी कला का जो चरित्र बनता है, उस पर इस तरह से नहीं कहा जा सकता। ये सारे प्रश्न कुमारस्वामी ने शुरू में ही उठाये थे। वह क्या थे, उनको दोहराना नहीं है, लेकिन वहाँ ख़ास तौर से मेरा कहना है कि जब उपांग का अंकन करना हो, तो ये कहाँ तक काम देगा? यह 'कोडिफ़िकेशन' का रास्ता भी हाथ के 'मूवमेण्ट' को, पैर के 'मूवमेण्ट' को, कटि की स्थिति को, वक्ष की स्थिति को, इसको तो एक बार सम्प्रेषित भी कर दे, नेत्र के ग्रभिनय को कैसे करे, चिबुक को कैसे करेगा? ग्रौर यहाँ तो ये सारी क्रियाएँ सूक्ष्मतम काल तक जानी हैं, तो इसके लिए 'कोडिफ़िकेशन' कैसे होगा? एक यह बड़ी भारी समस्या जब नाट्यशास्त्र के ग्रनुवाद की बात हम लोगों के सामने ग्रायी, ग्रौर कैसा ग्रनुवाद, जो प्रयोगधर्मी कलाकारों के लिए हो, जो प्रयोक्ताग्रों के लिए हो, तो यह हुग्रा कि ग्राख़िर हम उसको समझाएँ कैसे? शब्द तो वहाँ है ही, नाट्य-शास्त्र स्वयं दे ही रहा है, उस शब्द की षष्ठी-प्रथमा तोड़ करके उसका केवल उल्था कर देने से क्या होगा? उल्था भी हो चुका है, फिर क्या ज़रूरत है नया ग्रनुवाद करने की? नाट्यशास्त्र का उल्था करने से काम नहीं चलेगा। फिर ग्रनुवाद के लिए ग्रावश्यक है कि हम उसको विधिवत् चाक्षुष बना करके कुछ दे सकें। उसको चाक्षुष रूप में देने के लिए जो उपांग ग्रभिनय है, इसके लिए बहुत सा 'कोडिफ़िकेशन' तो फिर क्या करें? ग्रनुवाद के साथ एक वीडिग्रो कैसेट भी जारी करें, जैसा ग्रब जारी होना शुरू हो गया है। तो ये सारी बातें हैं, जो हमारे सामने प्रयोग के साथ, लक्ष्य के साथ लक्षण को सम्बद्ध करने के दौरान सामने उठ रही हैं। इनका एक दिङ्मात्र में संकेत ही सम्भव है क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि समय की सीमा है ग्रौर विद्वानों के सामने बहुत विशेष विस्तार की कोई ग्रावश्यकता नहीं हैं।

मैं ग्रब इसके दूसरे पक्ष की ग्रोर जाना चाहूँगा ग्रौर मैं ग्रब मूल पाठ में जो समस्याएँ है वो भी परिज्ञात हैं, केवल विचार के लिए उनको प्रस्तुत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर देना चाहता हूँ। यहाँ पर नाट्यशास्त्र के अद्यावधि उपलब्ध संस्करणों और अनुवादों की सबसे बड़ी सीमा यही है कि वे सैद्धान्तिक बहसों, चाहे वे मूल पाठ के निर्धारण की हों, अवधारणाओं के निरूपण या पहचान से सम्बद्ध हों या प्रयोग की पद्धति के आविष्करण से जुड़ी हों—ये सीमाएँ हैं। वे सैद्धान्तिक बहसों के लिए ही उपयोगी रहती हैं। प्रयोक्ताओं को इन संस्करणों या अनुवादों से प्रयोग के प्राचीन रूप को पहचानने में या समकालीन सर्जनात्मक प्रयोग में अपनी निजता के आविष्करण अथवा नयी सम्भावनाओं के उन्मीलन की दिशा खोजने में कम ही सहायता मिलती है। नाट्यशास्त्र के सम्पादन की चुनौती एकमुखी न होकर बहुमुखी है। मूल पाठ के अत्यन्त जटिल इतिहास का सामना और उसका समुचित समाधान प्राप्त करना उसका एक अंश या एक दिशा मात्र है। शास्त्रगत अवधारणाओं की सुस्पष्ट विवेचना और असन्दिग्ध पहचान—उसकी दूसरी दिशा है। किन्तु इसके सबसे आगे बढ़कर प्रयोग के प्राचीन और सतत प्रवाहमान रूपों का आविष्करण कर एक जीवन्त और व्यापक कलासंस्कृति के केन्द्र और व्यापक मण्डल-विस्तार, कूटस्थ ध्रुव तथा परिवर्तनमान, प्रशिक्षणात्मक और प्रयोगात्मक पदों के द्वंद्वात्मक सम्बन्ध के साथ एक "डायलिक्टिक्स" है, इस द्वन्द्व सम्बन्ध के आकार सामने दिखाई पड़ते हैं। एक तो केन्द्र और व्यापक मण्डल-विस्तार से मेरा मतलब है, जो अभी आपने संकेत किया, कल भी जिसकी बात आयी थी कि मार्ग का और देशी का, नाट्यधर्मी और लोकधर्मी का सम्बन्ध क्या है। अगर एक सामान्यीकृत नियम है तो वो केन्द्र है और तत्तत् अंचल में उसका जो कुछ दिखाई पड़ रहा है एक रूप देशी के रूप में, वो उसका विस्तार हो सकता है। तो यह एक द्वंद्वात्मक सम्बन्ध है। इस द्वंद्वात्मक सम्बन्ध को, मैंने उसको कला-संस्कृति के नाम से कहना चाहा है। तो कला-संस्कृति के इस केन्द्र और व्यापक मण्डल-विस्तार का, उसका एक शाश्वत रूप और उसका निरन्तर परिवर्तित होता हुआ रूप। शाश्वत रूप, जिसे हम पहचानते रहे, आज भी पहचानते हैं और उसी के बल पर, उसी के भरोसे यह कहने की थोड़ी जरूरत भी हो रही है जो कुछ भी कला के हम समय की बहुलता में जो जी रहे हैं, उसके आधार पर देखने की कोशिश करें, तो कूटस्थ और सतत परिवर्तमान और अन्य बात यह है कि यह शास्त्र किसके लिए है? अभिनवगुप्तपादाचार्य सुस्पष्ट प्रश्न करते हैं यह किसके लिए है? यह तो नटशिक्षा के लिए है, प्रयोक्ता की शिक्षा के लिए है, कर्मशिक्षा के लिए है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नटशिक्षार्थं कविशिक्षार्थं वा—'वा' वह बार-बार कहते हैं तो जो प्रशिक्षण के लिए लिखा गया है। इसका मूल उद्देश्य प्रशिक्षण का है और उस प्रशिक्षण से फिर प्रयोग की ओर जाना है और प्रशिक्षण ओर प्रयोग का जो अभिनेता के सन्दर्भ में एक बन्ध है, उस बन्ध को ध्यान में रखते हुए इन शास्त्रों के साथ ग्रन्थ को अथवा मूल पाठ को संपृक्त रूप में साक्षात्कृत कर पाना सबसे प्रखर समस्या है। प्रयोगपरक शास्त्रों का अन्य भारतीय अनुशासनों की ही भाँति लोककण्ठ में प्रवाहमान लोकवार्ता की भाँति विशुद्ध मौखिक परम्परा का ही स्वरूप नहीं है, न तो उन्हें पश्चिम की लिखित परम्परा की भाँति लिखित अनुशासनमात्र कहकर समझा जा सकता है। वस्तुतः यह शास्त्र लिखित और मौखिक परम्परा के उभयात्मक स्वरूप में प्राप्त हुए हैं, जिस बात पर कल मैं विस्तार से कह चुका हूँ। इसलिए मैं उसको छोड़ देता हूँ। प्रयोगपरक कलानुशासन के सन्दर्भ में यह प्रक्रिया तो और जटिल हो जाती है। एक सम्बद्ध क्रम में, यथासंगत रूप में नियमित शास्त्र की, संप्रदाय से प्राप्त करने वाला गुरु जब यात्रा करता है, तो ये विवेक कर पाना कठिन हो जाता है कि कितना वह प्रस्तुत अंश गुरुपरम्परा-प्राप्त है और कितना परिवर्तित पल्लवन, कितना उस गुरु का स्वयं का उत्थापन है, और कितना उसे संप्रदाय से प्राप्त है। मौखिक परम्परा की अपनी कठिनाई पर डॉ. लाठ ने जो संकेत कर दिया है ऐसा नहीं है कि जो कुछ हमको आज दिया जाता है, वह पूरा का पूरा नया है या पूरा का पूरा पुराना है। यह जो उसमें विवेक कर पाना, विवेक की दृष्टि से पूरे के पूरे लक्ष्य को लक्षण के साथ जोड़ना, यह समस्या हमारे सामने है। शास्त्रों के साथ समस्त प्रयोगपरक अनुशासन इस प्रक्रिया से गुज़र कर हमें प्राप्त होता है। ऐसे शास्त्र के सम्पादन में कूटस्थता और इतिहास के इस बन्ध को दृष्टिगत रखते हुए मूल पाठ का निर्णय अत्यन्त दुष्कर कार्य है। यह तब और भी कठिन हो जाता है, जब एक ओर वैज्ञानिक आधुनिक दृष्टि की अपेक्षा हो कि हम उपलब्ध तथ्यों को स्वयं बोलने दें। भावी अनुसन्धाता के विवेक और व्याख्यान का अधिकार अक्षुण्ण रखते हुए तथ्यों का अति वस्तुगत और कमोवेश यान्त्रिक प्रयोग परीक्षण का उपयोग करें, यह आज की दृष्टि की माँग है और यह माँग सही है। हम उसे अस्वीकार नहीं कर सकते, तो भावी अनुसन्धाता के विवेक और व्याख्यान का अधिकार अक्षुण्ण रखते हुए तथ्यों का अति वस्तुगत और कमोवेश यान्त्रिक परीक्षण कर उपयोग करें। तथ्यों की बहुलता को प्रथम स्थान दें। दूसरी ओर संगतिमूलक और सम्प्रदाय-दृष्टि इसके विरोध में न जाए। अभी-अभी हम लोग बात कर रहे थे, डॉ. लाठ से यह सवाल आया कि जो 'मेंजॉरिटी-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऑफ़ मॅन्युस्क्रिप्ट्स' (अधिकांश पाण्डुलिपियाँ) रीडिंग को दे रहे हैं, वह शास्त्र के प्रमेय से संगत नहीं हैं। यदि एक सुस्पष्ट विरोध प्राप्त होता है, तो उस शास्त्र की शैली के विरुद्ध हैं। शास्त्र के प्रमेय के विरुद्ध है लेकिन अधिकांश ऐसा ही पाठ देती हैं, तो फिर हम क्या करें ? वहाँ पर हम अपने विवेक का उपयोग करें या न करें ? हम जो कुछ पा रहे है, उसका कारण बहुत हो सकता है। लेखक का प्रमाद गड़बड़ी का कारण हो सकता है। कई बातें हो सकती है, ऐसी स्थिति में हम क्या करें ? यह एक चुनौती हमारे सामने लगातार है और इस पर जैसा कि बहिनजी ने कहा कि बहुत झपट के कोई निर्णय हम नहीं कर सकते। हम अपने विवेक को इतना बलवान् न मान लें कि आगे आने वाले सारे अनुसन्धाता के अधिकार को ख़त्म कर दें और ऐसा भी नहीं कर सकते कि जब हम सत्य को जान रहे हैं, तो इसको बिल्कुल सामने न ले आयें और मूल पाठ में हम उस भ्रष्ट पाठ को ही रख दें और फिर नीचे टिप्पणी में दे दें कि ऐसा मैं भी सोचता हूँ जनाब, इस पर ग़ौर फ़रमाइये। तो इसका रास्ता क्या हो ? जो मौखिक परम्परा के ऊपर अनुसन्धान हो, तो मूल पाठ के संशोधन हेतु तो यह समस्या, जटिल समस्या हमारे सामने है। मैं नाट्य-शास्त्र के सन्दर्भ में इस बात को और भी थोड़ा स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। नाट्यशास्त्र के सन्दर्भ में यह कठिनाई एकदम से सामने आती है। अभी कुछ वर्षों पहले, यद्यपि यह चुनौती तो बहुत पहले आ चुकी, निती डोल्ची ने नाट्यशास्त्र के १७ वें अध्याय की परीक्षा की और वहाँ पर पाठ्य का विवेचन करते हुए भाषाओं को लिया गया तो प्राकृत भाषा में आने वाली ध्वनियाँ हैं उनका आकलन किया गया। आरम्भ में संस्कृत में कुछ श्लोक हैं और उसके बाद प्राकृत में छन्दोबद्ध रूप में नियम आये और फिर से संस्कृत आ गयी। निती डोल्ची ने बहुत पहले ही यह सन्देह उठाया कि क्या ये नाट्यशास्त्र का रूप एक ही लेखक द्वारा लिखा गया या अनेक प्रणेताओं की यह रचना है। वह "हेटरोजेनस" है या "होमोजीनस" है—यह बात उठाई। एल्स्डार्फ, ने जो प्राकृत के बहुत बड़े विद्वान थे, जर्मनी के, फिर उस पर आगे लिखा। एल्स्डार्फ ने कहा कि यह निश्चित रूप से प्राकृत अंश कहीं और का है। संस्कृत अंश कहीं और का है। बिना किसी विवेक के इन दोनों को लाकर जोड़ दिया गया। वार्डर ने फिर इसके ऊपर लिखा और वार्डर ने कहा कि नहीं, यह तो उसमें संगति है और वह एक लगता है। वह सारा प्रमाण हम यहाँ नहीं रख सकते, लेकिन यह समस्या है और उसके बाद श्रीनिवास अय्यर श्रीनिवासन् ने अभी जो काम किया है, जर्मनी में, वह हमारे सामने हैं, छठे और सातवें अध्याय को लेकर एक एक अक्षर की उन्होंने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समीक्षा की है। तुलनात्मक रूप से परीक्षा की है, और एकदम उन्होंने निर्णय लिया है कि यह नाट्यशास्त्र 'होमोजीनस' कोई एक रचना ही नहीं है, वह 'हैटरोजीनस' है। बहुस्रोतस्क शास्त्र है, इसके स्रोत भी ऐसे ही अविचारी रूप के लोगों ने इकट्ठा करके रख दिया है। अगर ऐसा है तो जिसको हम अपने सौन्दर्यशास्त्र के आकर ग्रन्थ के रूप में मानते हैं, सम्प्रदाय के रूप में मानते हैं—उसकी यह स्थिति होगी। हम सम्प्रदाय इसलिए कहते हैं कि अगर कोई शास्त्र का शास्त्रत्व निर्मित करना होता है, तो पारम्परिक दृष्टि से यह पूछा जाता है कि बताइए आचार्य कौन है, कौन है जिसने सब सूत्रों की रचना की है। वेदान्त के आते ही यह पूछा जाता है कि इसका आचार्य कौन है? अगर काव्यशास्त्र कोई शास्त्र है, अगर साहित्य-विद्या कोई विद्या है, तो उसका आचार्य कौन है? जैसे कि अगर व्याकरण शास्त्र है, तो उसका आचार्य है पाणिनि। उस पर फिर वार्तिककार है। फिर उस पर भाष्यकार है और इसलिए व्याकरण शास्त्र है। न्याय अगर शास्त्र है, तो गौतम है, उद्योतकर है, वात्स्यायन है, न्याय शास्त्र है। अगर अद्वैत वेदान्त शास्त्र है, तो सूत्रकार है, भाष्यकार है, वृत्तिकार है, वार्त्तिककार है, तो एक पद्धति सुसम्बद्ध, सुसंगत पद्धति है। इस दृष्टि से नाट्यशास्त्र शास्त्र माना गया है और उसमें कौन आचार्य है, तो बार-बार यही कहना पड़ेगा—'भरत'। तौर्यत्रिकसूत्र-कार, तो जो सूत्रकार हैं, वह भरत है। हम श्रीनिवासन् अय्यर की स्थापना पर खूब गहराई से विचार करें। मैं यह नहीं कहता कि इस बात की रक्षा के लिए। लेकिन सच्चाई क्या है, इस पर विचार करना होगा और विचार करके एक निष्कर्ष पर पहुँचना होगा। इसके लिए केवल समस्या की बात नहीं, समाधान की दिशा के ऊपर भी थोड़ा संकेत इसलिए आवश्यक है कि अगर इसका निर्णय करना है, तो यहाँ विस्तृत नाट्यशास्त्र के लिए बिल्कुल पाण्डुलिपीय आधार है, उसको हमको एक साथ देखना पड़ेगा, यह काम बहुत कुछ रामकृष्ण कवि ने किया है। रामकृष्ण कवि के सामने भी समस्या आई। चालीस पाण्डुलिपियों के आधार पर उन्होंने सबसे पहले सबसे अधिक स्रोतः सामग्री का उपयोग करके उन्होंने सम्पादन किया। इसके पहले के जो सम्पादन हैं, वो एक या दो पाण्डुलिपियों के आधार पर हैं। वह ग्रासेट से लेकर काशी के संस्करण तक को, सबको आप देखिए। रामकृष्ण कवि का जो संस्करण हुआ, उसमें चालीस पाण्डुलिपियों का उन्होंने जो उल्लेख किया, यद्यपि उसका विवरण नहीं है, कहाँ से प्राप्त हुई, कैसी थीं, इस सबका उल्लेख नहीं है, फिर भी उसका नामकरण कर दिया—क ख ग घ—पाण्डु-लिपियों का भी। उनके पाठभेद के लिए पाण्डुलिपि देखने को प्राप्त नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभिनवभारती का प्रकाशन हुआ। उससे बहुत कुछ बात आगे बढ़ी। अब प्रश्न यह है कि पहले जो संपूर्ण पाण्डुलिपीय साहित्य को इकट्ठा करना, जिस भी प्रयोगपरक अनुशासन को लेंगे, यह मूल बात है इसको इकट्ठा करना और उसको ले करके स्वयं रामकृष्ण कवि ने यह बताया कि उससे दो संस्करण बनते है। एक तो उत्तरीय संस्करण, एक दक्षिणीय संस्करण। ये ही दो संस्करणों की बात उन्होंने की है। अब नाट्यशास्त्र को लेकर फिर एक दूसरी समस्या यह आती है कि क्या उसके एकाधिक संस्करण थे या एक ही संस्करण उसका था, जो कि केवल पाठभेद हो सकते हैं। वाचनाएँ कुछ अलग हो सकती हैं। संकरण क्या दो थे, क्या एक थे, या एक से कुछ ज्यादा थे—यह निर्धारण और बड़ी समस्या है। मैं इस पर भी निर्णय पर नहीं पहुँचना चाहूँगा।

इसी तरह हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में जो 'अभिनवभारती' का उद्धरण है, उन सबको लेकर के अभिनवभारती के 'रीकन्स्ट्रक्शन' (पुन-निर्माण) 'रिस्टोरेशन' (मूल अवस्था की प्राप्ति) का काम हुआ। तो इन सब को भी ध्यान में रखते हुए पहले सम्पादकों ने जो कुछ भी अब तक किया है, यहाँ तक कि नाट्यशास्त्र की कुछ पंक्तियों को लेकर, श्लोक को लेकर, एक शब्द को लेकर, विद्वानों ने गम्भीर विचार किया है। इन सबको ध्यान में रखते हुए तब नाट्यशास्त्र के मूल पाठ का निर्धारण करना सम्भव होगा, पर इस सबका तब तक हम ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर सकते, जब तक नाट्य-शास्त्र की आन्तरिक रचना को हम ठीक-ठीक तौर पर नहीं समझते। हम तब तक इस बात को पूरी तरह से नहीं कर सकते। अभिनगुप्त ने सम्पादन के कुछ सिद्धांत भी दिये हैं, विरोधाभास की सुस्पष्ट तरीके से उन्होंने उसकी संगति दे दी। विरोध का उन्होंने परिहार कर दिया। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के आरम्भ में ऐसे कई सिद्धांत सूत्ररूप में दिये हैं, जिनसे सम्पादन का मार्ग प्रशस्त होता है। प्रयोगपरक शास्त्रों के सम्पादन और व्याख्या की एक लम्बी परम्परा हमारे सामने थी और उसका समुचित उपयोग कर हमें अपनी पाठसमीक्षा, सम्पादन और व्याख्या की पद्धति विकसित करनी चाहिए।

चर्चा

डॉ० प्रेमलता शर्मा की टिप्पणी—कमलेशदत्तजी ने बहुत ही विशद रूप से नाट्यशास्त्र के पाठ संशोधन की समस्याओं की ओर, मूलभूत समस्याओं की ओर ध्यान दिलाया। केवल यही नहीं कि हम क्या करें, इतना ही नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्रौर ग्रनेक जो इनके साथ जुड़ी हुई मूलभूत समस्याएँ हैं, उनकी ग्रोर हमारा ध्यान दिलाया। जिनका नाट्यशास्त्र से थोड़ा बहुत भी परिचय होगा उनके लिए ये सारी बातें, उनको विचार में ला देने के लिए बहुत काफी हैं। जिनका परिचय नहीं हुग्रा होगा, उनके लिए इस व्याख्यान से ग्रवश्य लाभ हुग्रा होगा, ऐसा मैं मानती हूँ। नाट्यशास्त्र के ग्रध्ययन की ग्रोर ध्यान पिछले २५-३० वर्षों में ही जाने लगा है ग्रौर संगीत के विद्यार्थियों का जब से ये चतुर्थ खण्ड बड़ौदा का प्रकाशित हुग्रा, तब से ग्रधिक ध्यान गया। पहले सिर मारते थे, लेकिन बिल्कुल ही नहीं समझ में ग्राता था। मेरा ग्रपना ग्रनुभव कह रही हूँ, जब ग्रभिनवभारती सामने ग्रायी तब कुछ-कुछ पाँच प्रतिशत शायद समझ में ग्राया। तो ये शास्त्र प्राचीन है, किन्तु जैसा ग्रापने बताया इसका संप्रदाय था, जो लुप्त हो गया—इस पर मैं दो शब्द जरूर कहना चाहूँगी, क्योंकि हमारी जो वाचिक परम्परा, हम लोग कहते हैं, ग्रौर लोग भी कहते हैं, तो वाचिक परम्परा की जो संस्कृति है, उसमें शास्त्र ग्रौर संप्रदाय ये दोनों बिल्कुल एक-दूसरे के पूरक होते हैं। सम्प्रदाय यदि नहीं है, तो शास्त्र को समझना ग्रत्यन्त दुष्कर, मैं तो कहती हूँ ग्रसम्भवप्राय है। ग्रौर वही हम लोगों की दशा है, क्योंकि गुरु परम्परा से काव्यप्रकाश ग्रब तक पढ़ाया जाता रहा है, ध्वन्यालोक पढ़ाया जाता रहा है, पर नाट्यशास्त्र तो नहीं पढ़ाया जाता था। मैं तो कितनी बार कहती रही कि नाट्यशास्त्र पढ़ाने [illegible] कोई गुरु मुझे मिल जाय, तो मैं ग्राज पढ़ूँ, उसके पास जरूर, लेकिन कहीं कोई परम्परा नहीं मिलती हम लोगों को। कभी हम लोग जब ऍम०ए० में थे, १९५० में, तो एक दो ग्रध्याय हमारे कोर्स में निर्धारित थे, तव नाट्यशास्त्र का पहला दर्शन किया था १९५० में। दो ग्रध्याय थे, मुझे याद है, एक तो भाषा सम्बन्धी ग्रध्याय, जिसमें कौन पात्र क्या भाषा बोलेगा, किसी संस्करण में यह काव्य के साथ जुड़ा हुग्रा है, किसी में ग्रलग है, वह काशी संस्करण में ग्रलग है। जहाँ तक मुझे याद है, वह ग्रध्याय ग्रौर एक रस वाला ग्रध्याय ऐसे एक-दो ग्रध्याय होते थे, जैसे-तैसे पढ़ा दिये जाते थे, लेकिन नाट्यशास्त्र को समग्रता से देखना ये ग्राज २५ साल में भी मैं नहीं कह सकती कि मैंने समग्रता से देखा। जिस-जिस अंश की जरूरत पड़ी उसे मैंने देखा, जब जिसकी जरूरत पड़ी। इतनी हिम्मत कभी भी नहीं की कि समग्र को देखूँ, सचमुच कह रही हूँ। यह बिल्कुल स्पष्ट बात है हालाँकि मैं तीस वर्ष से पढ़ा तो रही हूँ। एक अंश पढ़ाया तो लगा कि यह भी जरूरी है। यदि ३१ वाँ ग्रध्याय पढ़ाने लगे तो लौट के चौथे-पाँचवें में ग्राना पड़ा। यदि इधर से पढ़ो, तो उसको जोड़ना पड़ता है, उधर से पढ़ो तो इधर जोड़ना पड़ता है, यह दशा है हम लोगों की इस समय।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अब सम्प्रदाय क्योंकि टूट चुका है इसलिए बहुत सी कड़ियाँ जो कि मौखिक परम्परा में नहीं थीं, जैसे कि हम शास्त्र में कह देते हैं 'इति केचित्' नाट्य-शास्त्र में उतना तो नहीं है, लेकिन अन्य शास्त्रों में अब गुरु बताता है कि 'इति केचित्' का मतलब क्या है। यह अमुक को कह रहा है या अमुक को कह रहा है कि 'केचित्' का मतलब यह है, यह है, वही तो बताता है। हम लोग गुरुओं से पढ़े है, इसलिए ये सब कुछ जानते हैं कि यह बताना तो गुरु, का काम है। उन्हीं से जान लेते थे, 'केचित्' का या 'इत्यन्ये' का मतलब क्या है। तो अब ये सवाल लिखे हुए तो नहीं रहते कि सारी 'बिब्लियोग्राफ़ी' (सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची) दी हो कि उससे जान लें। यह सब मौखिक परम्परा या आचार्य का काम था। वह करता था, जो सम्प्रदाय इसका विच्छिन्न हो गया है तो केवल शास्त्र जो है, वह आधा है, पूरी विद्या का आधा समझ लीजिए और सम्प्रदाय आधा है। सम्प्रदाय नहीं है, तो आधे को लेकर और वह भी आधी बुद्धि से, आधी समझ से, चाहे एक चौथाई समझ से जब हम लोग शुरू करने चले हैं तो यह स्थिति है। हम लोग भी कितने असहाय, कितनी पंगु स्थिति में हैं, यह तो हम सभी समझते हैं। जितना जिसने ज्यादा नाट्य-शास्त्र में सर खपाया होगा, उतना ही ज्यादा उसका अनुभव होगा। और अब सवाल यह है, आपने श्रीनिवास अय्यर का नाम लिया मैंने भी उस पुस्तक को देखा है और एक घण्टा मैंने बहुत ध्यान से देखा, उसके बाद तो मेरी हिम्मत नहीं हुई कि और आगे मैं बढ़ूँ, लेकिन मैं उसके मर्म को समझ तो गयी, तो एक सवाल मेरे भीतर यह है, व्यक्ति विशेष की बात नहीं है, लेकिन यह पद्धति की बात है। व्यक्ति से मुझे किसी प्रकार का राग-द्वेष नहीं है, कोई सवाल ही नहीं है, लेकिन यह जो एक पद्धति है समीक्षा की, कहा जाता है कि बड़ा वैज्ञानिक ढंग इन्होंने अपनाया है, लेकिन वह पुस्तक आपके शास्त्रों के लिए कारगर है या नहीं ये सवाल बड़े ही उत्कट रूप से मेरे चित्त में उठा और एक घण्टे के भीतर ही इतना मन्थन मेरे भीतर हुआ उसका कि मुझे लगा कि मैं अभी शायद एक-दो दिन के भीतर इस पर कुछ लिखूं। यहाँ तक लगा, फिर मैंने लिखा नहीं, क्योंकि चिरकाली होना अच्छा है। तुरन्त कुछ नहीं करना चाहिए। तुरन्त कुछ लिखा देना यह बात तो अलग है। लिखा तो नहीं लेकिन मन्थन भीतर बहुत हुआ कि सचमुच मान लिया कि हमने इतना विश्लेषण कर दिया, इतना परिश्रम कर लिया, अब हम एक निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, लेकिन उससे हमें उस शास्त्र को समझने में कितनी मदद मिलती है, मेरा तो यह कहना है। काम ऐसा किया जाय, परिश्रम ऐसा किया जाय, जिससे उस ग्रन्थ को, एक आन्तरिक सम्बन्ध को या उसकी संरचना के मूल सिद्धांत को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समझने में मदद मिलती हो। तो अवश्य अधिकाधिक परिश्रम किया जाय, लेकिन मुझे लगा कि इस प्रकार का परिश्रम जो है वो हमें कहीं पहुँचाने वाला नहीं है। यानी हमें कहीं कोई रास्ता नहीं दिखाएगा। व्यक्ति की बात कही गयी है, पर मैं पद्धति की बात कह रही हूँ। यह केवल एक उदाहरण की बात है और कुछ नहीं, एक उदाहरण की तरह। तभी मैं आपसे भी बात कर रही हूँ कि आपने तो देखा है, आपने कहा कि हाँ, देखा है। आप मुझसे पहले देख चुके हैं, तो मैंने कहा कि आपको कैसा लगा शायद मैं ही गलत हूँ। मुझे लगा कि मैं शायद बहुत 'प्रिमिटिव' (आदिम) हूँ और बहुत ही बेवकूफ़ हूँ, मुझे ऐसी बातें कम समझ में आती है और मुझे लगता है कि इनका क्या करूँ। तब रामनाथन् को दिया मैंने कि तुम देखकर बताओ, मुझे तो कुछ ऐसा लगता है। परम्परा कोई दुराग्रह नहीं है, लेकिन जिस परम्परा की कोई चीज़ है, उसको उसी परम्परा के अनुसार समझें या एक भिन्न परम्परा आरोपित करके उसको समझें ?

श्रोताओं में से कोई—बहिनजी यह उसका अधिकार है।

आगे जारी रखते हुए डॉ० शर्मा—उस सम्बन्ध में यह भी हो सकता है, तो यह एक बड़ा मूलभूत सवाल है, क्योंकि इसको हम सबको अपने-अपने लिए हल करना पड़ेगा। मैं अपने लिए यह समझती हूँ कि यह पद्धति मैं नहीं लेने वाली हूँ। मैं तो उस पद्धति से काम करने वाली हूँ, मुझे कौन रोक सकता है। न उनको कोई रोक सकता है और न मुझे कोई रोक सकता है। तो यह जो नाट्य-शास्त्र पर काम होगा, लोग मिलकर करेंगे। या जैसे भी करेंगे तो यह हमें बहुत स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि हम किस पद्धति से करेंगे। मूलभूत जिस परम्परा में से है, उसके आधार पर पहले करेंगे, बाद में और चीज़ों को देखेंगे या और चीज़ों को आप यथास्थान 'नोटिस' (ध्यान) दे सकते हैं कि ऐसा भी लोगों ने किया है, लेकिन हम उस पर कुछ न कहें, यह भी हो सकता है। लेकिन हम अपने लिए एक पद्धति अवश्य निर्धारित करें, जो हमसे सधेगी और हमें लगे कि इस काम के लिए कारगर होगी और जो परम्परा के अनुरूप हो, जिस परम्परा में से यह नाट्यशास्त्र जैसा शास्त्र पनपा है, यह मूलभूत सवाल है। यह तो सब है ही और इससे तो निबटा जायेगा, यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। कोई न कोई रास्ता उसमें से निकल आयेगा, लेकिन है वह भी जंगल बड़ा भारी, तो जंगल में से काट-काट कर पगडण्डी बन सकती है। यदि हमने काटने की पद्धति तय कर ली है और वह हम लोगों को ज़रूर तय करनी है और बड़े दृढ़ रूप से तय करनी है, बीच-बीच में बात हम लोगों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की थोड़ी-बहुत होती रहती है। तो मुझे नहीं लगता कि हम लोग स्वयं अभी बहुत स्पष्ट हो सके हैं उसमें भी। वह हमें अधिकाधिक स्पष्ट होना चाहिए और एक निर्धारण होना चाहिए हमारे पास कि हम किस पद्धति से इसमें काम करेंगे और भिन्न पद्धतियों में जो भी काम हुआ है उसका हम बाद में 'नोटिस' ले सकते हैं। जो भी हो, उसकी समीक्षा चाहे तो कर सकते हैं, यदि जरूरत समझें, अन्यथा उसकी भी कोई जरूरत नहीं है। नोटिस अवश्य ले सकते हैं, यह तो हमारी जिम्मेदारी है जरूर।

और शेष समस्याओं की ओर जो आपने ध्यान दिलाया, अब इतना समय नहीं था, नहीं तो पाठ-समीक्षा के कई उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते थे, आप कर सकते थे, बिल्कुल आपके पास तैयार है, पर वो ठीक है, उसका समय नहीं है। शायद उसका अवसर भी नहीं है, परन्तु यह संगोष्ठी जो है, इसमें पाठ-संशोधन पर कुछ बात जरूर होनी थी। अच्छा हुआ कि नाट्य-शास्त्र पर हो गई, क्योंकि वह संगीत के लिए, सभी कलाओं के लिए आकर ग्रन्थ है। कल प्रातःकाल भी पाठ संशोधन की एक और बात होगी, जो आज की 'ओरल ट्रॅडीशन' (मौखिक परम्परा) से बिल्कुल सीधे सम्बद्ध है। ये हमारी बहिन, डॉ० नलिनी, ये जो काम कर रही हैं तानसेन के पदों पर, तो तानसेन के पद आज 'ओरल ट्रॅडीशन' में कैसे मिलते हैं। कभी कल्पना नहीं की थी कि इतने अधिक पाठ एक-एक पद के मिलेंगे, यानी तानसेन की छाप से एक-एक पद के दस-दस प्रकार के पाठ मिलते हैं। कोई किसी संग्रह में है, कोई किसी संग्रह में है। अब इनके सामने भी यही सवाल है कि किस प्रकार के संग्रहों को क्या प्रवेश दिया जाय, यह सबसे पहला सवाल होता है, किसी भी अनुसन्धानकर्त्ता के सामने। तो उसकी जो समस्यायें, उस प्रकार के पाठ-संशोधन की, उस पर तो कल सुबह कहेंगी। हम चाहते तो थे कि दोनों पाठ-संशोधन एक साथ रख दें, पर कोई बात नहीं, इस समय एक पाठसंशोधन की बात हुई, कल सुबह दूसरे प्रकार की, जो आज के, हमारे बिल्कुल इस समय के लक्ष्य से जुड़ा हुआ है। आज भी जानते हैं कि पद तो लोग गाते हैं, थोड़े-बहुत तो गाते ही हैं, जितने लिखित रूप में मिलते हैं उतने तो नहीं गाते। उसका दसवाँ हिस्सा भी नहीं गाते, यह बात बिल्कुल साफ़ हो गयी। यह आज बिल्कुल स्पष्ट है, दो-चार मुश्किल से याद होंगे। किसी को दस होंगे, तो बहुत ज्यादा हैं, लेकिन फिर भी तानसेन और भारतीय संगीत, एक प्रकार से कहना चाहिए कि एक दूसरे के पर्याय हो गये हैं। जो कुछ भी न जानता हो, भाग्य से, तानसेन का नाम जरूर जानता है। वह गाँव का आदमी भी जानता है, और राजमहल का आदमी भी जानता है। इस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकार का एक नाम तानसेन का है। उनके नाम से जो भी पद प्रचलित हैं आज, चाहे लिखित रूप में मिलते हों, चाहे मौखिक रूप में मिलते हों, उनका पाठसंशोधन या उनकी समस्याओं से कैसे निपटा जाय, इस पर थोड़ी बात कल करेंगे। भाई कमलेशजी को बहुत-बहुत धन्यवाद, आप सबको धन्यवाद !

□□

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Problems & Prospects of Critical Studies of Lyrical Texts*

☐ Dr. Francoise Delvoye, 'Nalini'

A. Introduction and Definitions

A. 1. The aim of the present paper is to highlight the various interests of lyrical texts (गेय पद, *gey pad*) meant to be sung in the Dhrupad form of vocal music and which are themselves called *dhrupad*-s.[1]

They form a vast corpus which developed paralled to the *Bhakta-kavi* or 'Saint-poets' tradition in *Braj-bhāṣā*. Till recently for different reasons. they have not been well-researched.[2]

For long, they were not very 'appealing' to the scholars of literature, for whom these belonged to the 'field of music' and were not valuable as poetry, may be because, first of all, most of them were not metrical.

At the same time, vocalists seem to have never really cared for the texts which they sung, which is even more true in the present day.

And till recently, scholars of music were not much interested in song-texts, as most of them were available without notation and thence, felt as of 'no use for the study of music'.

A. 2. Historically, the Dhrupad form of music became famous from the time of Rājā Mān Singh Tomar of Gwalior, who reigned from 1486 to 1516 and who is often called the 'inventor' of Dhrupad.[3] If not the 'inventor', indeed, Rājā

---

* In this paper Saṃskrt, Hindı and Urdu words are given in italics and the titles of books, texts and manuscripts other than in English have been given in roman letters with diacritical marks in single inverted commas.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Mān Singh composed himself, or had composed, lyrical texts in vernacular languages, apparently based on some of the *sālagasūḍa* type of *prabandha*-s, later on known as *dhruvapada*, *dhrupada* or modern *dhrupad*.[4]

Rājā Mān Singh's learned patronage marked the starting of a lasting tradition of Hindu and Muslim rulers who appreciated the Dhrupad form of music and encouraged the composition and collection of this particular type of lyrical texts.[5]

Parallel to the royal court patronage, the Vaishnava temple tradition of singing *dhrupad* texts, which is still alive, has been an important factor of transmission of song-texts, through both oral and written traditions.[6]

From the 18th century onwards, the Khyāl form of vocal music became more fashionable in royal circles and superseded Dhrupad, although Dhrupad continued to be patronised by the aristocracy.[7]

In the 20th century, this less popular but still respected genre of vocal music, is undergoing a 'revival' since the 70s, because of the interest and initiative of some scholars and individuals, generally backed by cultural institutions or trusts, who organised various Dhrupad programmes and festivals.[8]

But today, the literary value of *dhrupad* texts is seldom appreciated by the performers as well as the listeners and that factor largely contributes to the impoverishing of the textual aspect of this musical tradition.

A. 3. Some accounts of Dhrupad from original Persian sources.[9]

As Dhrupad was the most fashionable style of singing in the 16th and 17th centuries, a few contemporary Persian texts do mention '*dhurpad*', its form and its popularity and give some biographical accounts of its most famous exponents.

I will briefly refer to the main Persian texts of the 16th and 17th centuries mentioning Dhrupad :

1. The most famous account is may be by Abū'l Fazl in the third volume of 'Ā'īn-i-Akbarī',[10] dated about 1596-1597

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

which mentioned '*Dhurpad*', introduced by Rājā Mān Singh and his musicians, as a "popular style of melody which was approved even by the most refined taste" and which later "came into universal favour". Abū'l Fazl wrote later "The *Dhurpad* consists of four rhythmic lines without any definite prosodical length of words or syllables. It treats of the fascination of love and its wondrous effects upon the heart."

2. In the 'Tūzuk-i-Jahāngīrī' or 'Memoirs of Jahāngīr' (1605-1624), *Durpat* is mentioned in connexion with Ibrāhīm Ādil Shāh II of Bījapur (reign 1580-1627) and indirectly with Tānsen.[11]

3. In the 'Mīrāt-i-Sikandarī'[12] by Sikander bin Muhammed Manjhū (dated circa 1613), Dhrupad is mentioned in relation with Nāyak Baijū and other contemporary musicians.

4. The 'Pādshāhnāmah'[13] (History of Shāh Jahān's reign) of Abd'ul Hamid Lāhaurī (1629-1650) gives an interesting account of the origin of Dhrupad, as, "to a large extent, the creation of Nāyak Bakhshū, the protégé of Rājā Mān Tomar", with valuable informations on Bakhshū's voice and performing style; then follows an account of Tānsen and his descendant, Lāl Khān Kalāvant.

5. The Persian Preface of 'Sahasras',[14] the collection of thousand *dhrupad* texts ascribed to Nāyak Bakhśū, compiled under the orders of Shāh Jahān and dated c. 1650, also gives interesting details on the Nāyak's *dhrupad* texts and on vocal music of that period.

6. It is followed by 'Rāg Darpan'[15] a Persian adaptation of the lost text ascribed to Rājā Mān Singh, 'Mānakutūhala', by Faqīrullah, governor of Kashmir during Aurangzeb's time and dated 1665–1666. On Dhrupad Faqīrullah said, in Shahab Sarmadee's English translation:[16] "it is an imaginative creation of Raja Man of Gwaliyar consisting of four *misra*-s and exploiting any of the nine Ras-s. The said *raja* imparted a poplular base to this type of classical singing. Very soon it came to be cherished by the elite and the populace alike. His co-ordinators have been the Nayak-s: Bakhshu, Mahmud,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Karan and Lohank." These comments are followed by the reasons of the popularity of Dhrupad and some data on the musicians of Rājā Mān and Akbar's courts.

7. Another interesting account of Dhrupad is found in a Persian text by Mīrzā Khān, 'Tuhfat-ul Hind,'[17] 'A Present from India', completed before 1675–1676. In chapter V, he wrote about Dhrupad, in Shahab Sarmadee's translation[18] "it is a composition not in verse but rhymed; it is constituted of four '*tuk*-s'; each *tuk* is termed differently in this way: first, *asthai*; second, *antarā*; the last two are termed as *bhog*, commonly called *abhog* and also *ahog*. Dhrupad is mostly sung in *Bhākhā* (i. e. *Braj-bhāsā*); it is said to have been designed by Rājā mān Gwāliyarī, but God knows better..." Then follows a list of the four better practised varieties of Dhrupad: *Tewat*, *Phul Band*h, *Jugal Bandh* and *Rāg Sāgar*.

8. The last example I will give here, of the later half of the 17th century, is another *tarjumah* or 'translation-cum-interpretation' of Rāj mān Singh's 'Māna-kutūhala' by an unknown writer, under the name 'M'arifat' ul-Arwāh'[19] lit. 'the true knowledge of the true spirit'. In Shahab Sarmadee's translation, iṭ is written about Dhrupad : "a child of the creative genius of Rāj Mān Gwāliyarī; composed of four lines and based on all the nine *rasa*-s. In this he was assisted by the *Nāyaka*-s of his court. It proved to be a wonder of the time, according to the author. The season for it being that the taste of the common man as well as the elite was successfully catered to..." Later he wrote: "ever since Dhrupad came to be recognised, *Marag* lost its foothold.'' This text gives interesting accounts of the *Nāyaka*-s of Rājā Mān Singh's court and the vocalists of Akbar's court.

A. 4. Accounts of Dhrupad in Sanskrit texts.

I purposely mentioned some Persian accounts of Dhrupad before any Sanskrit source because, unexpectedly, no specific mention or definition of Dhrupad is available before the end of the 17th century, in Sanskrit treatises on music, with the

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

exception of one line on *dhruvapada* in 'Saṅgīta Pārijāta' of Paṇḍit Ahobala, dated c. 1665.[20]

Though a late mediaeval writer on music, Bhāvabhaṭṭa who was patronised by Rājā Anūp Singh of Bikaner (reign 1674 to 1709) seems to be the first to give a definition (*lakṣaṇa*) of *dhruvapada* which has been quoted in most accounts of this form.[21]

The *laksaṇa* is given in the *Svarādhyāya* of Bhāvabhaṭṭa's 'Anūpa Saṅgīta Ratnākara'.[22] This definition is particularly relevant to the present paper, limited to the textual aspects of Dhrupad and I will take the liberty to quote the translation-cum-interpretation of Prem Lata Sharma:[23]

"[Dhruvapada is a traditional musical form consisting of composition and improvisation] adorned by literary texts composed in Sanskrit or the language of the Middle Country.

It has two or four 'sentences' (i. e. linguistic-cum-melodic units).

It is based on the 'affairs' of men and women.

It is decorated with *śṛṅgāra rasa* and its *bhāva* (i. e. it is erotic in its aesthetic suggestion),

It contains *rāga-ālāpa* (i. e. improvisation delineating the *rāga*, independent of the composed piece) and *pada* (i. e. melodic phrase in *ālāpa*, which is rendered with a non-sensical syllabic unit).

It has *anuprāsa* (rhyme) or *yamaka* (repetition of words giving a different meaning each time) at the end of each foot.

[When] it is composed in four feet like this, known as *udgrāha*, *dhruva* and *ābhoga* (the last one being split into two sections), it is *uttama* (high class) dhruvapada."

Prem Lata Sharma has rightly analysed the six different aspects of Dhrupad taken up in Bhāvabhaṭṭa's definition; she implies: the linguistic aspect; the linguistic-cum-melodic structure; the thought-content; the aesthetic aspect; the improvisational aspect, the melodic-cum-literary structure.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

A second definition of *dhruvapada* from Bhāvabhaṭṭa's 'Saṅgīta Anūpāṅkuśa' is given in Ādināth Upadhyāya's interesting account of Bhāvabhaṭṭa's works in their connexion to Dhrupad.[24]

It is striking to notice that definitions and accounts of Dhrupad from original sources are mostly dealing with the form and aesthetic content of *dhrupad* texts and rarely mention the style of rendering.

B. Description of dhrupad texts as available today.[25]

B. 1. *Dhrupad* texts are generally of four lines, respectively called *sthāyi*, *antarā*, *sañcāri* and *ābhoga* (corresponding to the four sections of the musical pattern of Dhrupad divided by tonal structure.)[26]

Each line has a variable number of syllables and generally has no metrical structure, as such, *dhrupad* song-texts belong to the *viṣama-chanda* (irregular) category of prosody.

The length of the four feet is generally uneqal, either counted by syllables (*akṣara*)or measured by time-units (*mātrā*), and the problem of the fitting of the words into the rhythmic cycle is a matter for the musical study, and will not be taken up here.[27]

The four lines have a final rhyme of one or more syllables and often the fourth line includes the name of the composer and/or his patron, in the *chāp* and *bhaṇitā*, as it is found in 'Saṅgīta Ratnākara' in the description of the *ela-prabandha*.[28]

B. 2. The language, which Bhāvabhaṭṭa called *madhyadeśiya*, is generally known as *Braj-bhāṣā* in its many regional and stylistic varieties, with vocabulary borrowed from Persian.[29] There is also one example in *Dakkhini Hindi*,[30] but, so far we know, no *dhrupad* text in Sanskrit has been found, besides the mention of it by Bhāvabhaṭṭa.[31]

B. 3. The literary value of *dhrupad* texts studied out of their musical setting, is one of the striking feature of the rather recent scholarly studies in this category of lyrical texts.[32]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

B. 4. The thematic content of Dhrupad is much more varied than it is generally believed, Most recent accounts of Dhrupad do mention its 'exclusive' concern with religious subjects or praise to kings and patrons. or any 'serious' topic, actually, besides these subjects, *dhrupad* song-texts deal with a wide variety of other topics like *nāyaka-nāyikā-bheda*, the description of nature and seasons, philosophical views of life and similar topics, which are roughly the same as those treated by *Braj-bhāṣā* court-poets of the same period.[33] But one particular subject dealt with in *dhrupad* compositions seems to be specific to the lyrical texts of this type, many *dhrupad* texts are connected, directly or indirectly, to music and dance, which should attract the interest of scholars of music.

Good examples of the thematic range of *dhrupad* texts can be seen in Ācārya Bṛhaspati's important work in Hindī, 'Dhruvapada aur uskā vikās' with many illustrations taken from a manuscript of the first half of the 19th century, based on oral tradition and known as the 'Rāmpur Rāgamālā'.[34] Indurama Srivastava in her book Dhrupada, a study of its origin, historical development, structure and present state, also gives examples with English translations (mostly from secondary sources), out of a sample of forty *pad*-s ascribed to six known composers and some without *chāp*, the thematic variety is as such, sixteen *pad*-s deal with religious topics, three with praise of kings, eight with *nāyaka-nāyikā-bheda*, seven on various aspects of music, three are descriptions of nature; one deals with *tantra* and two with metaphysical subjects.[35]

C. Sources of material for the study of Dhrupad song-texts.[36]

C. 1. While collecting *dhrupad* texts ascribed to Tānsen, I have identified various sources (more than sixty) of *dhrupad* song-texts which I will briefly describe.

My approach started with secondary works because of the lack of informations on original sources. Later on, crossed-informations from scholars of music and extensive reading led me finally to manuscript sources.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Most of the *dhrupad* compositions found in written form (manuscript or published) are basically from oral sources, which are rarely specifically mentioned and which, to a large extent, explains the 'distortion' occuring in later sources.

C. 2. The earliest sources of *dhrupad* song-texts are *padāvali*-s or *pad-sangrah*-s, collectins of lyrical texts, generally vaishnava (sectarian and non-sectarian), of the 16th and 17th centuries; their manuscripts are available in some libraries like Anup Sanskrit Library of Bikaner, City Palace Library of Jaipur and Brindaban Reaserch Institute Library of Brindaban. The oldest collections look more like musical repertoires than literary anthologies.[37]

Some isolated *dhrupad* song-texts are found in such *padāvali*-s, including poems of many devotional poets, without any apparent order of authors, subjects or whatsoever. They generally mention the *rāg* in which the song is set. But the percentage of *dhrupad* compositions scattered in such metrical lyrical texts is extremely small.[38]

The topic of most of the *dhrupad* texts found in earliest manuscript sources, is devotional and more specifically inspired by the *Kṛṣṇa-līlā.*

This type of collection of *pad*-s in a manuscript form—some of which have been edited and published—is still in use as a repertoire of devotional songs for the cult (*sevā and bhog*) in vaishnava temples, most particularly of the *vallabha sampradāy* and the Radhā vallabha sect. The *Havelī Sañgit*, or musical tradition of the vallabhite temples of *Braj Bhūmi,* Rajasthan and Gujarat, is one of the most conservative source of lyrical texts because of the importance attached to the words in the purely religious context. The style of singing of these songs is described as 'Dhrupad' by the exponents of the temple tradition themselves, though it is a rather controversial statement, which cannot be discussed within the scope of the present paper. For further reading on the musical tradition of *Havelī Sañgit*, I will refer to the books of Campaklāl Chabildās Nāyak, who is both a temple singer and a scholar of music of the Pandit Bhatkhande Sohool.[39]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

As an example, I will mention the earliest *dhrupad* text bearing the name of Tānsen which I found so far. It is in a manuscript collection dated 1582, i. e. contemporary to Tānsen, and called 'Padasūradāsajīka'. It contains four hundred eleven *pad*-s including two hundred sixty two ascribed to Sūrdās and hundred forty nine by other poets (mostly devotional). This manuscript, known as the Fatehpur manuscript, is preserved in the reserved collection of Maharja Sawai Man Singh II Museum, Jaipur, it has been edited by Gopal Narayan Bahura and published by the same museum in 1982.[40]

C. 3. I will proceed now with a brief description of ancient sources of *dhrupad* texts in a tentatively chronological order (as many manascripts are not dated or cannot be dated, because of the lack of specialised laboratories and the rules of some libraries).

(a) 'Kitāb-i-Nauras' (composed between 1596 and 1624) as per Shahab Sarmadee's estimation is a single example of a *rāg*-wise collection of fifty nine *dhrupad* song-texts by one single composer, Sultān Ibrāhim Ādil Shāh II of Bijapur (who reigned from 1580 to 1627); tho manuscripts of 'Kitāb-i-Nauras' are still extant and have been critically edited and published by Nazir Ahmad,[41] with an informative introduction about the Sultān and his work, which should encourage a further research from various points of interest. Despite the knowledge which Jahāngir had of Sultān Ibrāhim Ādil Shāh II's compositions—as he expressed in his Memoirs [42]-so far I know, not a single of his *dhrupad* texts has been found in any written collection nor in the living oral tradition in Norh India,

(b) Then the first example of a collection of *dhrupad* texts made under royal patronage, seems to be the 'Sahasras' a *rāg*-wise compilation of one thousand four *dhrupad* texts ascribed to Nāyak Bakhśū. Shāhjahān developed a great liking for the *dhrupad* texts of Nāyak Bakhśū and ordered a compilation to be made from living musicians of all compositions ascribed to him, with an obvious care for their

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

authenticity which is expressed in the Persion Preface introducing 'Sahasras'. This extremely valuable work has been critically edited and published from two manuscripts, with all informative introduction by Prem Lata Sharma[43] and deserves a further research work, specially from the point of view of music and dance.

(c) Thc next important source of *dhrupad* texts belongs to another category; these are the *dhrupad* songs given as illustrations in musical theoretical texts. The first example seems to be the works of Bhāvabhaṭṭa, who has already been mentioned for his definitions of *dhruvapada*. Hundreds of song-texts from 'Anūpa Saṅgīta Ratnākara' and 'Anūpa Saṅgīta vilāsa' constitute the earliest 'anthology' of *dhrupad* texts collected from contemporary oral court tradition. Some Sanskrit sections of Bhāvabhaṭṭa's works have been edited[44] but without the *dhrupad* texts considered as 'useless for the study of music', as they are without notation. So these texts of the late 17th century, are found only in the undated manuscripts of Anupa Sanskrit Library of Bikaner and the City Palace Library of Jaipur (which has the only dated copy of 'Anūpa Saṅgīta vilāsa', of 1696). Details can be found in Ādināth Upadhyāya's paper which has already been mentioned.[45] This valuable manuscript source reveals some of the main problems of research work on *dhrupad* texts, i. e. the non-accessibility of texts extant in manuscript form only; the deciphering of lyrical texts, the identification of authors and also the less number of *dhrupad* texts found in earliest sources, compared to later compilations.

(d) Then there is a big gap, apparently without any dated collections, till the undated 'Rāmpur Rāgamalā' manuscript. (preserved in the library of the Sangit Natak Akademi, Lucknow) which must be around hundred fifty years old (as per Prem Lata Sharma's estimation).[46] It is a valuable *rāg*-wise musical repertoire made by musicians themselves. Most *dhrupad* texts illustrating Ācārya Bṛhaspati's work on Dhrupad are quoted from this anthology, the source of which is also oral, but from a family musical tradition.[47]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(e) The compilation of 'saṅgīta Rāgakalpadruma' by Krishnānand Vyās, some rare lithographic copies of which, dated 1842, are still available,[48] is also a huge collection of thousands of song-texts (not only *dhrupad*) made under royal patranage, from living musicians but without notation.[49] Unfortunately its text had been published in 1914-1916 without critical edition, in a rather distorted form, on which, the scholars of literature and music interested in *dhrupad* texts, mainly based their works published after 1950.[50]

(f) Another text, by an unknown writer, called 'Saṅgīta Sāgara', is preserved in a manuscript form in Mukund Lath's private library in Jaipur. It belongs to the category of musical treatises with song-texts illustrations (also from oral tradition, बुज़ुर्गों से '*buzurgon se,*'); the manuscript is not dated but mentions the date of 1872 as what seems to be the date of writing.

C. 4. Then, in the end of the 19th century and early 20th century, quite a few collections of *dhrupad* texts (mostly from oral sources) have been published with and without notation. They come under various categories :

(a) as illustration of musical theory in various vernacular langauges, like 'Gīta Sūtra Sāra' (Bengalī-Hindī,) 'Nāda Vinoda Grantha' (Hindī), 'Saṅgīta Kalādhara' (Gujarātī) and 'Saṅgīta Candrikā' (Bengalī).[51]

(b) as musical repertoires, like 'Anekasaṅgraha' (Hindī),[52] sometimes to 'save the song-texts from oblivion', like a few Bengali collections with notation, in which the song-texts are in '*Braj-bhāṣā*', but in Bengali script : 'Saṅgīta Mañjarī', and 'Gīta Bādya Sāra Saṅgraha',[53] and

(c) as text-books, with notation, like Pandit Bhatkhande's 'Kramika Pustaka Mālikā' compilation, Rājā Nawāb Alī Khān's 'M'ar'if-un-Naghmāt', and paṇḍit Omkarnāth Ṭhakur's 'Saṅgītāñjalī'.[54]

(d) the printed editions of 'Saṅgīta Rāgakalpadruma' have already been mentioned.[55]

C. 5. After 1950, non-critical and more scholarly books have been published, with a stress on the textual aspect of

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

dhrupad songs. I will refer to the very interesting analysis made by Subhadra Chaudhary of the major publications in Hindī on the subject, in her paper published in the 'Dhrupad Annual', 1986.[56]

The latest publication giving a collection of *dhrupad* song-texts is Hariharnivās Dwivedī's book in Hindī on Tānsen,[57] which contains a biographical reconstruction based on available *pad*-s, either bearing the name of Tānsen, Akbar, Rājā Rām, or sometimes without name, from different sources, without discriminating primary and secondary works.

I will again mention the temple musical tradition as a rich source of *dhrupad* texts in written and oral forms.[58]

C. 6. The living oral tradition.[59]

My experience while collecting *dhrupad* song-texts ascribed to Tānsen from musicians, has been rather disappointing; though everybody owes allegiance to Tānsen, most musicians I came across, seemed to have very few compositions of Tānsen in their repertoire (still performed or only memorised).

Most musicians are not willing to give the textual parts, for various reasous : 'family-repertoires' of song-texts (orally preserved or occasionally written) are considered as 'very valuable' as an 'old treasure built up with lots of efforts', and, as such, they are kept 'secret' as a precious heritage to be transmitted to disciples only, and even then, in a restricted form.

Other musicians would even give *dhrupad* texts from printed sources (secondary), as belonging to their tradition ! But it seems that the main reason of the difficulty in getting *dhrupad* songs is the careless attitude of the musicians towards texts, which naturally become distorted and incomplete. There are some exceptions of elder musicians who seem more 'generous'; for obvious reasons, I will not give names of any musician of the various categories.

Obviously, the systematic recording of most Drupad concerts and festivals, makes the listener or scholar able to

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

acquire the compositions;[60] but nowadays, *dhrupad* texts are rarely sung in full and generally the *chāp* does not occur in the rendering and the identification of the author is impossible.

D. Identification of the post-composers

D. 1. *Vāggeyakāra*-s or 'Poet-composers'.

After examining the sources of *dhrupad* texts, one interesting and revealing problem which has not yet been scholarly raised by most writers on the subject, is the identification of their authors, i.e. the 'poet-composers'.

Dhrupad texts used to be 'composed' by *Vāggeyakāra*-s[61] who were poet-composers and eventually performers; thus the songs were composed in some specific aesthetic unit in which the text, the melody and the rhythm were fixed in relation to each other.

In the context of court-singers, *dhrupad*-s were mostly composed to please a patron, generally connoisseur of the art of music: in the context of temple-singers, songs were meant to propitiate a deity. Thus, poet-composers were the best judges in creating poetico-musical works pleasant to their audience and principally their protector, though not necessarily expressing their own feelings.

I already mentioned that the last line of *dhrupad* song-texts generally includes the name of the poet-composer, in the *chāp or bhaṇitā.*[62] The most famous among them are Nāyak Gopāl I and II, Nāyak Bakhśū, Baijū Bāwarā, Swāmī Haridās Tānsen, Jagannāth Kavirāy, Dhondhī, etc. Many other *dhrupad* composers are mentioned by Ācārya Bṛhaspati in his important work on Dhrupad.[63]

Many similar compositions are found with different *chāp*-s. I will quote a typical example of a *dhrupad* text sung today in the Darbhangā tradition, in *rāg Toḍī* :[64]

मेरे तो अलह नाम कौ अधार, जिन रच्यौ संसार, काम क्रोद्ध लोभ तज्यौ सब जंजार।

Mere to alah nāma kau adhāra, jina racyau saṁsāra, kāma krodha lobha tajyau saba janjāra

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

It is sung with the *chāp* of Bilās (i, e. B/Vilās Khān) but it is considered as Tānsen's composition by Paṇḍit Rām Catur Mallik (a); it was sung with the name of Tānsen, by Paṇḍit Abhaynārāyan Mallik (Paṇḍit Rām Catur Mallik's disciple) and his students from Khairagarh University, at the Tānsen Festival, Gwalior 1985 (b); it is found in *rāg Bhairav*, with Tānsen's name, praising Allah, in the 'Rāmpur Rāgamālā' (c); in *rāg Toḍi*, with Tānsen's name, praising Hari, in 'Rāgakalpadruma (d); in *rāgiṇī Toḍi* without *chāp*, praising Allah, in 'Marifun-Naghamāt' (e); and 'Kramik Pustak Malikā' (f); in the same *rāg*, with Vilās's name, praising Hari, in prabhu Dayāl Mītal's book on Tānsen (g) and with Baijū's name, praising Krishṇa, in the same writer's book on Baijū. (h)

The change of *chāp* occurs along with interesting and significant changes of vocabulary of Sanskrit and Arabo-persian origin.[65]

This *dhrupad* text is a perfect exmple of the amalgamation of Hindu and muslim cultures: as an example from both oral and written sources, it also shows one of the problems of editing song-texts transmitted by oral tradition.

The multiplicity of *chāp* for a similar composition from different recensions, increases the problem of authorship and gives the hint that many others may also be the results of similar changes, due to various reasons; respectable and fashionble names could have been inserted in place of later obscure poets: in the temple-repertoires, some *dhrupad* texts found in the court-tradition, bear the name of some more 'Vaiahnava' poets like the *dhrupad* ascribed to Tānsen in *rāg Bhairav*:

सघन वन छायो द्रुम बेली माधो भवन श्रत प्रकास, बरन-बरन पुष्प रंग लायो ।

Saghana bana chāyo druma beli mādho bhavana ata prakāsa, barana barana puṣpa raṅga lāyo

is found with the *chāp* of Sughararāya in the Vallabha tradition.[66] *Haveli Saṅgit* exponents do believe that the Dhrupad musical tradition started in temples and was then

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

borrowed by court-singers along with the song-texts whioh they renamed after famous musicians. But some compositions bearing the name of court-singers like Tānsen, are still used in the Vallabhite cult.[67]

D. 2. Patrons of Dhrupad.

The name of the patron(s) of the poet may also be mentioned; it may come in the *chāp,* instead of the 'composer''s name, but can also be addressed or referred to, in any line of the *dhrupad* text.

In his examples of *dhrupad* song-texts bearing the names of patrons, Ācārya Bṛhaspati has indiscriminately collected compositions with the patrons' name in all the three positions I mentioned above, which appears rather confusing.[68]

Many examples of *dhrupad* texts ascribed to Tānsen do mention the name of Rājā Rām (i.e. Rājā Rāmacandra Baghelā)[69] who was Tānsen's patron for a few years before he joined Akbar's court (in 1562, as per Abu'l Fazl and Badāūnī's accounts [70]); even more compositions bear the name of Akbar along with Tānsen. Some compositions bear the names of both patrons, Rājā Rām and Akbar, with the *chāp* of Tānsen.

Sometimes, the name of the patron only occurs, then the identification of the poet-composer is almost impossible, as kings used to have many poet-composers in their court simultaneously who would put the name of their patron instead of their own, as it was common then.

Abū'l Fazl mentioned in 'Ā'in-i-Akabarī'[71] that "most of Tānsen's copositions are written in Akbar's name"—which does not imply that all compositions with Akbar's name are of Tānsen !—still, it does not help in identifying who is behind Akbar's name, in so many *dhrupad* song-texts; in most sources, including old manuscripts, there are statistically many more texts with the name of Akbar than those bearing the name of Tānsen, which is also true with Shāhjahān and his court-musicians. *Dhrupad* texts with the name of a patron only (Akbar), but 'understood' or 'accepted' as Tānsen's creations are typical examples which abound in Ācārya Bṛhaspati's works, in

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

which, texts with the name of Akbar only, are automatically quoted as Tānsen's compositions, without any rational reason.[72]

In some other instances, the name of Akbar comes with the *chāp* of poets like Vyās. Gopāl Nāyak or Cañcal Sasi.[73] Then, any composition with Akbar's name and without the poet's name can be presumably ascribed to Tānsen as well as to any of those poets attached to Akbar's court or contemporary.

As mentioned before 'Kitāb-i-Nauras' is the only example in which the Sultān is definitely found to be the author of the *dhrupad* collection.[74]

In 'Sahasras', the name of 'Shāhjahān' has systematically replaced the name of the poet-composer, presumably 'Nāyak' Bakhśū.[75]

There are also many *dhrupad*-s without any *chāp* which, in the present oral tradition, are 'felt' of being the creations of so and so composer. There are other examples of *dhrupad*-s including the 'poet-composer's' name in written recensions, which are sung today without any author's name.[76] This also happens in written collections mentioning the name of a composer after each text, i. e. the editor has, on unknown grounds, given the name of a composer, although there is no *chāp*.[77]

The uncertainty of the authorship explains perhaps, the different levels of literary quality between many compositons bearing the same author's *chāp*. Linguistic as well as stylistic comparisons are very doubtful grounds for determining the authorship, as it is assumed that a poet-composer will not compose in the same way if he has to please a Hindu or a Muslim patron, or if, in a more authentic vein, he expresses his own feelings to some specific audience or in a particular temple premises.

D. 3. The problem of idenitfication of the author makes critical edition of song-texts ascribed to one poet-composer, almost impossible, unlike it seems feasible for some saint-poets like Sūrdās and Nāmdev.[78]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Hardly any song-texts are found in manuscript contemporary to their creation, and except for 'Kitāb-i-Nauras', and somehow 'Sahasras,' very few collections of early source are made under one single name.

The collation of similar song-texts ascribed to one composer and written down at different periods, is hardly feasible; the distortion of *dhrupad* texts handed down by the oral tradition makes them often unintelligible in their later recensions (and that is mostly due to singing and not so much to scribal mistakes) [79] still, since some interest was aroused in publishing song-texts with or without notation, many *dhrupad*-s have been printed as they were found, without full understanding of their meaning.[80]

E. Prospects of research on dhrupad texts.

E. 1. Despite all the problems involved in text-editing songs handed down in a musical tradition still hardly known, the research-work on *dhrupad* song-texts has a multiple interest.

Critical editions of *dhrupad* texts selected from earlier dated recensions or those which can be dated, could be worthwhile: this is what I am presently doing with a limited corpus of song-texts ascribed to Tānsen, from the anthologies of Bhāvabhaṭṭa and a few other manuscript texts. The rest of the *pad*-s I have collected with the name of Tānsen (around fifteen hundreds including many similar compositions with reading-variants) can constitute a larger corpus for a critical study of *dhrupad* songs as a poetico-musical type of lyrical texts; comparative studies can also be done with edited texts like 'Kitāb-i-Nauras' and 'Sahasras,' from different points of view.

E. 2. The variety of subjects dealt with in *dhrupad* compositions, as shown in 'Kitāb-i-Nauras', 'Sahasras' editions and later secondary studies by Ācārya Bṛhaspati, Indurama Srivastava and others, makes this corpus a rich source of informations for further studies on many aspects of mediaeval India.[81]

All recent editions and studies on *dhrupad* song-texts which were mentioned in my 'Bibliography on Dhrupad'[82] do

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

stress the need of further studies of the content of those texts taken as poetical works.

Besides their obvious literary and linguistic value, *dhrupad* texts provide important informations on the socio-religious background, particularly the Hindu-Muslim culture of the Mughal period, with Hindu artists employed in Muslim courts and vice-versa.

Dhrupad texts give some interesting biographical elements on composers as well as their patrons and some more general historical and semi-historical informations on the social set-up; they are often a valuable source of knowledge of mediaeval culture, once they are corroborated with other authentic evidences.

E. 3. One aspect which is more relevant to the present seminar on 'Research on Music', is the rich content of many *dhrupad* texts related to music and dance. All edited works present a wide choice of compositions dealing with musical topics which deserve a particular study. They cover all aspects of music, from the philosophical view-point, like the concept of *Nāda Brahma* and other aspects of *nāda*, with images like *nāda-nagara*, *nāda-mandira* /*-gaṛha* /*-samudra* /*agādha*, etc.[83]

Many *dhrupad* song-texts deal with music in its theoretical and technical aspects with references to 'Saṅgīta Ratnākara' and other musical treatises and if they do not always mention those texts, they show an obvious familiarity with their content.

The texts I collected with the *chāp* of Tānsen, mention more than eighty different technical terms related to music; 'Kitāb-i-Nauras' as well as some *dhrupad*-s ascribed to Tānsen give some interesting '*rāga-lakṣaṇa*-s[84] numerous other aspects of music are dealt with, like the description of the qualities of good musicians; many references are made to *guni*-s, 'experts', and to categories of musicians, instruments of music, etc. One can wonder about the musical rendering of didactic and technical texts on music ! Prem Lata Sharma suggested that they were used for their pedagogical value and as a pleasant aid to memory for the students of music.[85]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Many *dhrupad*-s from 'Sahasras' and some with the name of Tānsen, or Akbar only, reveal the high understanding and appreciation of music of both the poet-composers and their patrons, which cannot be mere flattery, as without a basic knowledge of the intricacies of music, such song-texts would not have been pleasant to the listeners, and the main task of the *vāggeyakāra* was to please his present patron and audiences of various kinds.[80]

So, a specific study of the musical subjects dealt in *dhrupad* song-texts, specially in those from the earliest recensions, can reveal many informative elements on mediaeval music of India, which are not always dealt with in theoretical works of contemporary Persian and Sanskrit writers. According to Prem Lata Sharma, these informations should be included as one of the sources for the writing of a 'History of Indian Music'.

Conclusion : By presenting some of the available sources of *dhrupad* song-texts and exposing the most specific problems attached to their study, I hope I have highlighted the multiple interest of critical work on lyrical texts, which is still a very young field of research !

Besides the knowledge of many subjects which one single person cannot acquire, critical studies of song-texts require a lot of 'intuition' which is obviously limited in a person who is not brought up in the Indian background, as per my own experience; so, I believe, and it is one of the striking ideas expressed in the present seminar, that further scholarly studies on a wider scale, can be worthwhile only if conducted by an 'interdisciplinary team' of preferably Indian scholars, related to the concerned fields which I have mentioned in my paper.

□

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

NOTE ON TRANSLITERATION

As no unanimously recognised standard for transcribing Early New Indo-Aryan languages exists, the present paper displays various transcriptional modes, ranging from rigorous transliteration (for Sanskrit words, used in Sanskrit context), to phonetic transcriptional rendering (for modern Hindī words, including those of Sanskrit origin), and standard romanized transcriptions. Names of places are in the standardized form adopted in India (i. e. without diacritical marks); personal names follow both, transliteration (specially in bibliographical references and for writers whose name occurs only in Indian languages), and romanized standard form. The method of transcription of modern Hindī is that in New Indo-Aryan words, final consonant group plus a (excepting nasal plus consonant combination followed by a) the a is retained. Personal names of Sanskrit origin are pronounced with a very faint final and eventually medial a (e. g. Sūradāsa/Sūr(a)dās (a)); names showing this ambiguity are represented in a modern form wherever it seemed reasonable in their particular context. Titles of *dhrupad* collections (generally made of Sanskrit words) are transliterated. Quotations are given in their original transcriptional mode. No complete consistency is possible since modern usage itself is variable.

ABBREVIATIONS (in alphabetical order)

B. C. R. : 'Bhakti in Current Research, 1979-1982', Proceedings of the Second International Conference on Early Devotional Literature, in New Indo-Aryan Languages; St Augustin, 19-21 March, 1982 (West Germany); Editor, Prof. Monika Thiel-Horstmann, Dietrich Riemer, Berlin, 1983.

BOD : 'Bibliography on Dhrupad', by Francoise Delvoye, 'Nalini', in 'Dhrupad Annual 1986', pp. 95-115.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

D. A. 86 : 'Dhrupad Annual 1986'. Vol. I, general Editor, Prof. Prem Lata Sharma, published by the All India Kashi Raj Trust on behalf of the Maharaja Benares Vidya Mandir Trust; Varanasi, 1986. (Bilingual)

DAUV : 'Dhruvapada aur uskā vikās', by Ācārya Kailaścandra Bṛhaspati, Bihār Raṣṭrabhāṣā Pariṣad Patna, 1976 (in Hindī).

DDA : 'Dhrupad Dhamār Aṅk', 'Saṅgīt', samp. Lakṣmī Nārāyaṇ Garg, Hathras, Jan.-Feb, 1964. (in Hindī)

SRI : 'Dhrupada, A Study of its Origin, Historical Development, Structure and Present State', by Indurama Srivastava, Motilal Banarasidass, Delhi, 1980.

NOTES

1. As a convention, throughout the present paper, Dhrupad designates that specific form of vocal music; *dhrupad* designates the song-text meant to be sung in the Dhrupad form of vocal muic.

2. Subhadrā Caudharī 'Dhrupad ke 'pad'-pakṣa kā adyatan adhyayan: cune hue kāryoṁ kī samīkṣā' in 'D.A. 86' : pp. 20-33; English summary by the Editor : pp. 34-35; books referred to :

   (1) Sunīti Kumār Caṭṭopadhyāya, 'Kavi Tānsen' in 'Bhārtīy Saṁskṛti', Calcutta, 2nd ed.; 1964: pp, 143-162.

   (2) Sarayū Prasād Agravāl. 'Akbarī darbār ke hindī kavi', Lucknow, 1950.

   (3) Narmadeśvar Caturvedī, 'Saṅgītajña Kaviyoṁ kī hindī racnāeṁ', Allahabad, 1955.

   (4) Hem Bhaṭnāgar, 'Śṛṅgār-yug meṁ Saṅgīt-Kāvya', Delhi, 1970,

   (5) Prem Latā Śarmā (editor), 'Sahasras,' [Nāyak Bakhśū], New Delhi, 1972.

   (6) Cittarañjan Jyotiṣi, 'Rāgakalpadruma' kā viśleṣaṇātmak adhyayan', Varanasi, 1984.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(7) Campaklāl Chabıldās Nāyak, 'Aṣṭachapıy Bhakti Saṅgıt (Havelı Saṅgıt). udbhāv aur Vikās', Ahmedabad, Vol. I, 1983; Vol. II, 1985.

(8) Ācārya Kailaścandra Bṛhaspati, 'Dhruvapad aur uskā vikās', Patna, 1976. (DAUV). Except for the last title (DAUV). the books mentioned above will be referred to as note 2, followed by their respective number in brackets. On *Bhakti* poetry, see the Bibliography in B.C.R.; pp. 447-485.

3. H. N. Dwivedı, 'Tomaroṁ kā itihās', vol. II, 'Gwāliyar ke Tomar', Gwalior, 1976 : pp. 128-168; by the same writer. 'Man Singh's Manakutūhala and the Dhrupad' in the 'Quarterly Journal of the National Centre for Performing Arts (N.C.P.A.) vol. VI, No 2, June 1977 : pp. 12-21 SRI; pp. 23-24.

4. Cf. DAUV : pp. 35-38; SRI; pp. 7-19.

5. DAUV : pp. 103-160 and passim; SRI : pp. 23-26 and passim; Sumitrā Ānandapālasiṅgh. 'Dhruvapadagāyakoṁ aur dhruvapadkāroṁ ke āśrayadātā in DDA : pp. 14-26; S. N. Haidar Rizvi, 'Music in Muslim India' in 'Islamic Culture', XV (3).July 1931 : pp. 331-340, and 'Observations on 'Music in Muslim India', by H.G. Farmer, note by the Editor or 'Islamic Culture', XVII (4). 1943 : pp. 444; Abdul Halim, 'Music and musicians of the court of Shāh Jahān', in 'Islamic Culture', XIX (4), Oct. 1945 : pp. 354-360; same author, 'Muslim Contribution to the Development of North Indian Music' in 'The Muslim Year Book of India', Bombay, 1948-1949 : pp. 107-121, and 'Muslim rulers as great patrons of music' in 'Essays in History of Indo-Pak music', Dacca, 1962 : pp. 17-19; Mohd Azhar Ansari, 'Amusement and games of the Great Mughals' in 'Islamic Culture', XXXV (1), Jan 1961 : pp. 21-21 music : pp. 26-30; Daniel M. Neuman, 'The Life of Music in North India', The Organization of an Artistic Tradition, Detroit, 1980, Indian edition, New Delhi, 1980 : passim; Joan Erdman, 'The Maharaja's Musicians'; the Organization of Cultural

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Performance at Jaipur in the 19th century', in 'American Studies in the Anthropology of India', ed. Sylvia Vatuk, New Delhi, 1978 : pp. 342-367.

6. BOD : pp. 109-111; cf. supra note 2. (7); various papers in 'Dhrupad Samrāṭ Śri Candanjī Caturvedī Smṛti Granth'· ed. Rāmnārāyaṅ Agravāl, Mathura, 1981 : pp. 168-253; Dindayālu Guptā; 'Aṣṭachāp aur Vallabha sampradāy, ek gaveṣaṇātmak adhyayan' 2 vols., 2nd-ed., Prayag, 1970 : p. 27 and passim.

7. Cf. Bonnie C. Wade 'Khyāl, Creativity within North India's classical music tradition', Cambridge Univ. Press, Cambridge, 1984.

8. Besides the live performances of Dhrupad organised in India and abroad, and the creations of institutions for teaching Dhrupad, the publication of a 'Dhrupad Annual', by the All India Kashiraj Trust, since 1986, is very significant of the growing interest for this form of vocal music which has often been described as 'dying' or even 'dead' since the end of the 19th century. The fair amount of books and articles published on the subject is also revealing; cf. 'D. A. 86'; pp. 95-115 and 116-124

9. This section of the present paper is mostly based on sources collected by Shahab Sarmadee, Senior Fellow of the Indian Council for Historical Research, Aligarh; Shahab Sarmadee has compiled and edited a very valuable collection of texts connected with Indian music, both in Persian and Sanskrit, mostly from original manuscripts, which consitutes a precious source-material for the writing of the 'History of Indian Music'. For a detailed bibliography, see BOD : pp. 103-106; see also Najma Parveen Ahmad, 'Hindustani music, A study of its development in 17th and 18th centuries', New Delhi, 1984 passim.

10. Ā' In-i-Akbarı by Abū'l Fazl 'Allāmı, vol. III, English translation from the original Persian, by H.S. Jarrett; Ist published, 1909-1914; 3rd ed., New Delhi, 1978, pp. 265-266.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

11. 'Tūzuk-i-Jahāngīrī', vols. I and II, English translation by A. Rogers; edited by H. Beveridge; 1st published 1909-1914; 3rd ed., New Delhi, 1978; on *durpat* vol. I, pp. 271-272; about Tānsen, vol. I, pp. 412-413; vol II, p. 71.

12. 'Mīr'āt-i-Sikandarī', by Sikander bin Muhammad Manjhu, English translation by E. C. Bailey, 'The Local Muhammadan Dynasties : Gujarat', London, 1186; ed. Nagendra Singh, reprint, New Delhi, 1970.

13. 'Pādshāhnāmah', by Abd'ul Hamīd Lāhaurī, edited by Maulvis Kabir-al Dīn Ahmad and Abd-al-Rahīm, Bibliotheca Indica Series, 2 vols., Calcutta, 1866-1872.

14. 'Sahasras', Nāyak Bakhśū ke dhrupadoṁ kā saṅgrah',edited by Prem Lata Sharma, New Delhi, 1972; Persian preface in devanāgarī script : 2nd part, pp. 3-7; Hindī translation : pp, 8-13.

15. 'Rāg Darpan', by Faqīrullah, manuscript, Seminar Library, A.M,U., Aligarh and Raja Pustakalaya, Rampur; H. N. Dwivedī, 'Mānsingh aur Mānakutūhala', Hindī translation Gwalior, 1954; reprint, 1956; by the same author, op, cit., supra note 3.

16. Cf. Shahab Sarmadee, 'Mānkutūhal and Rag Darpan, Reflections of a Great 17th century Scholar-Musician', in 'ISTAR Newsletter', Nos. 3-4, New Delhi, June 1984-1985; pp. 18-26. Shahab Sarmadee has critically edited and translated into English 'Rāg Darpan'. from original manuscripts.

17. 'Tuhfat-ul-Hind', by Mīrzā Khan, alias Muhammad Ibn-Fakr-udDīn Muhammad, manuscript, Seminar Library, A.M.U., Aligarh; 5th chapter on Music; study in English in N. P. Ahmad, op. cit., supra note 9 : pp. 34-55; on Dhrupad : p. 105.

18. Personal communication, Aligarh, February 1986.

19. 'M'arifat 'ul Arwāh', only one manuscript available, Seminar Library, A.M.U., Aligarh; on Dhrupad, chapter 11, folio 13.

20. 'Saṅgīta Pārijāta', by Paṇḍit Ahobala, Sarasvati Press, Calcutta, 1884 : *Kāṇḍa* I, verse 598 : in half a *śloka*, it is said

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

that "*dhraupada* is composed in the languages of North India."

21. The works of Bhāvabhaṭṭa are available in manuscripts at the Anup Sanskrit Library Bikaner and City Palace Library Jaipur; they have been partially edited by Dattātreya Keśav Jośī and published by Sītārām Sukathanakar, Bombay, 1919-1921.

22. The texts of Bhāvabhaṭṭa's first definition of *dhruvapada* is available in most publications on Dhrupad; the latest is in 'Bhāvabhaṭṭa ke granth aur unmeṁ dhruvapada', by Ādināth Upādhyāya, in 'D. A. 86' : pp. 69-92; English summary by the editor : pp. 93-94; definitions of *dhruvapada* and comments : pp. 77-82.

23. Personal communication, Bikaner, August, 1986; Note : in square-bracket : not in Bhāvabhaṭṭa's text; in brackets explanation-cum-interpretation.

24. Bhāvabhaṭṭa's second definition of *dhruvapada,* from the 'Nṛtyādhyāya of Saṅgīta Anūpāṅkuśa', text in A. Upādhyāya, op. cit., supra note 22 : p. 78 and comments : pp. 78-82.

25. Based on the collections of *dhrupad*-s further described in C. (manuscripts, printed and oral sources), compiled while collecting *dhrupad* texts ascribed to Tānsen; cf. BOD : pp. 106-109.

26. D. Richard Widdess, 'Aspect of form in North Indian Ālāp and Dhrupad', in *Music and Tradition*, 'Essays on Asian and other music presented to Laurence Picken', edited by D.R. Widdess and R. F. Wolpert, Cambridge, 1981 : pp. 143-179; Wim Van der Meer, 'Hindustani music in the 20th century,' The Hague, Netherlands, 1980; Indian edition, New Delhi, 1980 : pp. 30-49; SRI : pp. 57-69.

27. Subhadrā Caudharī, Bhārtīy saṅgīt meṁ tāl aur rūp-vidhān, Ajmer, 1984 : pp. 355-360; Prem Latā Śarmā, 'Sahasras', ed. cit. : 134-135,

28. Saṅgīta Ratnākara, (Adyar edition), 4.37-38.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

29. Hariharnivās Dwivedī, Madhyadeśiy bhāṣā' (gvāliyarī), Gwalior, 1955; 2nd ed., 1956; Dhirendra Varma, 'Braj-bhāṣā', Allahabad, 1954.

30. Ibrāhim Ādil Shāh II, 'Kitāb-i-Nauras', Introduction, Notes and Textual Editing, by Nazir Ahmad, New Delhi, 1956 : pp, 78-81.

31. Cf. supra A. 4., the definition of *dhruvapada* by Bhāva-bhaṭṭa.

32. See supra note 2., as a revealing analysis of some recent publications in Hindī, dealing with the textual aspect of Dhrupad. See also some references to Tānsen 'as a poet' : 'Tūzuk-i-Jahāngīrī'. op. cit. supra note 11, vol. I : p. 413; Narmadeśvar Caturvedi, 'Tānsen aur unkā kāvya', Allahabad, 1956; Suniti Kumār Caṭṭopadhyāya supra, note 2, (I) and 'Kavivar Tānsen' in Ṛtambharā', Allahabad, 1946 : pp. 123-148; Hariharnivās Dwivedī, 'Tānsen, jīvanī, vyaktitva tathā Kṛtitva', Gwalior, 1986.

33. On Hindī poets of Akbar's court, see supra, note 2. (2).

34. DAUV, thematic study : pp. 252-274; illustration by *dhrupad* texts from the 'Rāmpur Rāgamālā' manuscript (described infra C. 3. d) and note 46.) : pp. 322-395.

35. Cf. SRI : pp. 27-46.

36. Sources collected while compiling *dhrupad* texts ascribed to Tānsen. The identification and evaluation of sources constitute the basic work for any critical textual studies, though most writers on the textual aspect of Dhrupad, give song-texts illustrations from sources (secondary or tertiary) rarely quoted; cf. supra note 2,

37. Cf. Mukund Lath, 'Bhajan' as Song : towards an oral stemma of Nāmadev's padas' in B.C.R. : pp. 225-235.

38. Few examples of *dhrupad*-s ascribed to Tānsen from manuscripts *padāvalī*-s are described in Āgarcand Nāhatā, 'Saṅgīt Samrāṭ Tānsen ke kuch aprakāśit dhrupad', in DDA : pp. 192-194.

39. Cf. BOD : pp. 110-111. and supra note 2. (7).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

40. 'Padasūradāsajıkā, The Padas of Surdas', edited with introduction and appendices by Gopal Narayan Bahura, with an essay by Ken Bryant, Maharaja Sawai Man Singh II Museum Trust. Jaipur, 1984.

41. Cf. supra note 30.

42. Cf. supra note 11.

43. Cf. supra note 14; by the same author, Prem Lata Sharma, 'Sahasarasa' (a compilation of Dhrupad texts ascribed to Bakshoo), Synopsis of a Treatise, in 'Indian Music journal' vol. VIII-IX-X, Nos. 15 to 20, Madras, 1972-74 : pp. 41-48.

44. Cf. supra note 21.

45. Cf. supra note 22.

46. Manuscript avilable at the Sangit Natak Akademi Library, Lucknow. The interest of the 'Rāmpur Rāgamālā' collection has been noticed by various scholars. Prem Lata Sharma had a hand-written copy made of the manuscript, available at the Library of the Department of musicology, Banaras Hindu University, Varanasi; Thakur Jaidev Singh often expressed his interest for this valuable anthology, in various personal communications and in a paper 'Dhruvapada (dhrupad) kā prādurbhāv, vikās aur hrās' in the 'Quarterly Journal of the national Centre for the performing Arts' (N.C.P.A.), vol. IX, No. 2, June 1982 : pp. 1-10; English Summary : p.p. 11-12; on the 'Rāmpur Rāgamālā' : pp. 3-4, 11 and some *dhrupad* examples, passim.

47. Most *dhrupad* illustrations quoted by Ācārya Bṛhaspati in DAUV, are based on the 'Rāmpur Rāgamālā.'

48. Lithographic copies of 'Saṅgıta Rāgakalpadruma' are available at the Bharat Kala Bhavan, Banaras Hindu University, Varanasi, the City Palace Library, Jaipur, etc.

49. 'Saṅgıta Rāgakalpadruma' by Kṛṣṇānand Vyās, has been edited by Nagendranath Basu, Calcutta, vols. I and II (nāgarı script) 1914, 1916; vol. III (Bengali) 1916; see also Prem Lata Sharma, 'Rāgakalpadruma' in 'Indian music journal', vol. V,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

50. No 2, Delhi, September, 1969 : pp. 108-112. Works based on 'Rāgakalpadruma', cf. supra note 2.(2), (3) and (6) and Prabhudayāl Mıtal, 'Saṅgīt Samrāṭ Tānsen, jīvanı aur racnāeṁ,' Mathura, 1960; by the same outhor, 'Saṅgıt-ācārya Baijū aur Gopāl,' Mathura, 1961.

51. —'Gīta Sūtra Sara', by Krishna Dhan Banerjee, 'Ostadi songs, with staff notation, bengali and devanagari scripts (1886); Translator's Explanations and Notes on Grammar and Theory of Hindusthani Music, as spoken of in Bengali, by above author, 'Gıta Sūtra Sār' by Himanshu Sekhar Banerjee, Vol. II, Pt. II, Nirendra Nath Benerjee. Berhampore, 1941. (English, Bengali, Hindī).

—'Nāda Vinoda Grantha', by Pannālāl Goswāmī, Delhi 1896. (Hindī).

—'Saṅgīta Kalādhara,' by Dahyalal Shivram, Hereditary State Musician, Bhavanagar, Gujarat, compilator, Ist ed., 1910; 2nd ed., Bhavanagar, 1938. (First page in English, text in Gujarātı).

—'Saṅgıta Candrikā' or A Treatise on Hindu Music, by Gopeshwar Banerjee, vol. I, Burdwan, 2nd ed., 1925; vol. II, Ist ed., 1917. (First page in English, text in Bengali).

52. 'Anekasaṅgraha,' by Gaṅgāviṣṇu Śrīkṛṣṇadās, 'Vividh bhāntikı rāga rāginı evam uttamottam padoṁ kā apūrva saṅgraha', compiled by Paṇḍit Rāmlāl, Kalyaṇ, Bombay, 1914. (Hindı).

53. 'Ṣaṅgıta Mañjarı,' by Ramprasanna Banerjee, 'Sangit-Nayak', edited by Gopeshwar Banerjee, Calcutta, 1st ed., 1910; 2nd ed. enlarged and corrected, 1935. (First page in English, text in Bengali).

—'Gıta Bādya Sāra Saṅgraha,' by Mukhopādhyāya Cāru-caran, Calcutta, 1908. (Bengali).

54. 'Hindustāni Saṅgıta Paddhati, Kramika Pustaka Mālikā', by Viṣṇunārāyaṇ Bhātkhaṇḍe : vols. I to VI, Marāṭhı edition, 1920-1937, Hindī edition, Hathras, 1951-1957; reed., 1964-1979.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

—'M'ār' if-un-Naghmāt', by Rājā Nawāb Alı Khān, original in Urdu (1924) ; Hindi translation, vol. II, reed., Hathras, 1952; vol. III, reed., Hathras, no date.

—'Saṅgıtāñjalı', by Omkarnāth Ṭhakur, vols. I to VI, Bombay, 1954-1962; reed, 1975, 1977, 1979.

55. Cf. supra note 49.

56. Cf. supra note 2 (2), (3), (5), (7), (8), and note 32; see also 'Dhrupad Dhamar gāyan', by Rājābhaiyā Pūchawāle, Gwalior, 1954; 'Dhrupad svarlipi,' by Harināŗāyan, Ist vol., Prayag, 1961; 'Dhrupad Saṅgıt', by Jagdıś Sahāy Kulaśreṣṭha, Ist vol., Solan, 1978, and the *dhrupad* song-texts with notation published in DDA : pp. 35-105.

57. Cf. Supra note 32.

58. On the temple tradition, cf. supra notes 6 and 39. In the Braj tradition, the *Rās-līlā* religious drama is also connected with Dhrupad in its musical aspect; some *dhrupad* compositions included in its repertoire, bear the *chāp*, or 'signature' of court 'poet-composers' like Tānsen and Baijū : personal information by Kalyāṇ Prasād Śarma 'Kiśorī', a renowned 'Rās-dhārī' of Vrindaban, who is presently writing a book on this subject. See J. S. Hawley and S. Goswami, 'At play with Krishna', (Pilgrimage Drama from Brindaban), Delhi, 1981; Norvin Hein, 'The Miracle plays of Mathura' New Haven and London, 1972; Prabhudayāl Mital 'Braj kı Rāslılā,' Vrindaban, 1983 : pp. 109-111; Vasant Yāmadagni, 'Rās-lılā tathā rāsānukaraṇ vikās', New Delhi, 1980.

59. See Ashok D. Ranade,'On music and musicians of Hindoostan', New Delhi, 1984; chapter II, 'Indian Oral Tradition and Hindustani Music' : pp. 23-49; part. pp. 36-45 and 49; see also many books on Indian Music like D. M. Neuman, op. cit. supra note 5 and W. Van der Meer, op. cit supra note 26.

60. Cf. 'An audio-visual library of Dhrupad compositions; towards a Center for Dhrupad Studies', by Peter-Friedrich

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Müller, Vrindaban, 1984, and 'ISTAR News letter', Nos 3-4, New Delhi, June 1984-1985 : p. 17.

61. Cf. 'Saṅgıta Ratnākara' of Śārṅgadeva (Adyar edition), 3. 3-4. and DAUV : pp. 252-259.

62. Cf supra B. I. and note 28.

63. Cf. DAUV : pp. 178-243 and passim; illustrations : pp. 367-395; see also SRI ; pp. 119-138.

64. (a) Paṇḍit Rām Catur Mallik of Darbhanga, text communicated by Peter Müller, 1985.
 (b) Personal information, Gwalior, 1985, Khairagarh, 1986;
 (c) 'Rāmpur Rāgamāla,' folio 4 B, DAUV, *pad* 28, p. 371;
 (d) 'Rāgakalpadruma,' vol. I, p. 106 B;
 (e) 'M'ar' if-un-Naghmāt,' vol. II, No. 201, pp. 158-159 (*sthāyi-antarā* only);
 (f) 'Kramika Pustaka Mālikā, vol. II, pp. 479-481 (*sthāyi-antarā* only)
 (g) Prabhudayāl Mıtal, 'Tānsen' op. cit. supra note 50 : 'Vilās Khān kı racnāeṁ' : *pad* No. 2, p. 202.
 (h) Prabhudayāl Mıtal, 'Baijū aur Gopāl, op. cit. supra note 50 : *pad* No. 35, p. 54.

65. Many similar compositions—from both written and oral sources—are found with different *chāp*-s, i.e. with different authors' names, with eventual changes of the vocabulary of Sanskrit and Arabo-Persian origin, and occasional changes of the names of gods or patrons addressed to, in different *rāg*-s and *tāl*-s.

66. Campaklāl Chabıldās Nāyak, op. cit. supra note 2. (7) : vol. I; part 2, p. 46.

67. Campaklāl Chabıldās Nāyak, op. cit. supra note 2. (7): vol. I, pp. 40, 43, 48, 57-58 and 61 with the 'signature' of Tānsen, p. 43, with the name of Jagannāth Kavirāy; more examples are available in the 2nd volume, passim.

68. In the appendix A of DAUV : pp. 322-366, two hundred eighty four *dhrupad* song-texts are given under the name of

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

a patron, in any of the three positions (as a 'signature', as addressed to, or as referred to), without discrimination.

69. Cf. in DAUV : pp. 371-372, few examples of *dhrupad*-s ascribed to Tānsen, including the name of Rājā Rām.

70. Cf. Abū'l Fazl's accounts in 'Akbar Nama', vol. II, translated by H. Beveridge, (1912), 11th reprint, 1977 : pp. 279-280, and 'Ā-īn-i-Akbarī, vol. I, translated by H. Blochmann (1871), 2nd ed., 1965 : p. 445; See also 'Abdūl-Qādir Badā'ūnī's account in 'Muntakhabut-Tawārīkh', vol II, translated by W. H. Lowe (1884), reprint 1986 : p. 345.

71. Ibid.

72. DAUV, passim; other examples are found in Saṅgīta Mañjarī, op. cit. Supra note 53., H. N. Dwivedi, op. cit. supra note 32, and in most of the secondary books.

73. For Vyās, cf. Bhāvabhaṭṭa's 'Anūpa Saṅgīta Ratnākara', manuscript No. 3356 (Anup Sanskrit Library, Bikaner) : folio 34 A-B, and DAUV, Appendix A. *pad* No. 65, p. 330; For Cañcal Sasi of Bhāvabhaṭṭa, ibid, folio 41 A-B; for Nāyak Gopāl of Rāgakalpadruma, *op. cit, supra* note 49 : vol. I, p. 221.

74. Cf. supra C. 3. a) and note 30; the *chāp* or 'signature' is 'Ibrāhīm'

75. Cf. supra C. 3. b) and note 14 : the *chāp* or 'signature' is 'Sāhjahāṁ in transliteration.

76. Cf. supra note 2 (6) : pp. 204-206, for an interesting example ascribed to Baijū.

77. Cf. for example 'Saṅgıta Candrikā', op. cit. supra note 51: vol. II, pp. 9-12.

78. For Sūrdās, cf. the critical edition in progress by Kenneth E. Bryant and J.S. Hawley, from earliest manuscript sources, with the help of a computer : Kenneth E. Bryant, 'The Fatehpur Manuscript and the Sūrsāgar Critical Edition Project', in B.C.R.. : pp. 37-44; for Nāmdev, cf. Mukund Lath, op. cit. supra note 37.

79. There are quite a few examples—even in the earlier recensi-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ons—of the inversion of the two sections of the first line, typical of the way of singing and giving the hint of the oral source of the texts.

80. Cf. most of the secondary works dealing with the textual aspect of Dhrupad, quoted supra in note 2.

81. Cf. supra B. 4.

82. Cf. BOD.

83. Cf. DAUV : pp. 266-267 and multiple examples in Appendix : pp. 322-395; some examples are given with an English translation in SRI : pp. 40-43

84. Some examples of *rāga-lakṣaṇa*-s are found in 'Kitāb-i-Nauras', ed. cit. supra note 30 ; pp. 69-72 (*Bhairav, Asavāri Ramkri*, etc.); some *dhrupad*-s ascribed to Tānsen, from 'Rāgakalpadruma, op. cit. supra note 49, are quoted by Cittarañjan Jyotiṣī, op. cit. supra note 2 (6) : pp. 41-42 *Bhairav, Ṭoḍi, Gurjari)*.

85. Cf. supra note 43 : p. 47.

86. Cf. supra D. I. and note 61.

चर्चा

डॉ० लाठ की टिप्पणी—

मेरे मन में दो चार सवाल हैं। ध्रुपद का अब जो रूप है वह कब आया ? वाणियाँ क्या थीं ? जिसको हम आज ध्रुपद की गायकी कहते हैं वो कब बनी ? और एक चीज़ जो देखने की है, जिस पर हमारा ध्यान, मैं समझता हूँ, बहुत कम जाता है कि आज हम पद के आधार पर ध्रुपद या ख़्याल नहीं कहते हैं। हमको मिल जायेंगे बहुत से ऐसे गाने वाले जो तानसेन का पद लेकर ख़्याल गाते हैं। यानी जो हम अन्तर करते हैं गायकियों में, वह पद के आधार पर नहीं करते हैं, वह हम गायकी के आधार पर करते हैं। और इस तरह का अन्तर करना, यह अपने आप में, मैं समझता हूँ, हमारे प्रबन्धोत्तर संगीत की एक नई प्रवृत्ति रही है। प्रबन्ध में जब भेद किया जाता है तो गायकी को भेद की प्रधान कसौटी नहीं माना जाता और आजकल हम संगीत में भेद की प्रधान कसौटी गायकी को ही मानते हैं, चाहे वह बाज हो या गाना हो। तो ये एक नई चीज़ आई है यानी पद को एक कमजोर अंग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

माना जाने लगा है, जहाँ तक संगीत की बढ़त का सम्बन्ध है। फिर भी संगीत के साथ पद का सम्बन्ध घनिष्ठ है ही।

एक सवाल मेरे मन में यह रहा है कि जैसे हम ये देखते हैं कि सूर को और तानसेन को, दोनों को, हम ध्रुपद गायक कह देते हैं पर उनके पदों में देखें कितना अन्तर है। सूर के पद जो हैं वो ताल में बंधे हुए हैं। आप उस पद का यदि उच्चारण भी करें तो बिल्कुल ऐसा लगता है कि वो एक ताल में बँधा हुआ है। और ऐसे केवल सूर के ही पद नहीं हैं, इसकी एक पूरी परम्परा है जो हम आठवीं सदी से लेकर, चर्चरी आदि की जो परम्परा है, उसके पद हमें मिल जाते हैं। 'कान्हडदेव प्रबन्ध' करके पन्द्रहवीं सदी का एक ऐतिहासिक लेखन है, पर उसमें भी गाने हैं और वो भी इसी तरह के, सूर की ही परम्परा के गाने हैं। आप अगर उसको पढ़ें भी तो आपको लग जायगा कि वो एक विशेष छन्द में बंधे हुए हैं। वे भी गाने के लिए हैं क्योंकि उनके ऊपर राग का नाम दिया हुआ है। वैसे ही १४ वीं सदी में मिथिला में एक नाटक होते थे, और जो सबसे पुराने नाटक हैं उनमें बड़ी दिलचस्प बात ये है कि नाटक संस्कृत में है और उसमें जो ध्रुवागीत हैं वो हिन्दी में हैं यानी वो 'भाषा' में हैं। पर उनमें भी जो गीत हैं वो उस तरह के हैं कि जिनमें आप छन्द को स्पष्ट देख सकते हैं। और जिस किताब का इन्होंने नाम लिया यानी फ़तेहपुर का जो संग्रह है, जो १५८० का है, उसमें हमको दोनों तरह के मिलते हैं। यानी ऐसे पद मिलते हैं जो सूरदास के जैसे हैं, जिनमें एक छन्द स्पष्ट है। और दूसरे केवल तानसेन के ही नहीं, और कइयों के हैं जिनमें वो स्पष्ट नहीं है। तो मेरे मन में ये सवाल रहा है कि ये दोनों प्रकार क्या एक ही गायकी के उदाहरण हैं या भिन्न-भिन्न गायकी के उदाहरण हैं? ये प्रश्न अब भी उठाया जाता है कि क्या हवेली संगीत ध्रुवपद का ही एक प्रकार है या कोई भिन्न-चीज है। इन दोनों को इतनी आसानी से हमको एक नहीं कह देना चाहिए। हो सकता है कि दोनों एक ही हों और एक ही गायकी के दो भेद हों या समगायकियाँ हों, पर पद का जो साक्ष्य है वो मन में एक प्रश्न जगा देता है मैं आपसे ये प्रश्न भी पूछना चाहता था कि क्या भावभट्ट का जो संग्रह है उसमें केवल गायकों के यानी जो तानसेन आदि की परम्परा के गायक रहे हैं, जिनको हम गायक कह सकते हैं, उनके ही पद हैं या सूरदास आदि के भी पद हैं?

श्री आदिनाथ उपाध्याय द्वारा उत्तर—नहीं, सूरदास आदि के उसमें नहीं हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

डॉ० लाठ जारी रखते हुए—

आप देखिये कि अपने आप में ये एक मार्के की बात है कि ये कुछ संग्रह ऐसे हैं जिनमें पदों का संग्रह है, वो भी गेय ही पद हैं और उन गेय पदों में एक छन्द स्पष्ट है। आप उसको ताल में बाँधें तो वो अपने आप बता देता है, इशारा कर देता है कि अमुक ताल में मुझे बाँधो, जैसे तुलसी के, सूर के बहुत से हैं। 'श्रीरामचन्द्र' का कल मैंने उदाहरण दिया। ऐसे बहुत से हैं जिनमें एक तालबद्धता को पद ही इंगित कर देता है। पर आप किसी ध्रुवपद को देखें तो कभी नहीं मालूम होता कि यह किस ताल में है। वो तो गायकी से ही पता चलता है। इससे एक और बात जो उभरती है वो ये है कि जो पद अपने आप ताल बता देता है उसमें गेयता का अंग भी कम होगा क्योंकि वो तो बाँध देता है आपको, वो पद-प्रधान गायकी है जबकि ध्रुवपद बीच-बीच में गेय की उड़ान ले लेता है। दूसरे में जो गेय की उड़ान है वो पद से अलग ही बैठेगी। हो सकती है ऐसा नहीं है। आपने पद गाया उसके बाद विस्तार कीजिए पर पद अपने आप में उधर आपको इशारा नहीं करेगा या उधर ले जाने की प्रवृत्ति उसमें नहीं होती। मैं सोचता हूँ ये भी सवाल हमको मन में रखना चाहिए कि ये एक ही परम्परा थी या भिन्न परम्परा थी। सवाल मन में हों तो उत्तर मिल सकते हैं। न भी मिलें, मगर सवाल तो रहना चाहिए।

श्री० उपाध्याय—

नलिनी जी क्योंकि आपने ध्रुवपद वार्षिकी की चर्चा कर दी है इसलिए हम थोड़ा सा उसके सम्बन्ध में पूछना चाहते हैं। शायद आपने, मैं नहीं कह सकता कि, जान बूझ कर ही उसकी आवश्यकता नहीं समझी। उसमें हमने भावभट्ट का ही 'अनूपसंगीतांकुश' जो ग्रन्थ है, एक परिभाषा उसकी भी दी थी। तो इस सन्दर्भ में उसको लेना आवश्यक नहीं है, जब चर्चा आप कर रही हैं तो ?

उत्तर—

नहीं, हमने सोचा है कि वो जो 'अनूपसंगीतविलास' में लक्षण है वो सब किताबों में मिलता है 'रॅफ़रॅन्स' के लिए। लिखित पेपर में तो उसको भी दे दूँगी। लेकिन ये मौखिक पेपर है इसमें अलग-अलग लक्षण नहीं दे सकते।

श्री० उपाध्याय—

क्योंकि आपने कई परिभाषाएँ गिनाईं तो हमने कहा कि शायद........

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्तर—

हाँ, वो इसीलिए कि इसके ऊपर डॉ. प्रेमलता शर्मा के साथ हमने काम किया, मतलब जो ये 'अनूपसंगीतविलास' का लक्षण है। ये कमज़ोरी है। जब मैं पेपर लिखित रूप में दूँगी, उसमें दे दूँगी।

डॉ. सितांशु रे—

Have you ever heard more than one *antarā* in any composition of Tansen?

उत्तर—No

डॉ. शर्मा की टिप्पणी—

[Not in written sources at least. In oral sources it is possible, but in written sources one has not come across something like that, not even from compilations made in Bengal.]

डॉ. नलिनी जारी रखते हुए—

And most of the written sources don't mention *sthāi, antarā*. It is only in later compilations, specially in the Bengali compilations which are given with notation. They will give *sthai* and then *antarā*, so you know what is what. But in the text it is very difficult to find in the verse where do they start where do they end.

डॉ. रे—

Just now I am unable to give examples but I have found.

डॉ. नलिनी—

You are most welcome.

डॉ. शर्मा की टिप्पणी—

That must be in the oral tradition.

डॉ. लाठ की टिप्पणी—

I will like to make a small remark. It is only this. You mentioned, for example, that many people sing Tansen's *dhrupad* as such, as if Tansen is a great christ. Let me point out that not many *dhrupads* are sung in details. The number of texts sung is few and in the written collections of *svaralipis* (notation) Tansen figures very largely both in Bhatkhande and

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

in the Bengali collections. He is very large. And even in older collections number of Tansen *dhrupads* are there.

डॉ. चोबे की टिप्पणी—

So it is there in Mārifunnagamāta also. She did not mention the name of Mārifunnagamāta.

डॉ. शर्मा की टिप्पणी—

She did mention.

डॉ. नलिनी उत्तर जारी रखते हुए—

But, for instance, if you take the recordings of the recent *dhrupad* festival, systematic recordings are made in Banaras and also in Vṛndāvan. I have consulted the catalogue of Vṛndāvan festival and they are trying to make a list of the composers. Tansen comes in very few examples and unexpectedly if it comes in, there is one composition which was sung by Mr. Lakshman Prasad Chaubey. He sang one composition of Tansen unexpectedly because he is from the temple tradition but on the stage he sang Tansen though many people from the stage performers and from the court tradition don't sing Tansen. There is also one composition which was sung by Pandit Siyaram Tiwari without *chāp* but mentioning Rajarama. It was introduced as Tansen's composition though the name of Tansen never came and even the story was made out of it. So there are many examples like that but statistically they become very few proportionately.

डॉ. रे की टिप्पणी—

In various compositions we don't find *sañcārī* and *ābhoga*. They are not sung.

उत्तर—

They are not sung because if you find in written form, I mean if they belong to the *dhrupad* tradition you will find four sections. They are also in Bhatkhande's compilation. Many of these four lines become only two lines and they all become *khyal* without the name. I have also made some statistical map. But this is very late tradition. So on that you can't do. There are two things—one is critical edition which you can do only on

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

earlier sources perferably dated but the problem in India is to date manuscripts. You know, there are no laboratories. You can't take any sample and get it done. So this is one problem but whatever is dated it can be used as a basis for the study.

डॉ० चौबे का प्रश्न—

Is it possible to have some idea of the *bāni*-s prevalent, out of the text ?

डॉ० शर्मा द्वारा उत्तर—

Bānī comes in the performance. Her study is not of the performance styles. They are two different channels of study, she has made it clear. This is only a textual study. How can we deal with *bānis* ?

डॉ० चौबे—

So such a classification is not possible from the text ?

उत्तर, वक्ता द्वारा—

I don't think.

डॉ० चौबे का प्रश्न —

ख़यालों में ऐसा अक्सर देखने में आता है कि सदारंग-अदारंग के नाम पर बहुत से लोगों ने 'कम्पोज़ीशन, (रचनाएँ) करके उनमें सदारंग-अदारंग का नाम डाल दिया है। तानसेन के नाम से भी ऐसी प्रचलित हैं लेकिन वे तानसेन की नहीं हैं। तो उसके पदों से यह बात स्पष्ट हो सकती है या नहीं ?

उत्तर, डॉ० लाठ द्वारा—

जिसको हम 'लैंग्वेज' का 'स्टाइल' (शैली) कहते हैं उसके आधार पर यह निर्णय करना तो असंभव है ।

डॉ० शर्मा की टिप्पणी—

यह तो सभी मानते हैं कि ये किसी ने, डाल दिये हैं। लेकिन कौनसा 'ओरिजिनल' (मूल) है, किसमें नाम डाल दिया है, इसका निर्णय करना तो बड़ा कठिन है।

उत्तर, डॉ० नलिनी द्वारा—

ये संग्रहों में नहीं हो सकता क्योंकि एक व्यक्ति की शैली बदलती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहती है। जैसे तानसेन के कुछ पद हैं जिनमें लगता है कि अपनी 'फ़ीलिंग्स' (भावनाओं) को व्यक्त कर रहे हैं, वो किसी को 'प्लीज़' (प्रसन्न) करने के लिए नहीं हो सकता। किसी की शैली से यह नहीं कहा जा सकता कि कौनसे मूल हैं।

डॉ० लाठ की टिप्पणी—

देखिये ये मालूम हो कि तानसेन की शैली ये है, कसौटी ये है, तब यह देखा जा सकता है कि ये उसके पद हैं या नहीं। मगर सवाल ये है कि तानसेन की शैली तक पहुँचना है। और तानसेन की कोई शैली बनती हो तब कुछ सोचा जा सकता है।

डॉ० चौबे की टिप्पणी—

लेकिन कुछ पद तो ऐसे हैं जिनके बारे में सौ फ़ीसदी यह माना जाता है कि ये तानसेन के पद हैं।

डॉ० शर्मा की टिप्पणी—

ऐसा भी देखा जाता है कि एक पद किसी के द्वारा विलास के नाम से गाया जाता है जबकि लोगों का कहना है कि ये तानसेन का हैं।

डॉ० लाठ की टिप्पणी—

यहाँ तक कि एक ही पद को कोई किसी राग में कोई किसी राग में गा लेते हैं, गाने की पद्धति भी बदल लेते हैं। कोई ऐसा प्रामाणिक 'ओरल ट्रैडीशन' (मौखिक परम्परा) भी नहीं है।

श्री बनर्जी—

[फिर तो 'हिस्टरी' (इतिहास) करके कोई चीज है ही नहीं क्योंकि कुछ बता ही नहीं सकते संगीत के बारे में, यानी जो चर्चा चल रही है ?]

डॉ० शर्मा की टिप्पणी—

'हिस्टॉरिसिटी इज नॉट दि ओनली क्राइटीरियन' (ऐतिहासिकता ही एक मात्र पैमाना नहीं है)। उस 'क्राइटीरियन' पर अगर हम खरे न भी उतरें तो और भी बहुत सी चीजें हैं, ये है समझने की बात। जिसको हम 'हिस्टॉरिसिटी' समझते हैं वो इन पदों में 'ऍस्टॅब्लिश' (स्थापित) करना बहुत कठिन है। हम तो उसी की समस्याओं पर विचार कर रहे हैं। इसका मतलब ये नहीं है कि संगीत में कुछ नहीं है। इसमें ये निकलता है कि 'म्यूज़िक' में हम लोगों की 'ऍप्रोच' (समझ का तरीक़ा) कैसी है ? प्रवृति कैसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है ? क्योंकि हम 'ओरल ट्रेडीशन' (मौखिक परम्परा) के आदमी हैं, बस। ये कोई गर्हणीय बात नहीं है, ये नहीं कि ये कोई बड़ी ख़राब बात है। लेकिन हम तो जो सचाई है उसको समझ रहे हैं, और कुछ नहीं। ख़राब कुछ नहीं है।]

श्री० बनर्जी का प्रश्न—

इसका निष्कर्ष यही है कि 'स्पॅसिफ़िकली' (निश्चित रूप से) कुछ भी नहीं बताया जा सकता ?

डॉ० शर्मा द्वारा टिप्पणी और उत्तर—

जिसको आज हम 'हिस्टॉरिसिटी' समझते हैं, वैसी 'हिस्टॉरिसिटी' इनमें 'एॅस्टॅब्लिश' करना असंभव है, ये समझ लेना भी तो बहुत अच्छा है। नहीं तो हम तो समझते हैं कि सब कुछ 'हिस्टॉरिक' (ऐतिहासिक) है। यानी ये भी तो एक बड़ा भ्रम है। इस भ्रम में से निकल जायें, यही बड़ा अच्छा है, यही इसकी उपलब्धि है। नहीं तो हम तो इस भ्रम में जी रहे हैं कि हमारा सब ऐसा 'हिस्टॉरिकल' है कि सामवेद से सीधा जुड़ा हुआ है, सामवेद बिना कोई बात ही नहीं करता। जहाँ संगीत की कोई बात उठती है, ये भले ही मालूम न हो कि सामवेद है क्या, कभी सुना भी न हो शायद सामवेद, लेकिन नाम हम सामवेद का ले लेते हैं और सोचते हैं कि हम आज कुछ गा रहे हैं ये एकदम सीधा, सरासर साम से जुड़ा हुआ है। है जुड़ा हुआ लेकिन किस तरह, ये समझने की बात है नं ?

मुकुन्दजी ने जो बात उठाई है, उस पर भी मैं थोड़ा सा कुछ कहना चाहती हूँ क्योंकि ये मैं भी वर्षों से सोचती रही हूँ। डॉ. नगेन्द्र ने ८-१० वर्ष पहले सूर पर एक संग्रह निकाला, तो उन्होंने मुझ से कहा कि तुम कुछ लिखो इस पर। उसी समय मुझे ये ध्यान में आया और एक लेख मैंने उसी में लिखा था जिसका मुख्य प्रतिपाद्य यही था। कम से कम नाट्यशास्त्र के ही प्रमाण पर तब भी मैंने ये बात कही थी कि नाट्यशास्त्र के ही साक्ष्य पर हमें पद की, गेय पद की दो सुनिश्चित धाराएँ मिलती हैं जो कि आज तक चली आ रही हैं। नाट्यशास्त्र में भी, जैसा कि मैंने कल कहा, जिसको वह गीतक कहता है, सप्तरूप जो है उसके, वर्धमान-आसारित-मद्रक—ये सब जो प्रकार हैं उनमें आपको छन्दोबद्धता नहीं मिलेगी। चतुर्मात्रिक गण जरूर हैं लेकिन पादविभाजन तो छन्द का मुख्य लक्षण है वो उसमें नहीं है और उससे आप ताल का या ऐसी किसी बात का अन्दाज नहीं लगा सकते, जैसे आपने कहा। उसके विपरीत जो ३२वें अध्याय में ध्रुवाएँ दी हैं या जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ध्रुवाएँ, मैंने कहा कि, पूर्वरंग वाले अध्याय में भी कुछ दी हैं, ध्रुवा शब्द वहाँ भी है वो चाहे पूर्व रंग में हैं, तो उनकी भाषा संस्कृत होगी और नाटक के भीतर गाई जायेंगी तो सर्वथा प्राकृत होगी। जैसे आपने कहा कि नाटक संस्कृत में है और गीत मैथिली में है। ये तो हमेशा से ही है क्योंकि नाटक के भीतर जो गीत होगा वो कभी भी संस्कृत में नहीं रखा। शायद इसलिये कि उसमें विशेष भावस्थिति की बात है और वो भाव की बात मनुष्य की अपनी बोलचाल की भाषा में ज्यादा प्रभावशाली होती है। शायद इसलिये नाट्यशास्त्र में भी ध्रुवाएँ संस्कृत में नहीं रखी हैं जो कि नाटक के भीतर गाई जायेंगी। तो ध्रुवा जहाँ भी है, चाहे वो संस्कृत में चाहे प्राकृत में, सर्वथा छन्दोबद्ध है। वही छन्द हैं जो हम काव्य में देखते हैं उसमें ज़रा भी कहीं कोई व्यतिक्रम नहीं है। ये दो धाराएँ सुस्पष्ट नाट्यशास्त्र में दिखाई देती हैं। आपका यह कहना बिल्कुल सच है कि इसके साथ हमें भी सोचना चाहिये कि इन दोनों को गाने की पद्धति भी कुछ भिन्न रही होगी। आज भी हम देखें तो जो हवेली संगीत है, जो मन्दिरों का संगीत है, जो पदाधारित है उसके गाने में और ध्रुपद के गाने में थोड़ा सा सूक्ष्म अन्तर है। मैंने उन लोगों से थोड़ी बात भी की है, अभी उस पर कहती हूँ। ऐसा है कि ये जो छन्दोबद्ध धारा है इसमें पहले नाट्यशास्त्र के समय तक तो ध्रुव नहीं है, जैसे आपने चार पंक्तियाँ कहीं। वैसे ही मैंने कहा था 'देवं रुद्रम्'। उसमें कोई अगर छन्दोबद्ध भी है तो ऐसा नहीं है कि किसी अंश को आप ध्रुव बनाइये। जैसे आप देखिये—'दुल्लहो पियो मे तस्सिं भव हियय णिरासं'—ये इतना एक पद है उसका। ये तो अब मैंने 'दुल्लहो पियो' ध्रुव बना लिया, उसमें नहीं है। उसमें ये संकेत कहीं नहीं है, उसकी पद रचना में, कि इतना अंश ध्रुव होगा। क्योंकि पद में अगर ध्रुव अलग से होता है तो दिखाई देता है और उसको तो लिखित रूप में, वहाँ ध्रुव लिख भी देते हैं, कि ये ध्रुव है। ये जो छन्दोबद्ध धारा है ये ध्रुव के साथ और बड़ी 'क्रिस्टलाइज़' (निश्चित) होकर एक सुनिश्चित रूप में हमारे सामने आती है। उसका सबसे बड़ा प्रमाण जयदेव है। एक प्रकार का 'स्टैण्डर्ड' (मानक) खड़ा कर दिया है छन्दोबद्ध धारा का और उसके आधार पर जितने पद बने हैं उनका। उस धारा में आते हैं सूरदास आदि कवि। ये सब के सब जयदेव की धारा में आएँगे, जिसके लिये भी मूल नाट्यशास्त्र की छन्दोबद्ध ध्रुवा में विद्यमान हैं। लेकिन वहाँ ध्रुव नहीं था, यहाँ ध्रुव भी आ गया और आमतौर से आठ कड़ियाँ हैं जयदेव के पदों में, इसीलिये उनको 'अष्टपदी' कहते हैं, और ध्रुव भी है। तो ये एक धारा है जो चली आई इन कवियों तक, जिसको हम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पद कहते हैं। अब कबीर भी हैं। उनके कुछ तो पद हैं और कुछ साखियाँ हैं। जो पद हैं उनमें ध्रुव होगा और वो छन्दोबद्ध भी होगा। जो साखियाँ हैं वो दोहे हैं वो भी छन्द तो है लेकिन उनको गेय पद कहना ज़रा मुश्किल है। तो बाद में ये, छन्द होते हुए भी उसके साथ ध्रुव भी हो ये, एक स्वरूप तय हो गया जयदेव के समय से, जिसमें ये सारे वैष्णव कवि आते हैं।

लेकिन ये जो छन्दोहीन धारा चली आ रही थी गीतक की, नाट्य-शास्त्र के समय से, ये आपको ध्रुवपद में मिलती है, भाषा बदल गई लेकिन ध्रुवपद में है वो। बख्शू के सारे ध्रुवपद देख लीजिये, कहीं छन्द नहीं मिलेगा। एक हज़ार में से केवल एक जगह मुझे ज़रा सा छन्द दिखाई दिया जिसका मैंने संकेत किया। वो शुरूआत है कवित्त की, घनाक्षरी की—'बसन सुधार कहूँ, पोइयत हार कहूँ'—ये ८-८ अक्षरों की विदारियाँ जैसे कि कवित्त में होती हैं। जिसको हम घनाक्षरी छन्द कहते हैं उसकी शुरूआत उसमें दिखाई दी। घनाक्षरी में भी बहुत से ध्रुवपद हैं। आप क्रमिक पुस्तक मलिका में ही अगर देखें तो बहुत से ध्रुवपद आपको ऐसे मिलेंगे जो बिल्कुल घनाक्षरी हैं। जैसे बिहाग में एक है—'आत होंगे आलि प्यारे भूखन ला रतनारे'। ये दो विदारियाँ हैं, आगे भी हैं, देख लें, बहुत से हैं। अगर खोजने चलें तो हर राग में २-३ मिल जायेंगे जो कि सीधे घनाक्षरी हैं। घनाक्षरी में क्या किया है कि, आठ-आठ अक्षरों की विदारी हैं, उन ८ को १२ बनाने का। चौताल ध्रुपद का मुख्य ताल है तो पहले, तीसरे, पाँचवें और सातवें अक्षर को, चाहे वो लघु हो चाहे गुरु हो, उसका कर्षण करके उसको गुरु बना दिया 'आ-त हों-गे आ-लि प्या-रे'—यों आठ को बारह बना दिया। तो ये त्रिकलात्मक ध्रुवपद, बहुत से देखेंगे आप, ध्रुवपद में। हालांकि ताल तो चतुष्कलात्मक है लेकिन पद उसका आपको त्रिकलात्मक मिलेगा इसका मूल घनाक्षरी में ही मिलेगा क्योंकि घनाक्षरी को इस तरह से गाने की एक परिपाटी दरबारों में चल पड़ी थी। ये घनाक्षरी बहुत प्रिय छन्द था उस युग का और उसको १२ मात्रा में करना बहुत आसान है। तो जितने त्रिकलात्मक ध्रुवपद आपको मिलेंगे उनका मूल घनाक्षरी में खोजा जा सकता है।

डॉ० लाठ—

बल्कि कवित्त नाम की गायकी तो आती है। रागदर्पण में भी है कि कवित्त गाती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

डॉ० शर्मा जारी रखते हुए—

तो बस वही कवित्त है ये घनाक्षरी को ही कवित्त कहते हैं। उसमें भी ध्रुव नहीं हैं। कवित्त में ध्रुव तो नहीं होता लेकिन अब गाते समय 'आत होंगे आलि प्यारे' जैसे है, इसको बना लिया है ध्रुव। हालांकि ध्रुव के रूप में छन्द में तो नहीं था लेकिन कोई गायेगा इसको तो 'आत होंगे' —इसी को तो ध्रुव बनाएगा, स्वाभाविक बना लेगा। तो ये धारा तो चलती रही एक। अब दूसरी जो एक छन्दोहीन धारा है, ये है ध्रुवपद 'प्रॉपर' जिसको कहते हैं, चाहे वो तानसेन के पद हों, बख्शू के हों, बैजू के भी क्यों न हों, स्वामी हरिदास के क्यों न हों। स्वामी हरिदास के पदों में भी आपको अधिकांश रूप से छन्द ऐसा नहीं मिलेगा, सूरदास जैसा। एकाध हो तो मैं नहीं कह सकती। तो ये दो धाराएँ तो बहुत स्पष्ट हैं। लेकिन हाँ इनकी, दोनों की गायकी, अब गायकी पर आ जाएँ। होता क्या है, ये जो छन्दोबद्ध रूप होता है ये आम तौर से अधिक लम्बा होता है छन्दोहीन की अपेक्षा। छन्दोहीन जितना आपको दिखेगा उसमें चार पंक्तियों से अधिक कभी भी नहीं होगा, कभी तीन भी होंगी। लेकिन जो छन्दोबद्ध होते हैं, जैसे अष्टपदी जयदेव की। सूरदास आदि के भी पद जो हैं उनमें आमतौर से ६ या ८ का भी मिलता है। मैंने लक्ष्मणप्रसाद चौबेजी से ये सवाल पूछा था कि इतने लम्बे को, ध्रुवपद में जब आपके पास चार ही खण्ड हैं स्थायी अन्तरा, संचारी, आभोग, आप चार खण्ड भी मान लीजिये तो उसमें ये आठ कैसे समाएँगे ? मैंने कहा आप क्या करते हैं ? उन्होंने कहा कभी-कभी छोड़ देते हैं कुछ, कुछ संक्षेप कर लेते हैं। और हाँ, जैसा कि आपने कहा जब अन्तरा एक, अन्तरा दो, अन्तरा तीन आता है तब आप कुछ छोड़ नहीं रहे हैं बल्कि स्थाई के बाद जितनी कड़ियाँ हैं सबको अन्तरा कहते चलिये, ये भी एक तरीका है। फिर संचारी-आभोग के उस ढाँचे में फ़िट न करिये अपने को। अन्तरा १, अन्तरा २, अन्तरा ३, जैसे आज हम लोग मीरा का या किसी का कोई पद गाते हैं तो एक धुन हमारी ऐसी होती है जो मध्य सप्तक के स्वरों में चलती है और फिर ऊपर को उठते हैं और जितने अन्तरे आते हैं सबको इसी तरह से गाते जाते हैं, नीचे से जोड़ते चले जाते हैं, यही तो करते हैं। और अगर हमें ध्रुवपद के ढाँचे में बैठना हो तो स्वाभाविक है कि उसका कुछ संक्षेप करना पड़ेगा वो जो इतना बड़ा पद होगा हमारे पास। तो एक तो तरीका ये है कि आप सबको अन्तरा मान लीजिये। उस ढाँचे को छोड़ दीजिए तो आसान है। अगर उसे बनाये रखना है तो कभी कुछ पद काट देना पड़ेगा, सारा इतना लम्बा-चौड़ा फ़िट

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं होगा। यों लम्बे-लम्बे आभोग भी हैं, हमने सीखे हैं ऐसे, १०-१० आवर्तन का हो सकता है। लेकिन वहाँ तुक की भी तो मुश्किल है। वहाँ तो तुक मिलती चली जा रही हैं एक-एक खण्ड में। अब चार तुकों को लेकर तो आप आभोग नहीं बना सकते न, ये भी एक कठिनाई है, ये तुक की बात खण्डों की बात-ये सारी जुड़ी हुई हैं और उसमें आवश्यकतानुसार गायक लोग रद्दो-बदल कर लिया करते हैं। लेकिन ये आपका कहना बिल्कुल सही है कि दो धाराएँ तो हैं ही। इनकी गायकी में भी कुछ न कुछ भेद होना चाहिए। अब इतना भेद तो स्पष्ट दिखाई देता है कि छन्दोहीन धारा के ध्रुपदों की गायकी में रागालप्ति अलग से है जो पद प्रधान गायकी में नहीं है। मंदिर में रागालप्ति नहीं है, अगर है भी तो बहुत मामूली। जरा सा कुछ कर लिया शुरू में, क्योंकि वहाँ तो पद प्रधान है। और पद कहाँ प्रधान है कहाँ नहीं, ये दो धाराएँ भी नाट्यशास्त्र में ही हैं। जहाँ पद प्रधान नहीं है वही छन्दोहीन है। जहाँ पद प्रधान है यानी अर्थ जरूर मालूम होना चाहिये वो सारा का सारा छन्दोबद्ध है। भरत ने कहा ' पदं तस्य भवेद् वस्तु स्वर-तालानुभावकम्'। यहाँ पद जो है, वो स्वर-ताल का अनुभव करायेगा। वहाँ दूसरी धारा में, स्वर आपको पद का अनुभव कराता है। इसलिए वहाँ आलप्ति प्रधान है। ये शायद आलप्ति-प्रधान नहीं है इतना तो समझ में आता है। फिर बात और भी गहराई से सोचने की है।

डॉ० चौबे की टिप्पणी—

ऐसा लगता है कि जो छन्दबद्ध पद हैं ऐसे ध्रुपद भी गायक गाते रहे हैं। मैंने स्वयं कई इस प्रकार के ध्रुपद सुने हैं जैसे—'मानुस हौं तो वही रसखान'।

डॉ० शर्मा द्वारा उत्तर—

हां तो ये सवैया है इसको गा लिया होगा।

डॉ० चौबे—

छन्दबद्ध है वो और उसमें विस्तार और गायकी का भी पूरा स्थान रखा है। यानी छन्दबद्ध है तो उसमें विस्तार या गायकी सम्भव नहीं, ऐसा कुछ नहीं है।

डॉ० शर्मा--

ऐसा नहीं है। हम तो केवल इतनी ही बात कर रहे हैं कि उसकी मूल प्रकृति क्या है। करने को तो कुछ भी किया जा सकता है। देखिये 'मानुस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हो तो वही रसखान' सवैये के रूप में मिलता है ध्रुपद के रूप में पाण्डुलिपियों में नहीं मिलता है। आज उसे कहिये किसी में भी गा दूँ। डागर लोग उसे धमार बना कर गाते हैं। लेकिन उससे ये सिद्ध नहीं होता है कि ये सवैया जो है वह ध्रुपद है। हम चर्चा इस पर कर रहे हैं कि ये दो सुनिश्चित धाराएँ अति प्राचीन काल से मिलती हैं। दोनों के प्रयोजन और संदर्भ भिन्न हैं। नाट्यशास्त्र ने दोनों के संदर्भ बहुत स्पष्ट कर दिये हैं। छन्दोहीन धारा को उस संगीत के साथ जोड़ा है जिसमें स्वर और ताल प्रधान हैं, पद उसका अनुगामी है या सहायक है। छन्दोबद्ध धारा को उस संगीत से जोड़ा है जिसमें अर्थ प्रधान है, पद प्रधान है, आपको उसके अर्थ का ज्ञान पहले होना चाहिए। अगर अर्थ का ज्ञान नहीं हुआ तो वह बेकार है। इसलिए वो प्राकृत में, देशी भाषा में है और छन्दोबद्ध भी है। यानी उसके गाने में एक विशेष प्रकार के प्रवाह की अपेक्षा होगी। यहाँ प्रवाह दूसरे प्रकार का है जो स्वर को लेकर चल रहा है। पद को आप चाहे जैसे ढांचे में ढाल सकते हैं, चाहे जैसे तोड़-मरोड़ लीजिये—ये कहा है। इसमें स्वर का कर्षण चाहे जितना कर सकते हैं लेकिन वहाँ नहीं क्योंकि अर्थ बोध वहाँ होना ही चाहिए। वही जो श्रीवास्तवजी ने कहा कि रसखान ने तो उसे सवैया मान कर लिखा है ध्रुपद मान कर नहीं।

डॉ० श्रीवास्तव की टिप्पणी—

मुझे लगता है कि यह सोचा जा सकता है। कवि का अपना कुछ संगीत-बोध उसमें था या नहीं ये तो कविता और संगीत, दोनों को समझने वाले ही कह सकते हैं।

डॉ० शर्मा का उत्तर—

ऐसा है कि संगीतबोध था या नहीं इसका एक निर्णायक साक्ष्य यह भी है कि जो भी हमें लिखित रूप रसखान के मिलेंगे उनमें कहीं उस पर ध्रुपद लिखा मिलता है क्या ? नहीं मिलता है। मिलता है तो वो कितना पुराना है ? आज मैं लिख दूं उस पर ध्रुपद तो थोड़े ही मान लिया जायगा।

डॉ० लाठ की टिप्पणी—

एक और उदाहरण है घनानन्द के पद। उनमें कवित्त सवैये कुछ अलग हैं। ये जो ख़याल हैं वो अलग हैं, बिल्कुल अलग हैं, उनकी पदरचना बिल्कुल अलग हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

डॉ० शर्मा—

घनानन्द से बात बहुत स्पष्ट होती है। घनानन्द तो हमारे बहुत करीब हैं। १८वीं शताब्दी का अन्त होगा। तो घनानन्द के जितने पद हैं उन पर न ध्रुपद लिखा है न ख़्याल लिखा हैं। फिर बाद में उन्होंने ख्याल अलग से लिखे हैं, उनकी पदरचना भी बहुत संक्षिप्त है और रूप भी भिन्न है। कवित्त सवैये के साथ कभी किसी ने गायनशैली जोड़ कर नहीं लिखा है। हालाँकि कवित्त को ध्रुपद में गाना बहुत चलता था, ये भी हमें मालूम है। क्रमिक पुस्तक मालिका में हर राग में मिल जायेंगें।

श्री बनर्जी का सुझाव—

एक सुझाव है कि कुछ 'टॅक्स्ट' (पद) ऐसे हैं जिनका 'पीरियड' (काल) नहीं मिलता है इसलिए 'प्रॉब्लम' (समस्या) है। लेकिन तानसेन के १०० साल की जो पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं जिनका सन् उपलब्ध नहीं है, 'कैमिकल टॅस्टिंग' (रासायनिक परीक्षण) से पता लग सकता है। यह संभव हैं और उससे 'एज'(आयु) पता चल जायगी।

डॉ० लाठ की टिप्पणी—

'कॅमिकल 'टॅस्टिंग' से पता नहीं लगता। पाण्डुलिपियाँ बहुत मिलती हैं उसके बाद। तानसेन की 'एज' मालूम भी हो जाय तो समस्याएँ जो इन्होंने उठाई है उनका हल नहीं निकलता। ये तानसेन में ही नहीं, सूरदास में भी है। पाण्डुलिपि 'डेट' (तिथि) अपने आप देती है इसलिये 'कैमिकल टैस्टिंग' की ज़रूरत नहीं है।

श्री बनर्जी का प्रश्न—

लेकिन उस 'पीरियड' (काल) का अगर मिलता है तो उसकी 'ऑथेंन्टिसिटी' (प्रमाणिकता) पर क्या शक हो सकता है?

डॉ० शर्मा द्वारा उत्तर—

इसलिये कि वो तानसेन ने तो नहीं लिखा है न?

श्री बनर्जी—

अगर 'क्वालिटी' भी 'ऍस्टॅब्लिश' हो जाती है कि ये जो 'पर्टिकुलर' सब्जॅक्ट' (विशेष विषय) है, इसके लिये 'स्पेसिफ़िकली' (निश्चित रूप से) कुछ बताना संभव नहीं है तो उसके बाद 'रिसर्च' (शोध) का क्या 'स्कोप' (क्षेत्र) बचता है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

डॉ० लाठ द्वारा प्रश्न व टिप्पणी—

'स्पेंसिफ़िसिटी' (विशेषता) ही आप किसको कहते हैं ? एक 'म्यूजिकल स्पेसिफ़िसिटी' होती है। जब हम कहते हैं 'हिस्टॉरिकल ऑथेंन्टिसिटी' जैसे अमुक आदमी ने ही लिखा या नहीं, तो उसमें बड़ी समस्याएँ हैं, विशेषकर ऐसी परंपराओं में जो मौखिक होती हैं। और वो समस्याएँ सबको मालूम हैं। उससे अवगत रहना चाहिये।

'स्पेंसिफ़िसिटी' कई तरह की होती है। जैसे, ये अमुक ने लिखा है, ये एक तरह की है। दूसरी यह है कि अमुक 'टॅक्स्ट' में अमुक चीज़ आई है या नहीं। ये तो बता ही देते हैं कि अमुक 'टॅक्स्ट' में अमुक चीज आई है। लेकिन वो तानसेन की है या नहीं, ये दूसरा सवाल है। उसे 'ऍस्टॅब्लिश' करना ज्यादा मुश्किल है।

श्री बनर्जी की प्रतिक्रिया—

तो उसके बारे में 'रिसर्च' का 'स्कोप' फिर नहीं रहता।

डॉ० शर्मा द्वारा उत्तर—

देखिये 'स्कोप' तो रहता है। तानसेन के पदों का अध्ययन या तानसेन के नाम से प्रचलित पदों का अध्ययन केवल इस बात पर निर्भर नहीं है कि इतना निर्णय हुआ या नहीं कि ये तानसेन के है या नहीं। मान लीजिये नहीं भी हुआ तो जो आपको उपलब्ध सामग्री है उसका अध्ययन कुछ आप करेंगे या नहीं करेंगे ? वही तो कर रहे हैं। हम समस्या के प्रति जागरूक होने का प्रयत्न कर रहे हैं ताकि हम जरूरत से ज्यादा मामूली न बना दें, इतिहास को जरूरत से ज्यादा आसान न बना दें, इतिहास से खिलवाड़ न करने लगें। बस और कुछ नहीं। हमें मालूम होना चाहिये कि 'हिस्टॉरिसिटी' क्या है और उसे हम उस तरह से 'ऍस्टॅब्लिश' नहीं कर पा रहे हैं, ये भी तो बोध हो। ये बोध भी तो अब जगाया जा रहा है।

डॉ० लाठ की टिप्पणी—

एक और बात है कि बहुत से पद मिलते हैं जो नामदेव के हैं, कबीर के हैं, मीरा के हैं। इन्हें उनका न कह कर उनकी परम्परा का कहते हैं, कबीर परम्परा का, मीरा परम्परा का।

डॉ० शर्मा—

क्योंकि हम मौखिक परम्परा में रह रहे हैं। उसमें कभी भी आप ये तय नहीं कर पायेंगे कि हाँ, ये उसका था ही। इधर सौ-पचास साल पहले का आदमी हो तो शायद कुछ संभव है। उससे अधिक संभव नहीं है।

☐

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Area & Scope of Research in Music

□ Dr. N. Ramanathan

This paper is not intended to be a textbook lesson on Research in Music, as the title might suggest, but is an attempt to point out how quite a bit of research in music goes beyond the area of music and how research In music has not an unlimited scope as many of us take it to be.

To start with we may survey the areas in which research is conducted in music and see the extent to which it is being carried out. To classify the areas, it will be easier to start with the analysis of the various aspects of music. Music is generally considered to have three aspects. The first is the melodic aspect, called the *svara*. This tonal aspect of music is its primary and chief element. The other is the aspect of the temporal duration of tone which we may call the *laya* or rhythm but this is brought under the *tāla* aspect which regulates rhythm and also measures music. The third aspect of music has to do with the syllabic structure of sound, as different from the tonal aspect and is referred to as *pada*. But prior to the elements that constitute music we have to understand the identifiable shapes in which music is presented, or in other words, the *rūpa* or form. Musical forms are many, and the concept of form is the primary one and its relation to the elements, *svara*, *tāla* and *pada*, is that of the whole to the part.

Fundamental research in music concerns the understanding of these concepts. This area we mark out as the inner circle of musicological research. Beyond this we have a middle circle wherein we have the study of the music composers, performers, musical instruments, the history of music and music education. However an analysis of these concepts should be made on the background of the function or aim of music.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Music functions as an independent art but at the same time it serves as a limb too in other arts like cinema, dance, drama and *kathā*. It also forms part of religious rituals, social celebrations like marriage, birth, death etc. and of day to day activity like working in the fields, pounding of rice, etc. Music is there in the field of medicine too as music therapy. The nature of music has to be analysed on the background of the sphere in which it functions. To understand music as an art, one has also to understand the distinction between music and the other arts. And to go one step further, one has to know the distinction between the arts and the other disciplines like the sciences and the distinction between the arts and other activities in life like cooking and sports. All these areas form the outer circle in the field of research. Thus we have roughly demarcated the areas.

Inner Circle—Aesthetics

Now let us investigate the actual research being conducted in these areas, starting with the outermost circle. We first take up research on music and the other arts and their place in life as compared to other activities. This practice of distinguishing between various activities in life does not appear to have formed part of traditional Indian thought. In the vast literature in Sanskrit, Tamil and other languages, neither in original works nor in commentaries do we generally come across any discussion of this nature. This is perhaps a way of thinking imported from the west. In fact it is not certain whether the general subject of aesthetics concerning the distinction between the arts and other disciplines like the sciences or concerning the arts and the crafts or concerning the identity and distinction between the various arts, music, dance, painting, drama, poetry etc, has ever formed a part of the writings of the traditional Indian writers.[1] In fact it is only in the recent past that, influenced by the writings on aesthetics in the West, we have started receiving writings on *saundaryaśāstra.*[2] In the Sanskrit tradition we have the concept of sixty-four kala-s which is however not referred to in standard writings on drama and the other arts by Bharata, Dattila, Śārṅgadeva and others.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Mānasollāsa has a set of twenty chapters on entertainment (vinoda) and a set of twenty chapters on sport (krīḍā). However there is no discussion as on the distinction between the two. Even in the writings on the different arts there is practically no discussion on the aim of any art apart from poetry and drama. There is a profusion of works on the nature of *nāṭya* and *kāvya*. The aim of *nāṭya* had been declared to be *rasa* by Bharata and the same was extended to poetry although scholars distinguished between the two and later *dhvani* was called the soul of poetry and much was written to keep both *rasa* and *dhvani* together [3] However even if rasa be the aim of both drama and poetry, the ingredients of the two being different, the devices adopted to achieve *rasa* too are different. However except for Abhinavagupta no other writer has written on the distinction between the aesthetic import of the various arts. As the art of dance formed a limb of drama, he spends long passages distinguishing between drama and dance, namely *nāṭya* and *nṛtya*.[4] And valuing the contribution of dance, music and drumming in drama as aids in evoking rasa, he distinguishes their function as independent arts from their role in drama The writer establishes music as an independent art, namely Gāndharva which does not have *rasa* as its aim while in drama it aids the ingredients like *vibhāva*, *anubhāva* and *vyabhicāribhāva* to evoke *rasa*.[5] Similarly the writer has brought out the distinct aim of drumming when it is outside drama.[6] But apart from Abhinavagupta there is no other writer who has devoted himself to the discussion of the aesthetics of the various arts. Today, we find that any research in arts presents a variety of approaches. There is one view which takes *rasa* as the aim of all arts and even looks for *vibhāva*, *anubhāva* and other elments in pure music.[7] There are others who do not discard *rasa* as the aim of music but would distinguish its nature in the sphere of music[8] and there are yet others who would not accept Rasa as the aim of music at all[9] As different from this approch we have that of writers influenced by western thinkers like Plato and Croce who would seek beauty as the aim of music and interpret it in terms of idea,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

expression, conception etc. Those conforming to Hanslick's views would speak of autonomy of the art and the followers of Kant, Cassirer and Langer would talk of the illusion which the arts create.[10] Thus from the Indian point of view this is a rather fresh area, where a lot of ideas are being expressed. The aesthetic aims of music has to be defined clearly and in the background of it the relevance of the traditional practices like the association of *rāga*-s with *rasa*-s, association of the time of the day with the *rāga*-s, has to be judged.

Ethnomusicology

Once we set out to examine the function of music as part of other activities, then it becomes all the more necessary to decide upto which area, the music research can extend. Firstly we take up what is popularly known as "folk music". This is the term used to denote the music witnessed in the context of the daily activities of people. Research in this direction covers the study of the melodic material, intervals of svara-s, text used, the rhythm etc. But recently a new branch of study called "ethnomusicology" has entered the Indian scene. This branch of musicology advocates the study of not only the musical material but also the social set up of the people, their culture, in short, the ethnic aspect. The music of a society reflects the growth, development and life of a society. In other words music is the man. Thus ethnomusicology attempts to study the culture and social set up of a race, tribe through its music. This kind of approach appears to exceed the scope of research in musicology and makes ethnology or sociology or anthropology, its goal. In other words this is research in anthropology or sociology with music as a specimen. It is only proper that any sociological or anthropological study should include music as one of the aspects of study. Of course the reverse is also true that a musicological study should include social activity in which music figures. But then the scope of the study should be limited to the musical elements. To go beyond that to analyse the factors that cause folk music to be what it is, is not pertinent. That would be outside the domain of music.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Apart from music in daily life, music also forms part of social occasions like marriage, death, birth. Musicological study should once again cover only the musical elements figuring in such music. Too much involvement with the various aspects and stages of ceremonies will take the researcher away from the musicological field and study will be more fitting in the discipline of sociology and anthropology.

Music in Temple ritual.

Music in temple ritual and in religious worship presents fascinating material for musicologists. Different temples following different *āgamic* traditions have very elaborate prescriptions regarding the music to be performed and the musical instruments to be played during the various rituals. Every temple in India is a mine of information for the researcher in musicology. It would be certainly necessary to get general information about the temple and details of the various rituals but the study should not result in a write up on Agamic tradition with music featuring in it incidentally.

Nāda-Brahman

While on the topic of worship, it is to be remembered that in the Sanskrit tradition there is also the definition of the aim of music as the realisation of *Nāda Brahman*[12] While *Brahmān* is the ultimate reality according to Indian thought, different disciplines have set up a *brahman* relating to their fields, namely, the *śabda brahman* of the *Vaiyākarana*-s (Grammarians), *nāda brahman* of the *Gīta vedin*-s (Śārṅgadeva etc.), *Vāstu brahman* of *śilpa śāstrin*-s[13]. The different systems of Philosophy in India have dealt with the' nature of *brahman* very elaborately. The discussion of the concept of *nādabrahman* too pertinently falls with in domain of poilosophy. The ideas of philosophical systems have been introduced into the musicological systems in the post-Bharata period, there is the discussion of *Āhata, anāhata-nāda*, the yogic concept of *Cakra*-s in the body, and also of philosophical principles in discussion of the *śruti-svara* relationship, the concept of *vāk*, the concept of *sphota* of the *vaiyākaraṇa*-s in the-Bharata works.[14] This

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

is an area which needs to be investigated to understand the relevance of the introduction of these concepts in musicological discussions.

Music and Geography.

Geography is another subject which is related to music. It is pertinent to study how the factors operating in a region have contributed to the development of music in that area. To take a simple example, the use of jackwood in the musical instruments of South India and of gourds *tumbā* in the instruments of North India is attributed to the geographical factors. But such an area of study should interest the students of geography to a greater extent.

Music and Psychology.

The psychology of music is a very popular field of research. The subject covers topics like perception of musical elements pitch, time etc; feeling, thinking and imagination in music.[15] There are also psychological tests conducted to determine the feelings evoked by music in a listener's mind.[16] Some of these tests and observations reflect the application of certain psychological theories to music and it is for the researchers in music to verify whether such methods are really applicable to or are valid in the subject of music. In general, musicologists must fully understand the requirements and principles of music before adopting the methods of other disciplines in their subject.[17]

Music and Medical Science.

The field of medical science is another with which music has had links. Even in the ancient period, we have descriptions of anatomy being described in musical treatises. One wonders whether such a detailed treatment as undertaken by the writers is relevant to music. But this was justified on the basis that the body is the source of *nāda* and that the *nāda* is the soul of music. Nevertheless it seens an unnecessary widening of the territory of musicology. In the modern period too details of the structure of the voice box and ear are taught to the music students. Perhaps from the point of view of

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

voice culture the knowledge of the voice production is necessary. But then in the Indian context the voice is not allowed to be exploited to its utmost capacity. There is a lot of restraint imposed by aesthetics. Skill of the voice never dominates over the musical idea and a perfect blend is sought to be achieved, a blend which is equally present in the music played on instruments. The voice culturing is also in built in the music lessons that a study of the external details is not wholly relevant. Another related field is music therapy.[18] This is a fairly recent arrival. This field of medicine deals with curing illness through music and other arts. But then this is purely an area for medical scientists in which musicians and musicologists can at best be consultants.

I have touched upon just a few of the subjects with which music has been linked in the inter-disciplinary research. There are perhaps others which may have got left out. My aim here is not to be exhaustive but to show that most of the areas fall more in the sphere of other disciplines than in music. One important discipline yet unmentioned is Acoustics, a branch of Physics. This is a subject relevant to music since it deals with physical sound which is the basic material for music. For this reason we shall consider this in our discussion of areas in the middle and inner circle. It is sufficient to mention here that while principles of acoustics hold true in music, interpretation in terms of mathematical figures need not be extended to music.

In the areas of musical research mentioned in the middle circle we take up the analysis of composers and performers first. This is an area which again does not have very much of a tradition in the Indian musicological literature. Our ancients were concerned more with abstract concepts than with personalities. The styles of composers or musicians is never discussed in the primary texts, for that matter no names are even mentioned. It is only in the secondary sources like *Kāvya*-s, *nāṭaka*-s and *purāṇa*-s that we find accounts of musicians, composers and performances. Of course the requisites of a composer of music in dance and drama, namely, a *vāggeyakāra* and that of

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

the performers—*gāyaka* and *vādaka* etc., are mentioned in many texts. We do hear of *prabandha* composers in the medieval period—Gopāla Nāyaka, Rāmāmātya, Veṅkaṭamakhi etc. However the analysis of composers and performers as such is an import from the West.

Taking up the study of composers first, we find that the course of this endeavour has not been as smooth as it has been in the West. In the South Indian tradition, the main difficulty is the multitude of versions and recensions that exist of compositions created even 75 years ago. There is no consciousness among musicians for preserving the songs intact. Hence any attempt to analyse the style of a composer will have to first weed out performer's contributions to the compositions he is singing. A proper analysis will have to start only with the authentic versions, for which material available will usually be from the modern period. In North India the songs of *khyāl* being very short, there is not much scope for establishing a very characteristic style and hence studies will have to concentrate on *dhrupad*-s in the case of which too, authentic versions will have to be established first. Further in the West since the scores of all the compositions are available, analysis invariably bases itself on the score and passages from it and cited as references for establishing points. In the Indian contexts, the notations if any, present only the skeletal form of a composition serving just as aid in learning. Hence, now there is a tendency to structure an adequate notation or bring in what is termed 'transcription'.[19] At the moment composition analysis is in a nascent stage, mostly finding expression in flowery descriptions, full of imagery.[20] Gradually we find analysis being expressed in more concrete musical terms. Scholars are also using notations for reference. In fact some of the recent researchers have also supplied taped cassettes to accompany the notations.[21] Perhaps recorded music is the best way out as far as Indian system is concerned and the least we rely on the visual medium of notation the better. This is because the notation itself is a very rough indication and can never project the picture of the music if it has not been heard already. And

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

then basing analysis on notation and carrying on arguments based on it could lead one away from the actual music.[22]

The analysis of a performer's style is again a new subject in the Indian context. However there is a lot more scope for this area in India than in the West. While in the West the analysis has to dwell upon the interpretation that the conductor or performer gives to composition, in India, because of the presence of *anibaddha* music, much more is expected of a performing musician. Hence the analysis of style covers many facets of a performer. In the analysis of style in the North, the *gharānā* offers a broad categorisation.[23] Much research has come forth on the analysis of *gharānās.* But with regard to individual musicians the writings are more in the form of short articles than detailed dissertations. In the South too, musicians have been identified as representing different styles but the mode of expressing the style purely in terms of musical concepts is gaining currency only now.[24] In any case musicology has come a long way from the mere biographical descriptions of composers and performers.

Musical Instruments have been very important focus of study. Firstly the role they played in the development of the tonal system is very significant. Further style in compositions and in performances has been influenced by the characterisic "instrumental" touches bestowed on the melodic structure. But a different aspect of research involves the careful study of the parts of instrument and their function. Quite often research precedes the manufacture of part of musical instruments with a different material or effecting slight changes in the design. Such innovations require a knowledge of the acoustical properties of material and of the instruments. Most often the instrument manufacturer who is not conversant with the principles of acoustics is able to improve his designs or make changes out of his intuitive knowledge of instruments and hereditary association with the craft. And it is a question whether what he does can be termed research. When one goes into the structure of instruments, their manufacture etc. knowledge of music alone is not sufficient. A knowledge of carpentry, physics,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

leathers, metals etc. is necessary and when we enter the field of electrical attachments to instruments and electronic and computerised instruments, we are introduced to newer disciplines. This becomes a separate discipline by itself which is not within the scope of a researcher of music.

The history of music offers a vast area for research. It concerns all the aspects of music—melody, rhythm, text, musical forms, instruments, education, etc. There are a variety of sources which furnish information, from treatises on music through secondary sources like poetry, drama non-literary sources like sculpture, painting, coins etc. In the case of literary sources it would be essential for a researcher to have a working knowledge of the various languages in which the sources have been written. Lack of such knowledge is a big stumbling block in research. It is however not desirable to rely entirely on translations. But then it is not easy to acquire familiarity with many languages. Even taking the case of Sanskrit, a preliminary knowledge could be sufficient for deciphering the technical part of the work. But then it is difficult to comprehend passages which are in a literary style, like the author's account of himself, his patron etc.[25] In fact the obstacle posed by the language has led some researchers to condemn the Sanskrit based investigation and the historical sources themselves. In seeking the secondary sources the music researcher has to be aware of the basic features of other disciplines. At the same time one has to be careful in evaluating the information from these sources for it is not the principal aim of these sources to give authentic musicological information. One should not, for example, take the instrument depicted in sculpture to be an identical representation. For 'sculptural exigencies' certain modifications could have been effected.[26] Thus there is a limit to which one can rely on the secondary sources. And when all is said and done, it is futile to hope to reconstruct with the help of all these sources the music of the past. We can only know what is said about the music and not the music itself. This is not meant to decry the attempts to reconstruct, but that the reconstructions should

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

only be taken as steps in the understanding of ancient music and not publicly displayed as exhibits of ancient music. Hence historicai investigation will be more fruitful in getting to know the minds of the ancients and their analysis of the music of their times. This is the contributin of primary sources, namely the texts on music. The evidence from the secondary sources will at best help us to supplement this. This knowledge of ancient thinking and analysis might help up to understand our own analysis of present day music. In this respect the knowledge of the analysis of music in other systems will also be very useful.[26]

Turning to music education, we find that comparing and contrasting the *gurukula* and institutional systems has engaged the attention of the researchers for long time.[27] The merits and evils of the use of notation in the learning process the improvement of notation have also been studied.[28] The role of electronic recording and reproducing instruments in teaching is an area which has to be investigated in the Indian context. The area that is constantly under discussion is that of education methodology, the formulation of courses, syllabi etc.[29]

In the inner circle we mentioned the purely musical aspects like musical form, melody, time measure and the texts. This area of pure theory is of absolute importance to the musicians. In this area the chief aim is to describe in terms of language what is happening in the medium of music. In other words it is a discursive account of a non-discursive expression. We primarily coin terms to stand for elements in music and then abstract concepts. Though the attempt is to analyse music in greater and greater details and in more concrete terms, there should be limit to which we carry the process of theorisation.

For instance, in our theorisation of the melodic aspect, we start with the terms like *nāda*, *sthāna* and go on to *svara*. *Svara* is the unit into which we analyse the melody. However in our times *svara* is regarded not as region into which a melody is broken up but as a fixed pitch position. There is a further tendency to define *svara*-s in terms of frequencies and mathe-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

matical values of physics. Starting with this, research is carried to great lengths.[30] It is not clear why the *svara*-s have to be interpreted in terms of physical quantities. And in fact the rough tonal measure, namely, *śruti*, has been given such a mathematical interpretation that the musical sense is lost.[31] Even if they are defined as fixed pitches, *svara*-s have their identity only within the *rāga* within which they occur. It is meaningless to equate the *ṛṣabha* of śaṅkarābharaṇa with that of kalyāṇī for the equation is valid only in the realm of theory. The svara should be considered as a region with the static position being just one aspect of it and the position might vary for the same *svara* in different *rāga*-s or in the same *rāga* itself. And defining *svara*-s in terms only the static positions is an incomplete picture. And translating this information into mathematical language achieves nothing new. And again, extending research on the basis of mathematical values takes one further and further away from music and leads one into the realm of physics. And the interpretation of Bharata's demonstration with two *vīṇā*-s through mathematical calculations has only served to distort our notions of *Śruti* and the ancient system.[32]

While taking *svara* to be fixed pitches, the movements between them have often been termed *gamaka*-s and the different kinds of movements have been identified and listed. Recent researches have tried to probe into the actual structure of *gamaka*-s. Scholars have tried to obtain photographic images of this aural phenomenon. Attempts have been made to synthesise these *gamaka*-s with the help of electronic instruments.[33] This again raises the question to what extent would such research advance the understanding of the subject. It is one thing to identify varying movements in the melodic line and quite another thing to categorise them as separate entities and give them concrete shapes. By doing the latter we are isolating them from the main melodic stream and are trying to join the parts to create the whole. Instead they should be learnt in music as part of the whole melodic structure and also directly from the teacher. A rough analysis is sufficient to

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

classify the *gamaka*-s. Detailed identification in a graphic way is not going to benefit the disciple.

Another aspect of theory is that of classification. Classification is a process by which we are able to grasp objects together on the basis of common characteristics. In fact, the species may be classified in different ways based on different characterstics. For example, *rāga*-s are classified under *mela*-s, and also as *ṣāḍava, auḍuva, sampūrṇa*. All those *rāga*-s which come under one *mela* may get distributed in different groups when classified as *ṣāḍava* etc. The purpose of classification is itself, to put it bluntly, to know something about everything. And hence fewer the classes the easier it will be to know something about everything. But in research the tendency has been to enlarge the classification system to make them more comprehensive. In the process the number of classes is increased to the number of individuals themselves ! In some cases the research has given rise to hypothetical classes with the result that the number of classes has become even more ! This defeats the purpose of classification itself. The best example of this is seen in the 72 *mela* system and the later extension of this scheme namely, the 2704 *mela*-s, 5184 *melakartā*-s and *mela*-s of 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10, 11 and 12 *svara* structures.[34] Such researches have not only complicated the understanding of the subject but have also given misguided direction to the development of practice. It just shows that unlimited theorisation and research is harmful to performing arts.

As regards the *Pada* aspect of songs, research is done on the relation between language and music, on the aspect of metre, prosody etc. The question of what role the meaning of the text plays in the song is a much debated subject in South Indian music. The question whether subjects like "Bhakti in Tyāgarāja Kṛtis" and "Philosophical concepts in kṛtis of Muttusvāmi Dikṣitar" should be pursued in the sphere of musicology or in the department of philosophy has to be tackled first. These and many other extra-musical topics should perhaps be kept out of the domain of music.

The relationship between the melodic movement (*varṇa*)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

and the words too is a subject which remains to be investigated in the modern contexts. In fact the role or function of both *tāla* and *pada* in shaping the musical form itself has to be analysed deeply.

To sum up, I wish to say that, music being primarily a performing art, theoretical research has to be careful in expanding its area, lest it should get too much away from performance. The gap between *śāstra* and *Prayoga* has always been a tradition in the history of music. This has been due to the fact that theory has not been able to keep up with changes in practice. However, in the modern period there is the other fear of too much expansion in the direction of research so that the link with the core, namely the art, often gets snapped.

NOTES

1. Ananda K. Coomaraswamy even says "there is no Sanskrit eqnivalent for the modern concept of 'art'—see "Introduction to Indian Art". Introduction.
2. Books like "Indian Concept of the Beautiful" K. S. Ramasvami Sastri, University of Travancore 1947, discuss more the beautiful in the Indian arts than the Indian concept of the beautiful. Further no as concept of art in general existed, no concept of aesthetics for all the arts is heard of in ancient India. Hence the treatises on aesthetics if at all are of recent creations. *Saundarya* pertains to *Sundara* meaning beautiful and a study of that would be "*Saundaryaśāstra*" and is nothing but a translation of the word "aesthetics."
3. In the Dhvanyaloka of Anandavardhana, the *dhvani* is propounded as the explantion for *rasa*. (See Dhvanyaloka of Anandavardhana by K. Krishnamoorthy, Karnatak University, Dharwad, Introduction p. xxxii). It is not a niṣpatti from Vibhāva etc.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

4. See Abhinavabhāratı commentary on Nāṭyaśāstra 4, 261-268 by O.I. edn.

5. Abhinavagupta's discussion on *Gāndharva* and *Gāna* found in different contexts in his commentary on Nāṭyaśāstra have been presented in a well-knit manner by Dr. Mukund Lath in the book "A study of Dattilam (Impex India) Chapter V.

6. Abhinavabhāratī on Nāṭyaśāstra 34, 217 where he attributes *adṛṣṭaphala* to a composition which is performed in the *pūrvaraṅga*.

7. See Bharata Kā Saṅgıta Siddhānta by Kailaśacandradeva Bṛhaspati (Information Department, U. P.) P. 270–274.

8. & 9. Rasa Theory And Indian Music, Prof. Prem Lata Sharma, Articlc in the Brochure, Classical Music of India Festival of India, 1985-86.

10. See the following articles—

The Problem of Representation in Music, Sitanshu Ray. Journal of the Indian Musicological Society, Baroda, Vol. 13, No. 1.

Saṅgıtakalākār aur Kalā āsvādak by Dr. Satyavati Sharma, Sangeet Monthly (Hindi) August 1985.

Sangita meṁ Saundarya by Ku. Madhuri Mayanil, Sangeet Monthly (Hindi) June 1982.

11. See the article "Ethnomusicology in the Indian Context" by Nazir Ali Jairazbhoy, Quarterly Journal of the National Centre for the Performing Arts, Vol. XIII, No. 3, Sept. 1984, p. 31 where he defines Ethnomusicology thus "The study of humanity through music, musical behaviour and all phenomena related to music mıking"

12. See Comparative Aesthetics, Vol. I by K. C. Pandey, Choukhamba Sanskrit Series p. 571.

13. Ibid p. 609

14. See (i) Saṅgıtaratnākara Ch. I, Prakaraṇa 2.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(ii) Comparative Aesthetics, Vol. I by K. C, Pandey p. 572-574.

15. See the contents of the book Psychology of Music by Carl E. Seashore (Dover Publications). These are the very topics which figure in a general book on Psychology but here they have been discussed in the context of music.

16 & 17. See Chapter 13 "Rāga and Rasa-s" in the book Music of India : A Scientific Study by B. Chaitanya Deva in which we have an account of the experiment conducted to study the responses of listeners to *rāga*-s. See also the articles in Journal of Indian Musicological Society, Vol. II, No. 1 & 2, Mar. & Jun. 1980. Most of them are related to Psychology and Music.

All the articles are based on direct application of Psychology methods to Music. They might have useful results from the point of view of Psychology. But it is not certain if these results have anything to benefit the interest of music.

18. Application of Music in curing illness, of psychological nature, has been in existence since ancient times. But this subject as such being discussed in the field of music seems to be a very recent occurance.

19. See the article "Musicological Research" by S A.K. Durga, Journal of the Indian Musicological Society, Vol. 16, No.2, Dec. 1985, p. 11.

20. For example see the article 'Vina Dhanam' by T. V. Subba Rao in his book Studies in Indian Music, p. 97 last paragraph.

21. Ragas of North Indian Music by N. A. Jairazbhoy had an accompanying E.P. disc and a recent book on khyāl has a recorded cassette tape accompanying it, by Bonny wade.

22. For example in the article "Compositions of the Trinity in Śankarābharaṇam and Kalyāṇi Rāgas" by Prof. K. R.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Rajagopalan and R. Vasumathi, Sangeet Natak No 34, the authors have discussed the frequency of occurance of *Svara*-s based Purely on the notation. This is not safe since sometimes in phrases where a *Svāra* is said to be omitted, the *Svara* is actually present as an *alpa svara* e.g. PGR in Kalyari, Ma is present.

23. Indian Musical Traditions be Vaman Rao H. Deshpande, Popular Prakashan, Bombay.

24. Some of the articles in the Magazine 'Sruti', writer on styles of artists with the subject mostly in terms of the musical concept.

25. e. g. Svaramelakalānidhi.

26. For instance in the *vinā*-s represented in Sculpture sometime it is difficult to make out the number of strings. And perhaps it is not advisable to attach too much importance to the clearly visible frets. See Tanjore Seat of Music by S. Seetha, University of Madras, 1983, Plates IX to XI & p. 481.

27. Indian Music Journal No. 3.

28. See the editorial in Sangeet Monthly June 1977.

29. Number of Seminars, sponsored by the University Grants Commission have been held in various Universities in the Banaras, Allahabad, Burdwan etc. discussing these issues.

30. 31 & 32. See Saṅgīta Cintāmaṇi by Dr. Bṛhaspati & Sumitrakumari especially the chapter "Svara, Grāma, Sāraṇāyeṁ.

33. This writer is acquainted with the works of Mrs. Padma-Rangachari at Bombay and Mr. Sashidharan of Bangalore. The former has fed the computer with information and made it reproduce songs. Mr. Sashidharan has made the machine create *ālapana*. Here credit goes not as much in making the machines initiate, but in analysing music into finite factors capable of being fed as information.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

34. See Sangraha Cūdāmani of Govinda (Adyar Lib.), South Indian Music Book V (P.Sambamoorthy), Music of India—A scientific study B. Chaitanya Deva.

चर्चा

श्री निरंजन महावर की टिप्पणी—

ये बहुत 'कण्ट्रोवर्शियल' (विवादास्पद) पेपर है वैसे। इसमें संगीत की सीमाओं को बहुत सीमित करने की कोशिश की गई है। ये जो 'एथ्नो-म्यूज़िकॉलोजी' है जिसके बारे में आपने कहा कि ये 'एंन्थ्रोपॉलोजी' या 'सोशियॉलॉजी' के अध्ययन का क्षेत्र हो सकता है, मेरी अपनी राय अब तक ये है, और जो भी बड़े 'एंन्थ्रोपॉलोजिस्ट' हुए हैं वो सभी ये मानते हैं कि समाज-विकास की जो धारा है उसके साथ कलाएँ और कलाओं के भिन्न-भिन्न रूप विकसित हुए हैं। तो उसमें किसी भी संगीतविद्या या गान का जो अध्ययन है वो उस समाज के परिप्रेक्ष्य में करना बड़ा ज़रूरी है। यहाँ रामनाथन्‌जी ने जो बात कही है, बिल्कुल इसके विपरीत कही है। तो संगीत को समझने के लिये उस समाज को समझना मेरे ख़याल से बहुत ज़रूरी है, नहीं तो हम शायद 'इवॉल्यूशन' (विकास) की पूरी प्रक्रिया को नकार रहे हैं, ऐसा मेरा ख़याल है।

डॉ० लाठ की टिप्पणी—

It is a very interesting paper but it is a kind of contradiction in itself. In order to define the very core of what music is he has to look a lot to the periphery. It is mostly about the periphery in order to define what the core is, which of course shows two, things that there is a core and I agree with him. But that the core can be defined only in terms of the periphery and we should not forget the periphery. And there is a problem always of a non-representational art and its relation, for example, to what is around. The problem arises not only in music but also in mathematics. How is mathematics, for example, connected with other things ? And centrally I agree that music should be understood on its own terms. But what are its own terms is itself not an easy subject to define. Of

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

course there are the forms but can one really understand a form without understanding the concept behind it ? You have yourself spoken of the concept of the form. Let me say some-one coming from outside the area of our culture when he hears a *rāga* he hears it as a single performance. But anyone hearing it from within the culture, here is it as one possible expression of the *rāga*, because the notion of the *rāga* is inherent in the very understanding of the form itself and this very concept of the form of the way we understand the form as in all social understanding what is called, you know, it is said that in humanities the fact in the concept cannot be seperated and aesthetic activity is very much in that tradition or in the aspect of things.

Another thing I would like to point out, these are the minor things. You say that in India it has not been current to classify different spheres of activity. You know, we tend to take western categories too much for granted. This is what the westerners have been telling us. What about the concept of *dharma-artha-kāma-mokṣa*. This is classifying different human activities and also illustrate just the sphere of *dharma* because dharma is not one but many. And the sphere of *vyavahāra* is seperated very much from the sphere of pure *saṁskāra* or the sphere of *rājaniti* for example. So to say that we have not been doing this kind of thing is not correct. We have been doing them differently as you yourself said that classificatian can be done on different principles. So not to be able to recognise the different principle is not the same thing as saying that there is no principle.

I have another thing, I would like to say about Ethno-musicology. I have very great reservations about this term. I do not like it at all, because whatever the western scholars might say, they never use the term for their own music and they refuse to do it and let me tell you the meaning of the word 'ethno'. It has the same meaning as the word heathens, and ethnomusicology, if I translate it into sanskrit, would mean

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
म्लेच्छ संगीत या म्लेच्छ संगीतशास्त्र या म्लेच्छ संगीत का अध्ययन. So, now of course, they say that these prejudices have vanished but if they have why don't they make ethnomusical studies of their own music? It is one thing to say that music should be studied in its social, cultural and other contexts, but quite a different thing to call it ethnomusicology, because ethnomusicology, like anthropology has a tradition of study and the whole tradition is not a very likable tradition in its value-loaded aspects, because it has the sense of something. I was asking a friend, he was saying, well, you know, the prejudicial sense has gone. So I said if they have gone why not call it musicology itself? Why don't you call the study of your own musical culture ethnomusicology? You are studying musical culture in musical context is one thing. Study of musical culture, study of musical context is alright, but why do you call that ethnomusicology is only for non-western cultures? It is a fact and the musicologists in the West just refuse to call the studies of their own musical culture as ethnomusicology.

डॉ. रंगनायकी अय्यंगार की टिप्पणी—

Dr. Lath started something which I have reserved for a detailed discussion in my paper. But I am glad you started it. All that I would say, a little more later on in my paper because it is very important that we are aware of what words we are incorporating in our scholarly attitude. Blank acceptance of words from English has been a bit difficult for us to cope up with. Later on as we know, surely now, that some of the words we were using, one has to be very careful and I am very glad Dr. Lath has already raised it and that is for the afternoon. Whether it is *mleccha* or whether it is *brāhman* we would not worry about it. But beside the point of its literal meaning we will have to look at it little carefully. And I will try to do this afternoon.

Coming to Dr. Ramanathan's paper, yes, as he has said it has covered up vast area but as he has already made circles,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

and he has made an inner circle, outer circle, a kind of casticism that is apparent in it, I would think the circles are interlinked rather than the one outside the other. There are let us say three circles but they are overlapping. It is not outside, inside, heirarchical or anything. It is overlapping and I think that will explain quite a lot of art musical activity, first.

Second, as I was listening I was getting the feeling that two things he is trying to do at the same time, music and musicology. Sure we shall not burden our students with-mathematical calculations of śruti-s because that will not train him in good musicianship. But that is different. But that does not mean our scholars cannot take these things into consideration merely because we want to insist and establish things in terms of western language. It is for our ownself because even now one is not really sure what do we mean by *sruti*. I mean it is purely intellectual pursuit. It is not an atrium to performance. I think we have to keep this seperately. As performer I don't want to know anything about *śruti*. nor do I want to know the size of *svara*-s because I want to produce *svaras* as the way my *guru* did it. That is different. But when I am coming to discuss books or writing I want to be learned enough to at least say 'no' to something, and I can't do that unless ? have some background of it. I do want to take your time in the afternoon to talk about musicology and enthnomusicology and any other 'ologies' that you can cook up in the mean time.

वक्ता द्वारा उत्तर—

I first take up what Dr. Lath said. It is very true that to understand a core one has to go up to the periphery and one has to go to outside, true. But then probably I should have mentioned what Dr. Ayyanagar said that we should not burden the students or when we burden them with information we must choose what we are going to burden them with. When you are going to, say, draft the theory syllabus what are the essentials which they must learn as the inner circles, then the

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

middle and the outer circle and then come to that. Because every musician or every theory lecturer or board of studies might feel this is very fascinating subject, this has come from the west. They must keep up with. But I think we must take into account what is the inner core, I mean which talks about the music and then perhaps you come to the musicians who create and then the related fields. This is probably the application what I should have specified, and of course the question of ethnomusicology. It is certainly true that any activity just takes place in the society and the society is reflected in any activity which we are doing, whether it is cooking, whether it is music or car driving or anything. But the extent to which the musician must have a knowledge of the activity, i. e., performing art, when it is performed in the society. Now that, I feel, we must draw limits somewhere, because otherwise it goes on unlimited, it goes on expanding and expanding. That is what it is. We must know if we do expand, it is true it is necessary. We must know we are now on a different region or we are somewhere in between.

डॉ. शर्मा की टिप्पणी—

I think what Dr. Ramanathan perhaps tried to do was that we should make an attempt to discriminate between what is the study of music and study about music. But it is very difficult to seperate because study of music one can perhaps say that this is study of performing music, that in the context of our culture which is basically in oral tradition-based culture. That is one part and then perhaps he was trying to say the safeguard against the overloading of our syllabi or our teaching courses. What he said as extra-musical things, this is again a very difficult term. What is musical and what is extra-musical, is very difficult to define. I will just give one example. In the Indian tradition of thought, *pada* is an integral part of music—*gāndharvā deśī, svara, tāla* and *pada*. So the verbal texts, the texts of your song becomes an integral part of your music, according to the Indian thought, the Indian tradition. But perhaps if we conclude from that that literature is interlinked

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

with music, well, I don't know, Dr. Ramanathan may not agree with me, perhaps he would say this is an extramusical thing. But what is musical and what is extra-musical and where you draw a line, you see, he is trying to draw a line.

वक्ता—

No, as she said, to know the role of pada in music, you must know literature, but the researcher was not doing literature. It is a study of music.

डॉ० शर्मा—

No, if you must know literature then how do you know it ? So what he is trying to say is we should not over-do the links. The links are there, but we should be careful in not over-doing them. I think that note of caution is well-taken.

वक्ता—

May I just give an example like we have dissertations on, for instance, 'philosophical concepts of Tyagaraja Kritis or Dikshitar Kritis'. Now these are very much there in Kritis of Dikshitar but whether they should be taken up in the music department, is another question.

डॉ० लाठ—

No, but you know, there can be equally concepts like the concept of Raga.

डॉ० रामनाथन्—

No body is overdoing.

डॉ० रंगनायकी—

I would keep on the periphery the philosophy of the composer because that music is so relevant and I think, you should not say that philosophy is totally irreleveant. It is the degree of emphasis that you want to be careful of. If you can't see this point, you can't study the philosophy of the composition or the spiritual aspect of the composition.

डॉ० शर्मा—

Why not ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

डॉ० रंगनायकी—

You can't say that you are not going to attempt. A musicologist should attempt. A musician may not attempt but a musicologist should.

वक्ता—

No, it is a feature, it is there as such.

श्री० महावर—

देखिये, जो लोक-संगीत है उसमें भी जनता का जो लोक विश्वास है, उसकी जो आस्थाएँ हैं, उसके ज़रिये वो पैदा हुआ है। इसलिये उनको एकदम से नज़रअंदाज़ करके सिर्फ़ म्यूज़िक तक बात की जाएगी तो हम लोग गुमराह होंगे। उसके बारे में ठीक-ठीक निर्धारण नहीं कर पायेंगे, न अध्ययन कर पायेंगे।

डॉ० लाठ—

No, but I think, the problem is you have put it rather loosely. The problem is what kind of relations ? It is a matter of relation. How is music related to the rest. Now the kind of relations can be very different. People speak of a kind of उत्पादक-उत्पाद्य भाव, as he is speaking of, that these beliefs have given rise to this music. In what way do we speak of a belief giving rise to a particular music ? Because after all we find strange beliefs giving rise to different kind of music. For example, there are sociologists or marxists who will say that there is a dependence relation.

डॉ० शर्मा—

Well, we have been led to very slippery grounds by this paper. I was then trying to define what is really musical and what is extra-musical and then again whether we are studying the core of music or the periphery of music, where we draw the line, whether it is related to music or not, these are very difficult questions. But, in a way, it is good to be aware of that.

□

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Problems of Musicological Studies

□ डॉ० रंगनायकी अय्यंगार

(डॉ० रंगनायकी अय्यंगार के व्याख्यान का डॉ० प्रेमलतता शर्मा द्वारा अपनी टिप्पणियों सहित हिन्दी में प्रस्तुत किया गया सार)

पहले तो आपने शुरू में यही बताया कि 'म्यूज़िकॉलोजी' शब्द हमारे यहाँ पश्चिम से आया है लेकिन वहाँ भी ये बहुत पुराना शब्द नहीं है, इसी शताब्दी के आरंभ में ये शब्द अंग्रेज़ी में आया है। पहले फ़्रैंच से अंग्रेज़ी अनुवाद हुआ, फ़्रांस में ये शब्द जर्मनी से आया, जर्मन भाषा से।

हमारे देश में जब ये शब्द आ गया है, २०-२५ साल पहले कहना चाहिए आ गया, इससे अधिक पुराना नहीं है आज से, मुझे लगता है, २५ साल पहले ये शब्द लोगों के कानों में बहुत आया भी नहीं था। २०-२५ साल का इतिहास है इसका हमारे देश में। तो जब ये आया तो ये सब सवाल ज़रूर उठे कि हम अपनी भाषा में इसको क्या कहें ? तो हम संगीतशास्त्र कहने लगे। मैं आपको बताऊँ अपना अनुभव कि बनारस में एक बार अंग्रेज़ी के ख़िलाफ़ १९६९ में बड़ा आन्दोलन हुआ। उस समय क्या हुआ कि जहाँ-जहाँ अंग्रेजी में बोर्ड लगे थे उन्हें उतार-उतार कर लोग फेंकने लगे। मेरे यहाँ भी 'डिपार्टमेंन्ट ऑफ़ म्यूज़िकॉलोजी' बोर्ड लगा था। तो हमने जल्दी से उतरवा लिया कि आग लगा देगा कोई, तोड़ देगा, उतार कर रख लो। तो आफ़िस ने पूछा कि बोर्ड उतार दिया इसे हिन्दी में क्या रखें ? बताइये क्या लिखवा दें ? मैंने कहा कि संगीतशास्त्र विभाग लिखवा दो। तो अपने अनुभव से बताती हूँ कि ये किस तरह से शुरू हुआ।

आपने ये बताया कि ठीक है हम इसको संगीतशास्त्र कह देते हैं लेकिन जो अर्थ इसका पश्चिम में है, जहाँ से ये शब्द आया है, उसका एक बड़ा अंग संगीतशास्त्र हो सकता है, लेकिन केवल संगीतशास्त्र और म्यूज़िकॉलोजी को हम एक स्तर पर नहीं रख सकते। ये दोनों एक नहीं हैं, दूसरा शब्द क्योंकि हमारी परम्परा में नहीं है इसलिये हम इसे रख लेंगे लेकिन यह समझकर रखेंगे कि जो अर्थ हम संगीतशास्त्र का समझते हैं यानी केवल 'टॅक्श्चुअल ट्रॅडीशन' (ग्रन्थ परम्परा) को संगीतशास्त्र समझते हैं, यह उसका समानार्थक नहीं है। कल को हम संगीतशास्त्र का कोई व्यापक अर्थ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बना दें तो शायद हो जाय। हम संगीतशास्त्र और शास्त्रीय संगीत दोनों को मिला देते हैं 'म्यूज़िकॉलोजी' में।

आपने और एक शब्द की ओर ध्यान दिलाया कि एक और शब्द आया हुआ है पश्चिम से 'ऍथ्नोम्यूज़िकॉलोजी' जिसका अर्थ वो ये समझते हैं कि किसी भी जाति के संगीत का अध्ययन, इस दृष्टि से कि उस जाति की अपनी विशेषताएँ, समाजशास्त्र की दृष्टि से, 'ऍन्थ्रोपॉलोजी' की दृष्टि से क्या-क्या हैं, उसके परिप्रेक्ष्य में रख कर संगीत को देखा जाय तो वे 'म्यूज़िकॉलोजी' को ही 'ऍथ्नोम्यूज़िकॉलोजी' कहेंगे। लेकिन इसमें एक ही चिन्ता की बात उनके लिये ये हो जाती है कि वे अपने देशों के बाहर के संगीत को ही 'ऍथ्नोम्यूज़िकॉलोजी' कहते हैं। अपने देश के संगीत का अध्ययन अगर 'ऍन्थ्रोपॉलोजी' की दृष्टि से भी करें तो वो 'म्यूज़िकॉलोजी' ही कहेंगे, 'ऍथ्नोम्यूज़िकॉलोजी' कहना नहीं पसन्द करेंगे। इसलिए जो 'नॉन वॅस्टर्न कल्चर' है, पश्चिम के बाहर की संस्कृतियाँ हैं, उन्हें हमेशा ही इस शब्द पर आपत्ति रही है और रहेगी। तो उन्होंने ये हमें सलाह दी कि हम अपने देश में 'ऍथ्नोम्यूज़िकॉलोजी' शब्द का प्रयोग नहीं करेंगे भले ही हम शास्त्रीय संगीत का अध्ययन न करते हों। आज हम जिसको लोकसंगीत कहने लगे हैं, या लोकनाट्य कहने लगे हैं उसका भी अध्ययन करें तो उसको भी हम 'म्यूज़िकॉलोजी' कहेंगे क्योंकि वो हमारे देश के हैं, ऐसा नहीं कि वो कोई हमसे अलग हैं। हम इस पचड़े में न पड़ें कि 'म्यूज़िकॉलोजी' अलग और 'ऍथ्नोम्यूज़िकॉलोजी' कोई अलग है। वो आपस में लड़ते रहें कोई बात नहीं।

अब आगे अधिक काम की बात है, विद्यार्थियों के काम की बात अब आ रही है। मान लिया हमने कि संगीतशास्त्र से इसका अधिक व्यापक रूप है तो फिर इसके मुख्य अंग क्या हैं? आपने ये कहा कि इसके मुख्य अंग दो होने चाहिए कम से कम, प्रमुख रूप से, फिर आगे उसकी शाखाएँ चाहे जितनी भी बना सकते हैं; एक तो संगीतशास्त्र का अध्ययन। इसका मतलब है कि जो भी शास्त्र के ग्रंथ संस्कृत में हैं उन्हें स्वयं पढ़ने की क्षमता विद्यार्थी को हमें देनी चाहिए। जो पहले दिन मैंने बात की थी, आपने मेरी बात की बहुत अच्छी तरह पुष्टि की। तो उस दिन ये बात हुई भी थी कि संगीतशास्त्र के विद्यार्थी को हमें भाषागत 'इक्विपमेंट' (सज्जा) देना ही चाहिए ताकि वो स्वयं अध्ययन कर सके। हम कितने शास्त्रग्रंथ पढ़ा सकेंगे? ५ बरस भी पढ़ायेंगे तो शायद एक ग्रंथ भी पूरा नहीं होगा। लेकिन उसको भाषा की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हम इतनी क्षमता दे दें और जितना पढ़ा सकें उतना पढ़ायें भी जिससे वो स्वयं स्वतन्त्र रूप से अध्ययन के योग्य बन जाय।

एक तो 'म्यूज़िकॉलोजी' का ये अंग है प्रमुख। दूसरा अंग ये है जिस पर अभी चर्चा कर रहे थे कि उन्होंने कहा कि 'म्यूज़िकल ऐनॅलिसिस' होना चाहिए यानी जो भी संगीत आप सुनें उसका आप विश्लेषण कर सकें। विश्लेषण कर सकें यानी क्या? आपने बिल्कुल ठीक कहा कि आज हम विश्लेषण की क्षमता बिल्कुल नहीं विकसित कर पाये हैं। न विद्यार्थियों को दे पाते हैं क्योंकि हम स्वयं भी, जो शिक्षक हैं वो भी या विद्यार्थी भी, जिस संगीत को वो खुद नहीं गाते हैं, मान लीजिए कि हिन्दुस्तानी संगीत गाने वाले कर्णाटक संगीत सुनते हैं जो कि अपने देश का है कोई विदेश का नहीं है, उसमें भी राग है, उसमें भी ताल है, वही व्यवस्था है, वही पद्धति है पूरी, केवल स्वर का भेद है, काकु का भेद है और कुछ नहीं है; लेकिन फिर भी, उसका कोई एक कार्यक्रम सुना दिया जाय और फिर उसकी शब्दों में व्याख्या करने को कहा जाय तो हम लोग कुछ नहीं कर पायेंगे। क्यों नहीं कर पायेंगे? इतनी क्षमता हम में होनी चाहिए कि कहीं का भी कुछ संगीत सुनें तो उसके बारे में हम अपनी समझ कुछ बना सकें और उसे समझ कर शब्दों में कह भी सकें। उसके लायक भाषा भी हमारे पास होनी चाहिए। तो फिर मैंने आपसे ये सवाल पूछा कि क्योंकि इस तरह की भाषा, 'ऐनॅलिसिस' की हमारे यहाँ अभी बहुत विकसित नहीं हुई है। हमने एक पेपर शुरू किया 'ऐनॅलिसिस'का बनारस में। आधा आपने (रंगनायकीजी ने) लिया, आधा मैंने। मैंने कहा कर्णाटक आप लीजिए हिन्दुस्तानी मैं लूँ। जब शुरू किया तो लगा कि बहुत कोशिश करके किसी रास्ते तक हम जरूर पहुँचेंगे। तो मैंने आपसे यही बताया था कि ताल के बारे में तो कुछ आसान हो जाता है। एक ही ताल में बहुत सी बन्दिशें लेकर यह कोशिश की बताने की कि एक ही ताल में कैसे जगहें अलग-अलग होती हैं उठान की, अलग-अलग जगह से उठान होती हैं, किसी ताल के किसी विशेष जगह की उठान विशेष खूबसूरत मानी जाती है। क्यों मानी जाती है? क्या और भी उठान होते हैं तो कैसे होते हैं? किस-किस मात्रा से किस-किस ताल में उठ सकते हैं या ताल के अपने खाँचे कैसे हैं? ये सब बताया।

लेकिन मैंने आपसे यही सवाल पूछा था कि आपने कहा कि 'मैलॉडिक ऐनॅलिसिस' में हमें अपने लिए कुछ औजार अभी बनाने पड़ेंगे, भाषा भी गढ़नी पड़ेगी, जो काम करते-करते अपने आप बनेगी। ऐसा नहीं कि कोई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

असम्भव बात है। आपने एक उदाहरण देकर बताया। आपने गीत के ६ आवर्तन अभी गाये, ताल के, जिसमें से प्रथम चार में नीचे से लेकर ऊपर तक एक पूरा घेरा बनाने का जो काम हुआ वही बाद में जो सरगम आई उससे आधे काल मान में थी। लेकिन उसमें उतना ही काम नीचे से लेकर ऊपर तक घूमने का आधे कालमान में हो गया। तो ये समझ लेना और इस भाषा में बोलना ये एक 'एॅनॅलिसिस' का उदाहरण है और बहुत सीधा-सादा उदाहरण है।

श्री० महावर की टिप्पणी—

ये मेरा सुझाव भी है और अनुरोध भी कि खैरागढ़ 'यूनिर्वसिटी' है तो इस क्षेत्र की जो संस्कृति है, जो लोकगीत हैं, जो लोक कलाएँ हैं उसका यहाँ संकलन हो। लेकिन संकलन का काम और शोध का काम जितना होना चाहिए उतना नहीं हुआ। इसी तरह से रायपुर में 'यूनिर्वसिटी' है वहाँ 'एॅन्थ्रोपॉलोजी डिपार्टमेंट' भी है, 'सोशियॉलॉजी डिपार्टमेंट' भी है। लेकिन इन्होंने इस क्षेत्र की संस्कृति के संकलन, अध्ययन और शोध का काम नहीं किया है। तो इसमें कहीं कोई ऐसा 'गॅप' (अन्तराल) है, हमारा जो प्रबुद्ध वर्ग है उसकी दृष्टि में कहीं-न कहीं ये दोष या कमी है। जो जनता की कलाएँ हैं, जनता का जो संगीत है जो ज्यादा 'रीयल' है, ज्यादा 'अलाइव' (सजीव), उसे संकलित करने का काम, अध्ययन का, शोध का काम कम हुआ है। ये क्यों हो रहा है ये पहले भी मैंने आपसे कहा था। मेरा ये कहना है कि इस ओर अगर काम हो तो हम एक बड़ी भारी धरोहर को सुरक्षित रख सकेंगे।

डॉ० रंगनायकी के उत्तर का हिन्दी रूपान्तरण, डॉ० शर्मा के द्वारा—

महावरजी का प्रश्न नहीं था, फिर भी उन्होंने जो कुछ कहा उसका जो उत्तर दिया उसे हिन्दी में कह दूँ। आपका ये कहना है कि इस प्रकार के काम आरंभ में व्यक्तिगत रूप से शुरू होते हैं। उसमें व्यक्तियों को व्यक्तिश: प्रेरणा होनी चाहिए, एक प्रकार की प्रतिबद्धता से, 'डॅडीकेशन' (समर्पण) से, जितने लोग इस काम में लगेंगे ये काम आगे बढ़ेगा। केवल सरकारी योजना से या सरकारी पैसा आ जाने से ये काम नहीं हो जाता। पैसा भी आ जाय तो भी नहीं होगा, यदि व्यक्ति उसके लिए तैयार नहीं है और उसके लिए सही प्रेरणा और सही जागृति या प्रतिबद्धता नहीं है तो। आपने एक उदाहरण दिया जो आप हम लोगों के लिए प्रेरणाप्रद है। उन्होंने कहा कि एक आदमी इंग्लैण्ड से जमैका में गया जहाँ हिन्दुस्तान से ३००

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वर्ष पूर्व लोग मेहनत-मजदूरी के लिए ले जाये गये थे। बहुत जगह ले जाये जाते हैं। वो यहाँ से जब गये तो अपने गीत साथ ले गये। अब वो गीतों की भाषा भूल गये हैं लेकिन फिर भी अभी तक गीतों की धुनें सुरक्षित रह गई हैं। उन धुनों को वो वहाँ से रिकॉर्ड करके लाया। अब उत्तर प्रदेश में आया है। यहाँ से वो लोग वहाँ गये थे। यहाँ वो देखता है कि गीत आज यहाँ किस ढंग से गाये जाते हैं क्योंकि उन्होंने तो बदले। हो सकता है कि इनमें भी कुछ बदलाव आया हो। तो एक आदमी जो अपने इस 'कल्चरल कॉन्टेक्स्ट' (सांस्कृतिक संदर्भ) से बिल्कुल अलग पड़ गया उसमें इस तरह से अगर चीज सुरक्षित रही है और यहाँ जहाँ वो 'कल्चरल' तौर से पूरी तरह सजीव है, जिन्दा है, यहाँ उसमें क्या परिवर्तन आये। अब दोनों की तुलना कर रहा है। उसको तो किसी ने नहीं कहा कि ये काम तुम करो, ये करने लायक है, स्वतः प्रेरणा से कर रहा है। वैसे ही हम लोगों में भी शिक्षकों में, विद्यार्थियों में स्वतः प्रेरणा जागनी चाहिए। तो फिर उसके लिए भी पैसा और सुविधाएँ अपने आप आ जाती हैं। सुविधाएँ पहले आ जायें और तब हम काम करेंगे तो ये मुश्किल होता है।

डॉ० लाठ की टिप्पणी—

मैं सिर्फ विश्लेषण में एक बात, केवल अपनी तरफ से 'कमेंण्ट' (टिप्पणी) के तौर पर कहता हूँ। इन्होंने ये कहा कि हमको अपने 'टूल्स' (उपकरण) बनाने चाहिएँ और ये नहीं सोचना चाहिए कि विलायत में कैसे विश्लेषण होता है या कोई क्या करता है। विश्लेषण का मतलब क्या होता है? किसी रूप को समझने के लिए उसका एक विशेष प्रकार से विश्लेषण। देखिए हमारे यहाँ की ट्रेनिंग में, केवल दक्षिण में ही नहीं, उत्तर में भी जो भी संगीत सीखता है, और इन्होंने एक बात कही, जो ध्यान में रखने की है कि संगीत पहले आता है, उसकी समझ बाद में आती है। संगीत नहीं रहेगा तो समझ भी नहीं आयेगी। पर हमारा संगीत ही ऐसा है कि उसको जब हम सीखते हैं उस्तादी परम्परा में, और मैं ये समझता हूँ कि उस्तादी परम्परा से लोक-परम्परा भिन्न नहीं है, क्योंकि मैंने कम से कम लंगे-मंगनियारों में देखा है कि वो जैसे सीखते हैं हम उस्तादी परम्परा में भी वैसे ही सीखते हैं। मात्रा का भेद हो सकता है, प्रकार का भेद नहीं है। उसमें क्या है, कि जब हम सीखते हैं तो कोई अगला क्या गाता है, क्योंकि हम अलग से विश्लेषण नहीं करते हैं, स्वरलिपि वगैरह हम लोग करते नहीं है पर एक चीज जरूर सीखते हैं कि दूसरा क्या गाता है, उसको निगलने के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिए। इसीलिए तो ये उस्ताद कहते हैं कि किसी के सामने मत गाना वो गाना ले लेगा। अजी कैसे ले लेगा, जब तक वो समझेगा नहीं उस गाने को, जब तक उसका विश्लेषण नहीं कर पाएगा, तो वो कैसे ले लेगा। उसको मालूम है उस्ताद को कि अगले दिन भी वही चीज उसी तरह से सीखी है। उसको मालूम है कि अगर मैं आ······करूँगा (गाकर बताया) तो मगपमधप वो खींच लेगा क्योंकि उसको मालूम है कैसे सरगम करना है। क्या हो रहा है वहाँ पे ये सबको मालूम है। ये सिखाने का अंग है और इसी से विश्लेषण होता है। यानी हम उस रूप को समझते हैं, ये विश्लेषण का एक ही अंग है। आपने ये भी बताया कि इससे ज्यादा होता है कि उस रूप में बाँधने के तरीक़े में क्या खूबसूरती है, क्या विशेष बात है, कैसे अंगों को जोड़ा गया है, ये हैं, पर इससे पहले ये ज़रूरी है कि जिस तरह का विश्लेषण हमारी परम्परा में है, उसको हम भूल नहीं जाएँ। मुझे लगता है कि आज हमको जिस तरह की ट्रेनिंग मिल रही है, विश्वविद्यालयों में, उसमें ये परम्परा हम भूल रहे हैं।

□

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Bhatarā Nāta of Bastar*

(Study In Changing Patterns)

☐ Shri Niranjan Mahawar

The traditional theatre in Bastar was brought from Jagannath Puri of Orissa, some five and a half centuries back. Maharaja Rudra Pratap Deo, the then ruler of Bastar State went on a pilgrimage to Puri with his officers, servants and a large number of people from his 'prajājan'. The prajājan mostly were from Gond tribe who were living around Bastar, which was the capital town of the princely state of the same name. The raja's host, the Maharaja Purī, known as the Gajpati, was also the chief priest of the lord Jagannath temple. The Gajapati was very much pleased with the ruler of Bastar, that he allowed to take a sixteen wheel chariot with him to Bastar and images of lord Jagannāth, Subhadrā and Balrām to be kept in a proposed temple. The means of communication were not so well developed in those days, to transport such a huge chariot across the country was very difficult. Thus the visiting Maharaja decided to take only the images of the lord Jagannāth, Balrām and Subhadrā from Purī, while the chariot would be made at Bastar.

The Maharaja, his officers and the tribals who accompanied him had seen keenly the Lord Jagannath procession at Puri. They had seen various groups of tribal and folk dancers and performers from all over Orissa, walking, singing and dancing in front of the chariot as it moved ceremoniously through the town. When the Maharaja returned back to Bastar, he also brought some Brahmin families from Puri. The

* See also "Traditional Nats of the Bhataras—Theatre from Bastar" by the author in the India Magazine, October 1986.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

tribals who went with the Maharaja on the pilgrimage became Hindus as they had participated in a religious and sacred 'Jātrā. The Brahmins offered them the 'Yajñyopaweet', the sacred thread and declared them as 'Bhadrajan' or gentlemen. From that time they developed a separate identity of their own and were called Bhatras.

The Maharaja of Bastar constructed three chariots in his state as the roads were not so wide enough to accommodate a huge, sixteen wheel chariot. Thus two four wheel chariots and one eight wheel chariot were built. One chariot was for the Lord Jagannath, one for the deity of the region, Danteshwari Mai and one for the Maharaja as the chief priest. Whatever the Maharaja and his companion had seen at Puri were carefully imitated in Bastar. The Brahmins who were brought by the Maharaja along with him, trained the tribals in dramatic performances and this is how the theatre was introduced into the cultural life of Bastar. Since then drama has become an integral part of not only the Dashahra festival but also of Bhatra life.

Nāt is an abbreviation of the Sanskrit word Nāṭya. The trainer is called the Nāt Guru and he is the master in all the different aspects of theatre. The Nāt is a democratic and secular institution and the whole village is involved in its organisation. When the enthusiastic boys of the village express their desire to organise a Nāt troupe before the elders of the village, a panchayat meeting is called of the elders and important persons of the village to discuss the issue. In the meeting all the aspects of the Nāt and related problems are discussed. The number of the young boys available for the Nāt, in the village, the amount of money required for costumes, make up material, musical instruments, petromaxes and other things are thoroughly taken into consideration. Now a days the total amount of expenses goes upto some six to ten thousand rupees. If the villagers show their willingness to collect the amount, the final decision is taken.

Nāt Guru is invited for the final consultation and to train the boys in the theatre. Nāt Gurus are very few in the district and they are highly respected in the society.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

After the kharif harvest of paddy, a campaign to collect the money begins. Some people pay in cash while some in the form of paddy and rice, which is later sold and converted into money. After the initial collection, the Nāt Guru is invited to train the newly formed Nat troupe for which he receives a payment of five to eight hundred rupees. He also becomes the guest of the village and the villagers who take care of all his needs. One Nāt group performs only one play and the training is given in a particular play only. A rigorous training schedule then begins which continues for a few weeks. The script is known as Champu. This appears to have been adopted from the Sanskrit word which means folk drama. Though the language of the Champu is Bhatri, the script is generally in Oriya. These champus are available in hand written manuscripts and prints brought from adjoining Orissa. The older Champus were written on Tad Patra Pothis.

The plays are generally based on Puranic themes. Dress material is purchased to suit the different characters of the drama which is either purchased from Puri or from Jeopore town in Koraput district. In my survey I have found these Nāts in Bastar—Abhimanyu Wadh, Jarasandh Wadh, Kichak Wadh, Hiranya Kasyapu Wadh, Duryodhan Wadh, and Laxmi Purān Nat. These plays are based on Puranic themes.

Thus we see that the Nat is totally a tradition bound theatre, which has its roots in the Sanskrit drama. In the beginning of medieval period when the Sanskrit theatre started decaying the traditional theatre with Puranic themes and with a content of ethical message started from the folk people. We should better call it Lok instead of folk. This very theatre has not only played the role of entertainment for the rural masses but also have kept the people in their cultural roots.

Nat, though is a theatre very much tradition bound is not a stagnant form at all. Even in the traditional puranic plays the artists make comments on the contemporary problems and situations. But in recent years a remarkable change at the level of theme and content is seen. This is spontaneous and

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

due to the external influences as well. The cinema and the television have opened new dimensions and have influenced the traditional theatre also to some extent. The cinema songs are sung in between the scenes on demand. Previously some humorous skits were presented in the small interludes in which satirical comments were made on the present day absurdities.

In recent years some new Nats have been organised. After the assasination of Mrs. Indira Gandhi a new play was written by a Nat Guru on the request of the local Congress:Men. The play was named as Indira Gandhi and was performed at several places to attract and mobilize people in favour of the Congress party and to cater votes in favour of the party. To counter act the influence of this Nāt the local communists prepared another play which was named as Adibasi. The theme of the play was growing exploitation of tribals even after independence. The Government officers of Police revenue and forest departments have been shown in collusion with contractors, business men, and political leaders to exploit the adibasis. The tyranny of the Govt. officials and repression have been depicted in the play. The rampant corruption present in the Government machinery is also depicted in the play which the tribals have to face in every-day life.

I have seen an Oriya Nāt in the June of 1985 from Padampur village from adjoining Orissa. The play was Jungal Samrat Tarzan Wadh. The total structure and fabric of the play is traditional. The group used to perform Jaidrath Wadh Nāt prior to this nat. The theme of the Jungal Samrat Tarzan Wadh is based on a love story. A prince was lost in his childhood from his parents while going through some forest. He was found by a Shabar who was on a hunting expedition and was issueless. He took the child as a god sent gift to his home and narrated the story of how he found the child in the forest. The Shabar and his wife did the upbringing of the child with great affection. When the Shabar became old and became unable to hunt wild animals, he asked the boy, who became young by that time to accept the responsibility to manage the family needs. The boy thinking himself as the real

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

son of the Shabar went out for begging with a bowl in his hand.

There was a king whose daughter Raskala was young and beautiful. The king was worried not to find out a proper match for his daughter. Once Narad Muni came and enquired about his worries. After knowing the cause of his worries, he assured him to arrange a handsome prince for his daughter's marriage. Narad Muni went to the Shabar's house and suggested the boy to marry the princess. The boy told him that how could it be possible for a poor beggar and son of a Shabar to marry a princess ? Then Narad Muni told him the complete story about his real background and how he was lost in his childhood in the forest. Knowing his background that he was a prince, he gave his consent to marry princess Raskala.

Narad Muni arranged their meeting in the forest and both were attracted towards each other. Here comes the Jungal Samrat Tarzan as a villain who kidnaps the princess. The prince fought with Tarzan and his brother and killed them. At last the princess and the prince were married and the king renounced his kingdom in favour of the prince.

Now let us analyse the theme of this play. This theme has nothing to do with the famous Tarzan theme. Just to exploit the popularity of the name of Tarzan which became famous due to the cinema, the villain was named as Tarzan. If we replace the Tarzan with Rawana the story becomes the Rama-Rawana traditional one based on Ramayana with slight changes made to make it a love story. Thus we see that this Nāt is basically a traditional Nat in its total content in which a demon or a villain is killed by a noble king or the goodness is victorious over the evils.

Nāt is trying to change due to the demand of the time and changing taste of the people due to the influence of cinema & television, but it is so much deep-rooted in the traditions that it is not easy for it to find out a change.

चर्चा

प्रश्न— डॉ. रंगनायकी अय्यंगार के प्रश्न का आशय यह था कि क्या कुछ पात्र मुखौटे लगाते हैं और कुछ नहीं ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्तर, वक्ता द्वारा—

यह जो परम्पराशील नाट्य है, इसमें जिस तरह से 'मेकअप' बताया गया है वह इसी तरह से कि जो 'नोबल मैन' हैं, जो अच्छे पात्र हैं या जो देवपुरुष हैं उनके लिये 'मास्क' (मुखौटा) हमारे यहाँ नहीं कहा गया है। ये जो राक्षस हैं या देवेतर हैं वो मुखौटा लगाते हैं। यह परम्परा चली आ रही है और यह शास्त्रों में जिस तरह से वर्णित है 'मेक अप', उसी तरह से इन लोगों ने अपनाया हुआ है।

प्रश्न—डॉ. रंगनायकी के अगले प्रश्न का मुख्य मुद्दा यह था कि क्या एक ही पात्र के लिये कभी मुखौटे का और कभी 'मेक अप' का प्रयोग किया जाता है ?

उत्तर—

शायद हनुमान पर। वैसे मैंने पेपर में यह लिखा भी है कि मैंने जो दो नाटक देखे हैं उसमें एक जगह हनुमान का 'मेक अप' लाल रंग से किया हुआ है, एक जगह मुखौटा लगाया हुआ है। शायद मास्क लगाने से उनका 'मेक अप' ज्यादा अनुरूप और अनुकूल होने लगा होगा इसलिये हनुमान के चेहरे पर मास्क लगाया होगा। एक दूसरे नाटक में हनुमान को, मैंने अपने पेपर में यह उल्लेख किया है कि, लाल रंग से भी वो काम चला लेते हैं।

डॉ. रंगनायकी का प्रश्न—

The third question I want to ask you which was not in the visual thing, what kind of musical instruments accompany this ?

उत्तर—

उसमें जो संगत है, साज हैं, उसमें युद्ध के दृश्यों में नगाड़े, शंख और एक शहनाई की तरह का सुषिर वाद्य है जिसको मोहरी कहते हैं, ये प्रयोग में लाये जाते हैं। बाकी दृश्यों में वहाँ का एक स्थानीय मृदंग है। वो बड़े साइज का नहीं है, छोटा है, मृदंग और ढोलक के बीच का है। वहाँ उसे मृदंग ही कहते हैं और कहीं-कहीं उसे माँदर भी कहते हैं। 'माँदर' तो मृदंग का ही अपभ्रंश है।

डॉ. रंगनायकी का प्रश्न—

और कोई वाद्य है ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्तर—

उसमें कुछ लोग अभी हारमोनियम का प्रयोग करने लगे हैं, लेकिन सर्वत्र नहीं।

डॉ. लाठ का प्रश्न—

इसके पहले काहे की संगत होती थी ?

उत्तर—

यह नगाड़ा ही प्रमुख था। गाने की संगत में मोहरी शायद रहा होगा।

डॉ. रंगनायकी की टिप्पणी—

Mohari would be an ideal instrument.
(शेष का ध्वन्यंकन अस्पष्ट है)

डॉ. नलिनी का प्रश्न—

'मास्क' के बारे में आपने कहा है कि वो 'रेडीमेड' (बने-बनाये) उनको ख़रीद लेते हैं पुरी से अभी भी। मतलब बनाते नहीं है ?

उत्तर, महावरजी द्वारा—

नहीं, 'पेपर मैशी' का 'मास्क' इस्तेमाल करते हैं और वो जगन्नाथ-पुरी से ही लेते हैं। वहाँ के जो 'मास्क' हैं उनकी अपनी शैली है। हमारे देश में अलग-अलग केन्द्र हैं, जैसे मथुरा 'मास्क' हैं, काशी के मुखौटे हैं, उसी तरह पुरी की अपनी शैली है। क्योंकि इनका संबंध सांस्कृतिक रूप से जगन्नाथपुरी से है, और वो संबंध बनाये रखना है, इस वजह से भी ये पुरी से 'मास्क' लेकर आते हैं।

डॉ. लाठ का प्रश्न—

'मास्क' भी छोटे बड़े होते हैं क्या ?

उत्तर, वक्ता द्वारा—

नहीं, वो एक 'स्टैंडर्ड फ़ेस' जैसा होता हैं, फ़िट हो जाता है और उसको बाँध लेते हैं।

डॉ. रामनाथन् की टिप्पणी—

I will just make one remark about the approach of the scholar. It is not the kind of study which is, where to study this kind of an art, a very condescending and very patronizing attitude—which is done in most cases. There is a sense of

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

involvement. When he was answering question he said 'हम लोग ऐसा करते हैं', I mean he considered that an art of his region, of his people, of himself. The people of the region do not want you to come at study, they do not want you to come and document. It is we go in their midst. Probably we feel, as Dr. Ranganayaki Ayyangar said, it is a necessity that we have to go but they don't want you to come and so when we are going there we should not look at as though these *Nāṭa* people would be primitive natives, some people say. And this is the spirit what we scholars should have. That is what is I wanted to share with you.

डॉ. लाठ की टिप्पणी—

एक शास्त्र की लत जिनको पड़ जाती है, तो बिना वर्गीकरण, शास्त्र आदि की चर्चा किये बिना नहीं रहते हैं। एक प्रश्न इन्होंने आरम्भ में ही उठाया था। एक बात कही थी जिससे मेरे मन में एक प्रश्न रह गया। मैं भी अब अन्त में एक थोड़ा मौक़े का लाभ उठा कर पूछना चाहता हूँ और आप सबके सामने भी रखना चाहता हूँ। वो ये कि इन्होंने कहा था कि इसको 'फ़ोक' नहीं कहना चाहिये, इसको परम्पराशील कहना चाहिये। अब देखिये अभी जो ये चर्चा हो रही है, ये उसका भी एक अंग है। हमने कहा कि हमें 'ऐंथ्निक' नहीं कहना चाहिये, 'म्यूज़िकॉलोजी' कहना चाहिये। कई ऐसे शब्द हैं जो हमने ले लिये हैं बाहर से और अक्सर लोगों को लगता है, जो काम करने वाले हैं इस क्षेत्र के उनको भी लगता है, कि शब्दावलि में कहीं गोलमोल है और मामला कुछ बन नहीं रहा है। अब जैसे हमने शब्द ले लिया है 'क्लासिकल' और 'फ़ोक'। जैसे कि सारा 'आर्ट' जो इतनी समृद्धि है रूपों की, वो या तो इधर आ जायगी या उधर आ जायगी। ये ऐसा है कि पश्चिम में ऐसा इसलिये हुआ है कि, जैसा रंगनायकी जी ने आपको बताया कि वहाँ का जो 'हाइ आर्ट फ़ॉर्म' है, 'रेनेसाँ' है उसके पहलें से लेकर बीथोवन तक या १९वीं सदी के मध्य तक, उसे 'हाइ आर्ट' कहते रहे हैं। उसके सिवा जो कुछ भी उनके यहाँ प्रचलित रहा है उसे वे 'फ़ोक' कह देते हैं। और उनको भी ये समस्या होती है कि 'जॅज' को क्या कहें या दूसरे जो संगीत के प्रकार हैं उनको क्या कहें। वो तो झगड़ा है। उसको हम क्यों मोल लेते हैं ? यानी अपना तो झगड़ा है सो है, दूसरे का झगड़ा भी अगर हम पालेंगे तो बड़ी मुश्किल हो जायगी। हमको क्या पड़ी है इसको पालने की। इस तरह की शब्दावलि न हमारे यहाँ है, न ज़रूरत थी। देखिये जो बातें वे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बता रहे थे वो इस तरह की बातों में भी आ जाती है। एक मार्गी रूप होते हैं, कुछ देशी रूप होते हैं। इनका कहने का मतलब ये था कि ये जो रूप हैं, मार्गी के अधिक निकट हैं। और ये बार-बार यही कह रहे थे कि ऐसा शास्त्र में है। अब कोई प्रश्न कर सकता है कि इन्होंने जो ये कहा कि शास्त्र में ऐसा है और ये शास्त्र के ही अंग से करते हैं वो वास्तव में है या नहीं है ? ये किस शास्त्र की बात हो रही है, वो दूसरी बात है। पर भावना ये है कि ये शास्त्रीय हैं यानी मार्ग के निकट हैं, इतना देशी नहीं है। तो हम अपनी शब्दावलि का प्रयोग करें तो उसमें मैं समझता हूँ कि हम एक तो भटकेंगे नहीं और उसमें भी अगर हमको कमी मालूम हो तो, मैं नहीं कह रहा हूँ कि हमारी शब्दावलि जो है वो सारी बात बता देती है, ऐसी बात नहीं है, अगर उसमें भी कमी मालूम हो तो हम उसको भी बदलें। पर दूसरे का झगड़ा क्यों मोल लें ? अपने यहाँ ही बहुत झगड़े हैं उन्हीं से अगर हम निपट लें तो काफ़ी है। धन्यवाद।

□

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बहिरंग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समापन

☐ संयोजिका

तीन दिन की इस विचार गोष्ठी में ६ सत्रों में दस पर्चे और व्याख्यान प्रस्तुत हुए और बाहर से, देश और विदेश से आये हुए विभिन्न विद्वानों के विचार हमने सुने। संगीत के क्षेत्र में अनुसन्धान से जुड़ी हुई जो समस्याएँ हैं, उसके जो क्षेत्र हैं, उसकी क्या विशेषताएँ हैं, क्या सीमाएँ हैं, शोधकार्य किस प्रकार चलाया जाय, उसमें क्या सावधानियाँ बरतने की ज़रूरत है, संगीत से सम्बद्ध जो अन्य विषय हैं, जो प्रयोगात्मक कलाएँ हैं, उनकी अपनी अनुसन्धान पद्धति और संगीत के साथ जोड़कर कार्य करने में जो समस्याएँ हो सकती हैं, जो ख़तरे हैं, उन पर इन तीन दिनों की चर्चाओं में काफ़ी विचार हुआ है। ये तो नहीं कहा जा सकता कि इस तरह के विचार पहले नहीं हुए हैं, लेकिन, मैंने पहले भी कहा था कि, इस विषय को चुनने का जो मुख्य प्रयोजन था और जिस तरफ अनुसन्धान में लगे हुए सभी लोग चिन्तित रहे हैं और सोचते रहे हैं, वो ये है कि, अपने-अपने क्षेत्र में, अपने-अपने विषय में विभिन्न विश्वविद्यालयों में और विश्वविद्यालयों के बाहर भी संगीत और उससे सम्बद्ध कलाओं में अनुसन्धान कार्य तो हो रहा है, लेकिन इस तरह से एक जगह बैठकर इस विषय की समस्याओं वग़ैरह को लेकर, सम्भवतः इतना व्यापक रूप से विचार न हुआ हो। और मैं समझती हूँ कि इस दृष्टि से इस सेमिनार में विचार, बहुत ही सबल और सशक्त रूप में उभरे हैं।

हमारे यहाँ जो विद्वान् आये सभी अपने-अपने क्षेत्र के, अपने-अपने विषय के विशेषज्ञ हैं। हमारी जो इच्छा थी, जो अपेक्षा थी उसके अनुसार जो मुद्दे इसमें हम उठाना चाहते थे, वे हम उठा सके और उन पर काफ़ी खुल कर चर्चाएँ हुईं। ये ज़रूर पहले विचार था कि शायद बहुत कम पर्चे हम रख पा रहे हैं, लेकिन मुझे उस पर अब कोई असंतोष नहीं है, इसलिए कि प्रायः सेमिनारों में ये होता है कि 'पेपर्स' की संख्या बहुत अधिक हो जाती है और जो चर्चाएँ होनी चाहिएँ, विचारों का जो खुला आदान-प्रदान होना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चाहिए वह उतना नहीं हो पाता। प्रायः यही होता है, हमारी इच्छा ये रहती है, और स्वाभाविक हैं, कि जितने अधिक से अधिक विद्वानों के विचारों का लाभ मिल सके, मिले। कोशिश तो हमने भी यही की थी कि हम भी अधिकतम लोगों को बुलाएँ। और अधिकतम लोगों के विचार सामने आ सकें, लेकिन हमारे दुर्भाग्य से वो बात तो पूरी नहीं हो सकी, फिर भी हमें संतोष ये है कि जितने विद्वान् यहाँ आये, उनके न केवल हमने विचार सुने, बल्कि उन पर यहाँ बड़ी अच्छी प्रतिक्रियाएँ भी हुईं। अनुसन्धान के क्षेत्र में जुटे हुए सभी व्यक्तियों को, जो यहाँ आये और जो नहीं भी आये, सभी को इन चर्चाओं से लाभ होगा, ऐसा मुझे विश्वास है। इस विश्वविद्यालय के सभी शिक्षकों को और विद्यार्थियों को तो, मैं ये कह सकती हूँ, कि एक नये प्रकार का अनुभव हुआ होगा।

हम हमेशा अपने स्तर से किसी चीज़ का मूल्यांकन करते हैं, इसलिए हमारी अपनी जो सीमाएँ हैं, उनके कारण सम्भव है कि हम इसका अभी पूरा मूल्यांकन न कर सकें, लेकिन मुझे ये विश्वास है कि इस सेमिनार में जो कुछ हुआ है वो भविष्य के लिए बहुत लाभदायक होगा।

हमारा ये भी विचार है कि इसमें जो भी विचार व्यक्त हुए, पेपर्स के रूप में, व्याख्यानों के रूप में और चर्चाओं के रूप में, उस सारे को हम सम्पादित करके, सम्भव हो सका तो, प्रकाशित करेंगे और कम से कम जो विद्वान् हमारे यहाँ आये हैं, उनको हम भेजेंगे, ताकि इस विचारगोष्ठी में जो आदान-प्रदान हुआ है, उसका लाभ अनुसन्धान में लगे हुए अधिक से अधिक लोगों को मिल सके।

एक सुखद कार्य करने का मुझे मौक़ा मिला है उसका लाभ लेकर उन सभी के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना चाहती हूँ जो इस विचारगोष्ठी से किसी न किसी रूप में संवद्ध हुए। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक अनुदान से ये सेमीनार सम्भव हो सका, इसके लिए हम उनके आभारी हैं। विश्वविद्यालय के इस छोटे से परिसर में बाहर से, देश और विदेश से जो लोग आये हैं, उनके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ। इसलिए कि इस विश्वविद्यालय में, इस परिसर में इतने प्रतिष्ठित, इतने बड़े विद्वान् जुट पाये और हमें उनका लाभ मिला। इसके लिए उन सबके प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ। विश्वविद्यालय के सभी प्रशासनिक कर्मचारियों के, विभिन्न विभागों के, शिक्षकों के, छात्र-छात्राओं के, मैं किसी के नाम नहीं ले रही हूँ, क्योंकि नाम लेने में कुछ ख़तरे रहते हैं जिनसे हम सभी परिचित हैं, पर जिन्होंने प्रत्यक्ष

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में सहयोग दिया है, हमें उत्साहित किया है, हमारे कार्य को आगे बढ़ाने में मदद की है, उन सबके प्रति मैं हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ। साथ ही यह आशा रखती हूँ कि जो कुछ यहाँ इन तीन दिनों में हम लोगों ने देखा, सुना, समझा है, उसको केवल सुन कर हम लोग छोड़ नहीं देंगे। प्रायः होता यही है कि हम सुन तो लेते हैं, सुनते समय हमें बातें बहुत अच्छी लगती हैं मगर उसके बाद हम उसको कितना धारण कर पाते हैं, कितना बनाएँ रखते हैं ये मुख्य बात होती है। मैं ये आशा करती हूँ कि हमारे छात्र-छात्राएँ और हम भी, जो कुछ यहाँ हुआ है, उसको आगे बढ़ाने की ओर दृष्टि रखेंगे। जैसा कि सभी ने कहा है कि अनुसन्धान की दृष्टि से छात्र-छात्राओं को जो पृष्ठभूमि चाहिए, जो उनकी पहले तैयारी चाहिए वो हम सही माने में कहीं भी नहीं दे पा रहे हैं। प्रायः सभी ने अपने-अपने ढंग से इस बात को किसी न किसी रूप में उभारा है। तो हमारे लिए ये बहुत बड़ी चेतावनी भी है। मैं समझती हूँ कि इसको हम सही दिशा में लेंगे और ये प्रयत्न करेंगे, यहाँ भी करेंगे, बाहर भी करेंगे कि जो आवश्यक पृष्ठभूमि देनी ज़रूरी है अनुसन्धान के लिए, जो उसके लिए बिल्कुल नींव के पत्थर के समान है, वो हमें करनी ही चाहिए। अन्त में मैं फिर से आप सभी के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ।

□

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विचार गोष्ठी में उभरे प्रमुख बिन्दु

□ सम्पादिका

अनुसंधान के, विशेषत: संगीत में अनुसंधान की समस्याओं और क्षेत्रों के, विभिन्न पक्षों पर इस गोष्ठी में अत्यन्त उपयोगी और विचारोत्तेजक चर्चाएँ हुईं। यों तो पूरी विचारगोष्ठी ही बड़ी सारगर्भित थी किन्तु जो विन्दु ज्यादा प्रबल रूप में उभरे वे, संक्षेप में, इस प्रकार रखे जा सकते हैं—

१. भारतीय कलाओं और विद्याओं की चिन्तन व निरूपण-धारा में आचार्यों की जो समग्र दृष्टि रही है उससे छात्र को अच्छी तरह परिचित कराना चाहिए।

२. अनुसंधानकर्ता को अनुसंधान के लिए आवश्यक उपकरणों से सुसज्जित करना और पूर्व तैयारी कराना अनिवार्य आवश्यकता है। इसके लिये मौलिक आवश्यकताएँ ये हैं—(१) पहली आवश्यकता है भाषाज्ञान की यानी अनुसंधान के विषय की मूल सामग्री जिस या जिन भाषाओं में हो उस या उन भाषाओं का ज्ञान हो। (२) एक विषय के विशेष और अन्यों के सामान्य ज्ञान पर बल दिया जाना चाहिये। (३) किसी बात को एकाधिक पहलुओं से देख पाने की क्षमता पैदा की जानी चाहिए। (४) यह समझ हो कि बहुविध सामग्री में से किसे कितना वज़न दिया जाय यानी 'प्राइमरी', 'सैकण्डरी', 'टर्शियरी' में विवेक कर सके। (५) तथ्यों का भलीभाँति अध्ययन और परीक्षण करके निष्कर्ष निकाले।

३. प्रयोगात्मक कलाओं, विशेषत: संगीत, जिनका स्वरूप मौखिक और लिखित परम्पराओं में विकसित हुआ है, के अध्ययन—अनुसंधान के लिये आवश्यक उपकरण तैयार करना ज़रूरी है और वे भारतीय चिन्तन परम्परा पर आधारित होने चाहिएँ।

४. संगीत-सम्बन्धी अध्ययन के क्षेत्र में पश्चिम से आई शब्दावलि का ग्रहण और प्रयोग, यदि आवश्यक हो तो, किया जा सकता है किन्तु विवेकपूर्ण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रीति से। यथासंभव अपनी परम्परा और विचारधारा के शब्दों का ग्रहण करें अथवा उसमें से शब्दावलि का निर्माण करें।

५. अन्तःसम्बन्ध पर आधारित अथवा आन्तरानुशासनिक शोध के लिये शोधार्थी और शोध-निर्देशक दोनों की क्षमता की पड़ताल जरूरी है तथा संगीत में आन्तरानुशासनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और अछूते विषयों पर कार्य होना चाहिए।

६. संगीत एक 'भाषा' है अवश्य, किन्तु इसमें और अन्य भाषाओं में अन्तर है। उस अन्तर को समझ कर और स्वीकार करके संगीत की संप्रेषणात्मकता और सार्वभौमिकता पर विचार होना चाहिए।

७. भारतीय संगीत प्राचीनतम संगीत पद्धतियों में से एक है किन्तु उसके इतिहास का निर्माण अभी तक नहीं हो पाया है क्योंकि तत्सम्बन्धी स्रोतों का अध्ययन नहीं हुआ है। इस पर गम्भीरता से ध्यान देना जरूरी है।

८. संगीत के इतिहास के निर्माण में शिल्प एक महत्त्वपूर्ण स्रोत सिद्ध हो सकता है, यद्यपि उसके अध्ययन की भी समस्याएँ हैं। प्राचीन और मध्ययुगीय मूल संगीत प्राप्त न होने के कारण इस प्रकार का इतिहास स्वयं संगीत का इतिहास नहीं बल्कि संगीत के अन्य पक्षों का जैसे, एकल और समूह संगीत तथा वाद्य के प्रकारों और उनके प्रयोग के अवसर आदि का, इतिहास हो सकता है।

९. प्रयोग परक शास्त्रग्रन्थ विशिष्ट कलाओं के अध्ययन के लिये आधार होते हैं, जैसे नाट्यशास्त्र। उनके सम्पादित संस्करण प्राप्त होना उन कलाओं में अनुसंधान के लिये मौलिक आवश्यकता है। इन ग्रंथों का सम्पादन स्वयं भी अनुसंधान का एक विशाल क्षेत्र प्रस्तुत करता है लेकिन वह बहुमुखी चुनौतियों और समस्याओं से भरा है। इसलिये इस दिशा में अत्यन्त सावधानी से कार्य करना जरूरी है।

१०. सम्पादन का ही एक और क्षेत्र है—गेय पदों का समीक्षात्मक सम्पादन। भारतीय संगीत में हजारों-हजारों रचनाएँ हुई हैं लेकिन उनका साहित्यक मूल्यांकन और संपादन नहीं हुआ है। अनेक चुनौतियों और समस्याओं से भरा होने पर भी यह शोधकर्ताओं और विद्वानों द्वारा गम्भीर कार्य की अपेक्षा रखता है।

११. प्राचीन और मध्ययुगीय संगीत की गेय विधाओं और वाद्यों का 'रीकन्स्ट्रक्शन' शोध की महत्त्वपूर्ण दिशा है। ग्रन्थोक्त किन्तु लुप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भारतीय वाद्यों के पुनर्निर्माण का काम आरम्भ होना अभी शेष है। यूरोप में इस ओर काफ़ी प्रयत्न हुए हैं और पद्धति भी बनी है। इस कार्य को हम आरंभ करें तो अपनी समस्याओं से हम भी परिचित हो जायेंगे और तब तदनुकूल पद्धति भी खोजी जा सकती है।

१२. गेय विधाओं के पुनर्निर्माण के प्रारम्भिक प्रयत्न के फलस्वरूप उस क्षेत्र की समस्याएँ सामने आई हैं जिनमें सबसे बड़ी समस्या यह है कि प्राचीन व मध्ययुगीय संगीत का प्रयोग किस प्रकार होता था। यही समस्या वाद्यों के पुनर्निर्माण में भी आने वाली है। इसे ध्यान में रखकर इस क्षेत्र में आगे बढ़ना होगा।

१३. सौ साल से पूर्व का संगीत उपलब्ध नहीं है। इसलिये इससे पहले के संगीत के प्रयोगात्मक पक्ष पर अनुसंधान करने में बड़ी सावधानी की ज़रूरत है।

१४. भारतीय साहित्य, चित्र, मूर्ति जैसी कलाओं में पश्चिमी प्रभाव से भारी परिवर्तन हुए लेकिन संगीत अपना स्वरूप बनाये रख सका, यह तथ्य विचारणीय है।

१५. भारत में कलाओं के विभिन्न रूपों, जैसे, परिष्कृत और लोक, में सदा आदान-प्रदान होता रहा है और वे एक दूसरे की पूरक थीं। इस पक्ष को दृष्टि में रखकर शोध होनी चाहिये।

१६. शास्त्र और प्रयोग—कला की इन दो धाराओं के बीच के अन्तरालों को खोजने और फिर उन्हें पाटने की आवश्यकता पर ध्यान दिया जाना चाहिये।

□

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Important Points Emerging From The Seminar

☐ Editor

In this seminar very useful discussions on various aspects of the problems and areas of research in general and of research in music in particular took place. Really speaking the whole seminar was loaded with thought-provoking ideas yet the points that emerged very clearly and forcefully can be highlighted as follows—

1. The students should be introduced with the attitude of Indian exponents of viewing, in totality, an art or a branch of knowledge.

2. A researcher has to be furnished with essential equipments of and necessary background for research. Basic requirements in this direction are—(1) to equip the student with the knowledge of the language, i.e., the researcher must know the language or languages in which the source material of the research problem is available. (2) He should have specialized in at least one branch of knowledge but should have a general knowledge of others too. (3) He should have developed the capacity of viewing a thing from more than one angle. (4) He must be able to decide what weight has to be given to what material, i.e. to differentiate between the importance of primary, secondary and tertiary sources. (5) He should have developed a habit of arriving at conclusions after serious study and investigation of facts.

3. Necessary equipments, based on Indian tradition, have to be evolved for study and research in performing arts, especially music, which have developed through both the written and the oral tradition.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

4. The terminology, imported from the West, could be adopted, if necessary, but with discrimination. The words and terminology should be taken and evolved from within our own culture and tradition.

5. The capacity and capability of both the researcher and the supervisor will have to be tested for interdisciplinary research. The topics of more importance and those uncared for should be taken up for such research in music.

6. Music is a 'language' no doubt, but there is a difference between this and the other languages. Having known and accepted this fact the aspects of communicaton and universality of music have to be dicussed.

7. Indian music is one of the oldest systems, yet a consistent history of our music has not been evolved in absence of the study of all the sources in this respect. This field requires to be taken care of seriously.

8. Though full of problems, sculpture can prove to be an important source in the above direction. Due to non-availabibity of music proper of ancient and medieval times, a history based on sculpture can not be a history of music itself but of various other aspects of musie, e. g., the varieties and occasions of employment of solo and group music and the varieties of instruments etc.

9. The śāstraic texts, such as the Nāṭyaśāstra, are the source material for the study of performing arts. Critical editions of such texts are a basic requirement for research in arts. Vast field of research, full of multifarious problems and challenges, lies in editing texts themselves and demand action with utmost caution.

10. Another aspect of the same field is critical editions of lyrical texts. Thousands and thousands of compositions have been made in Indian music but neither literary appreciation nor editing has been done. Full of challenges and problems, it requires serious attention of scholars and researchers.

11. The reconstruction of various forms and instruments of ancient and medieval music is another direction of research.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

A start in reconstruction of lost instruments whose accounts are available in texts has yet to be made. In Europe considerable efforts have been made and a systematic method developed. We shall know the problems in our field and consequently shall develop the method too, if a serious start is made.

12. Problems relating to the reconstruction of musical forms have started emerging as a result of preliminary efforts, the greatest being how the ancient and medieval music would have been rendered. The same problem has to be faced in reconstruction of instruments too. Keeping this in view, the work of reconstruction has to be carried out.

13. The music of more than a century is not available. Hence research on the practical aspects of old music is a big problem and requires great carefulness.

14. The fact that western influence has bought great changes in Indian arts such as literature, sculpture and painting but music could retain its indegenous character requires special attention.

15. The various forms of arts in India, such as cultivated and folk, has always followed a 'give and take' course among them and they enriched each other. This aspect too demands attention of the researcher.

16. There is need first to find out the gaps between 'śāstra' (theory) and 'prayoga' (practice), the two streams in which arts have developed in India, and then to overbridge them.

□

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शोध की प्रणाली

—डॉ० प्रेमलता शर्मा

१. भूमिका (शोध का स्वरूप)

शोध की प्रणाली पर विचार करने से पहले शोध के स्वरूप की चर्चा ग्रावश्यक है। ग्राज शोध के बारे में हमारी जो भी धारणा है, वह पश्चिम से ग्राई हुई है ग्रौर हमारे सभी विश्वविद्यालयों में शोध की उपाधियों की नियमावलि में शोध का स्वरूप जिस भाषा में निर्धारित रहता है, वह या तो सीधे अँग्रेज़ी या अँग्रेज़ी का ग्रनुवाद ही रहती है। शोध के दो पक्ष इस नियमावलि में ग्रवश्य निर्धारित रहते हैं। एक तो यह कि नये तथ्यों का उद्घाटन होना चाहिए ग्रौर वैकल्पिक रूप से दूसरा पक्ष यह रहता है कि ज्ञात तथ्यों की कोई नई व्याख्या प्रस्तुत होनी चाहिए।

हमारा विचारणीय क्षेत्र विशेष रूप से संगीत तथा नाट्य है। इनसे प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध विषय हैं—साहित्य, दर्शन, पुरातत्त्व ग्रादि। इन सभी में नये तथ्य क्या हो सकते हैं, यह विचारणीय है। कोई नई पाण्डुलिपि या नया पुरातत्त्व का ग्रवशेष कोई नया दस्तावेज, कोई नई प्रयोग-विधा इसी प्रकार के उदाहरण नये तथ्य के उद्घाटन का विषय हो सकते हैं। यहाँ नये का ग्रर्थ नया सर्जन नहीं है, ग्रपितु, जो ग्रपेक्षाकृत ग्रज्ञात ग्रथवा ग्रल्पज्ञात हो उसी को ज्ञात के घेरे में ले ग्राना ही नये तथ्य का उद्घाटन कहला सकता है।

ज्ञात तथ्यों की नई व्याख्या भी नई उसी सीमा तक होगी जिस सीमा तक वह ग्राज की परिस्थिति के साथ पुराने प्रतिपादन को जोड़ सके या किसी सिद्धांत की समझदारी पर कालक्रम से जो जंग लग गया हो, उसे छुड़ा सके, या एक से ग्रधिक ज्ञात तथ्यों को जोड़कर कोई नया निष्कर्ष निकाल सके। तात्पर्य यही है कि हमारे विचारणीय क्षेत्र में शोध के प्रसंग में नये का ग्रर्थ कुछ नया सर्जन या विज्ञान की भाँति कोई नया ग्रविष्कार नहीं हो सकता। ग्रल्पज्ञात ग्रथवा ग्रज्ञात को विचार का विषय बनाना ग्रथवा प्रकाश

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में लाना अथवा ज्ञात तथ्यों की समझ का कोई अज्ञात पक्ष उद्घाटित करना इतना ही नयापन शोध में अपेक्षित हो सकता है।

२. विषय का चुनाव

शोध की प्रणाली के प्रसंग में विषय का चुनाव पहला चरण है। आज हम स्नातकोत्तर कक्षा के विद्यार्थी को स्वतन्त्र चिन्तन की दिशा में इतना अग्रसर नहीं कर पाते हैं कि वह शोध के विषय का चुनाव स्वयं कर सके क्योंकि विषय का चुनाव तभी संभव है जब विद्यार्थी के चित्त में कोई प्रश्न उठा हो या कोई जिज्ञासा उठी हो। प्रश्न या जिज्ञासा के अभाव में विद्यार्थी विषय का चुनाव करने की बात सोच भी नहीं सकता और उसका परमुखापेक्षी होना स्वाभाविक ही है। अन्य देशों में ऐसी स्थिति नहीं है। विषय के चुनाव में परमुखापेक्षी होना वहाँ किसी भी प्रकार सहन नहीं किया जाता। हमारे स्नातकोत्तर स्तर की शिक्षा-पद्धति की इस विफलता को ध्यान में रखते हुए ही पी-ऍच्० डी० के पूर्व ऍम्० फ़िल्० की व्यवस्था सोची गई है। इस व्यवस्था के अनुसार ऍम्० फ़िल्० में छोटे पैमाने पर शुरू किया गया शोधकार्य ही आगे चलकर अपेक्षाकृत विस्तार अथवा गहराई के साथ पी-ऍच्० डी के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है। शोध के विषय के चुनाव का यह एक अच्छा उपाय है किन्तु जहाँ यह प्रणाली अभी लागू न हुई हो, वहाँ शोध-निर्देशक की ज़िम्मेदारी बढ़ जाती है। निर्देशक भी अपनी सीमाओं द्वारा विवश रहता है और इसलिए कभी-कभी ऐसा बेसिर-पैर प्रस्ताव भी सुनने में आता है कि शोध के योग्य विषयों की तालिका बननी चाहिए। इस प्रस्ताव को बेसिर-पैर कहने का तात्पर्य यही है कि विषय का चुनाव पात्र से निरपेक्ष होकर नहीं किया जा सकता।

शोधकर्त्ता की अपनी पृष्ठभूमि की इस प्रसंग में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए। किन्तु यहाँ भी ख़तरे अनेक हैं। यदि किसी ने तबला-वादन में स्नातकोत्तर उपाधि अर्जित की हो, तो झट से यह निर्णय ले लिया जाता है कि ताल अथवा तबला-वादन ऐसे विद्यार्थी के लिए शोध का विषय हो सकता है। किन्तु वास्तव में बात उतनी आसान नहीं है। तबला बजा लेना एक बात है और उस वाद्य का इतिहास अथवा उसकी वादन-विधि पर शोध करना यह बिलकुल भिन्न बात है। तबला-वादन का अनुभव या कौशल बहुत कम दूर तक शोध में साथ दे सकेगा। शोध के लिए जो अन्य बातें अपेक्षित हैं उनके अभाव में केवल वादन-कौशल सारा कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता, यह बात समझना सभी के लिए आवश्यक है। अन्य बातें क्या अपेक्षित हैं, इसकी कुछ चर्चा नीचे प्रस्तुत है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सबसे पहली अपेक्षा है कि कोई जिज्ञासा या समस्या या विशेष अभिरुचि शोधकर्त्ता में जागी हो। एँम० ए० करने के बाद कुछ और करना आवश्यक है या शोध-उपाधि का अर्जन नौकरी के लिए अनिवार्य है, केवल इतना ही प्रेरणा का स्रोत हो तो शोधकार्य में किसी स्तर की आशा करना व्यर्थ है। आज अधिकांश स्थलों में यही हो रहा है। शोधार्थी अपनी योग्यता या पूर्व तैयारी का स्वयं विचार करे, यह बहुत आवश्यक है। कई बार ऐसा देखने में आता है कि संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ विद्यार्थी नाट्यशास्त्र पर शोध करने का प्रस्ताव रखता है। चुने हुए विषय के लिए अपनी पृष्ठभूमि की परख, अपनी रुचि की चिन्ता और कार्य के प्रति समर्पित भाव—ये तीनों ही सम्मिलित रूप से विषय के चुनाव का प्रथम चरण हैं।

दूसरा चरण है शोध के लिए अपेक्षित सामग्री की उपलब्धि की सम्भावनाओं का विचार। यदि विषय ऐसा हो जिसके लिए अपेक्षित सामग्री प्राप्त करने हेतु अपने स्थान से बाहर पुस्तकालयों अथवा विशेष क्षेत्रों में जाना अनिवार्य हो तो उसके लिए अपनी तैयारी है या नहीं, इसका विचार बहुत आवश्यक है। कभी-कभी ऐसी उपहासास्पद बातें सुनने में आती हैं कि कोई राजस्थान के लोकसंगीत पर काम करना चाहता है, लेकिन वहाँ जाने की तैयारी नहीं हैं।

तीसरा चरण है इस बात की चिन्ता कि जो विषय हम चुनने जा रहे हैं, उसमें कार्य की अपूर्वता की कुछ गुंजाइश है या नहीं। यानी जो विषय हम चुन रहे हों उसमें पहले कुछ काम हो चुका है या नहीं और यदि हो चुका है तो कहाँ तक। इस बात की चिन्ता रखना बहुत आवश्यक है। हम जो काम करने जा रहे हैं, उसमें कुछ अपूर्वता रहेगी अथवा नहीं, यही इस चिन्ता का केन्द्र बिन्दु है।

इन सबके अतिरिक्त यानी विषय के चुनाव से निरपेक्ष कुछ सामान्य तैयारी भी शोधार्थी में अपेक्षित होती है। इस सामान्य तैयारी का केन्द्र बिन्दु है समीक्षात्मक दृष्टि यानी उपलब्ध सामग्री के सापेक्ष मूल्यांकन की क्षमता। किस प्रमाण को कितना महत्त्व दिया जाय, यह निर्णय करने की क्षमता इसी में अन्वित है। इसके बिना शोधकार्य की सार्थकता नहीं बन सकती।

एक उदाहरण यहाँ याद आता है। एक बार एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ ने सभा में यह कहा कि उनके पास इस बात का प्रमाण है कि तानसेन ख्याल गाते थे। प्रमाणस्वरूप उन्होंने सूरदास के नाम से किंवदन्ती के रूप में प्रचलित निम्नलिखित दोहा पढ़ा:—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विधना यह जिय जानिके, शेषहिं दिये न कान।
धरा मेरु सब डोलतें, तानसेन की तान।।

इस दोहे में आए हुए 'तान' शब्द को लेकर उन्होंने प्रमाणित करना चाहा कि क्योंकि तान ख्याल में होती है, इसलिए तानसेन ख्याल गाते थे। यहाँ विचारणीय यही है कि 'तान' शब्द का आज से चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व क्या वही अर्थ था जो आज है? साथ ही यह भी विचारणीय है कि सिर्फ एक दोहे के आधार पर क्या इतना बड़ा निष्कर्ष निकाला जा सकता है? इसीलिए यह कहना पड़ता है कि झट से किसी निष्कर्ष पर पहुँच जाना यह प्रवृत्ति शोध के लिए घातक है। इसलिए शोध की तैयारी में यह बात प्रमुख है कि उपलब्ध प्रमाणों को तौलने की क्षमता होनी चाहिए।

३. "विषय को निबद्ध करना या आकार देना (Formulate करना) कैसे हो"

आजकल शोध-विषय की रूपरेखा (synopsis) प्रस्तुत करने की प्रचलित पद्धति यह है कि शोध-प्रबन्ध के प्रस्तावित अध्यायों की सूची बना दी जाय। वास्तव में यह उल्टी बात है। अध्याय-क्रम तो शोधकार्य के अंतिम चरण में जाकर ही तय हो सकता है। शुरू में ही उसे तय कर देना एक प्रकार से हवा में महल खड़ा करने जैसा है या अँग्रेजी में जिसे कहते हैं "घोड़े के आगे गाड़ी को रखना" (putting the cart before the horse) वास्तव में शोध की रूपरेखा को चार अंगों में प्रस्तुत किया जाना चाहिए:—

(१) शोध की समस्या (Problem) अर्थात् शोधकार्य की आवश्यकता का प्रतिपादन अथवा प्राक्कल्पना (hypothesis) का निरूपण। जिज्ञासा का उदय कहाँ से हुआ है या चुने हुए शोध विषय की तह में क्या समस्या है, इसका स्पष्टीकरण ही यहाँ अपेक्षित है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हो सकते हैं।

यदि पाठ-संशोधन का विषय चुना गया हो तो चुने हुए ग्रन्थ के प्रामाणिक संस्करण का उपलब्ध न होना समस्या है। या आज के लक्ष्य में प्रचलित ताल-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावलि का लक्षण-ग्रन्थों में प्राप्त शब्दावलि के साथ कोई ताल-मेल न बैठता हो तो यह भी एक समस्या है।

यदि प्राक्कल्पना (hypothesis) कुछ हो तो उसे भी प्रस्तुत किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए कोई यह कह सकता है कि हमें ऐसा लगता है कि आज प्रचलित उत्तर और दक्षिण की ताल पद्धति कोई दो भिन्न परम्पराएँ नहीं हैं। यह कल्पना अध्ययन के द्वारा सिद्ध अथवा निरस्त हो सकती है, किन्तु शोध की रूपरेखा में उसे प्रस्तुत किया जाना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२) शोध की आधारभूत सामग्री का आकलन या उसकी सूचना अंकित करना भी आवश्यक है। उदाहरण के लिए यदि पाठ संशोधन को शोध का विषय चुना हो तो चुने हुए ग्रन्थ की पाण्डुलिपियाँ कहाँ-कहाँ उपलब्ध हैं, इसका विवरण देना चाहिए। अथवा बंगाल की कीर्तन-पद्धति में प्रयुक्त तालों पर यदि शोधकार्य संकल्पित हो तो सामग्री का संकलन किन स्रोतों से किया जायगा, इसका संकेत देना चाहिए।

(३) प्रस्तावित शोध सामग्री के संकलन और उस पर आधारित अध्ययन की प्रक्रिया (methodology) का विवरण दिया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि किसी क्षेत्र-विशेष के गुणियों की परम्परा पर काम करना हो तो जो भी प्रस्तावित सामग्री हो, उसका मूल्यांकन किस प्रकार किया जायगा या सामग्री संकलन ही किस पद्धति से किया जायगा या मौखिक और लिखित सामग्री को क्या सापेक्ष (relative) महत्त्व दिया जायगा या मौखिक सामग्री के संकलन की क्या विधि रहेगी इत्यादि का विवरण दिया जाना चाहिए।

(४) अपने प्रस्तावित कार्य की अपूर्वता का निरूपण भी आवश्यक है। इस प्रसंग में यह बताना होगा कि जो कार्यक्षेत्र हमने चुना है, उसमें अपूर्वता कैसी और कितनी रह सकेगी यानी उस क्षेत्र में पहले यदि कुछ काम हुआ हो तो उसकी जानकारी यथासंभव दी जानी चाहिए।

४. प्रमाणीकरण (documentation) की पद्धति

शोधकार्य में प्रमाणीकरण क्यों आवश्यक है, यह सबसे पहले समझना चाहिए। प्रमाणीकरण के मूल में दो बातें हैं—एक तो यह कि हम कोरी कल्पना की उड़ान से कोई बात न कहें। यह शोध की पहली शर्त है। और दूसरे यह कि हम जिस आधार पर कोई बात कह रहे हों, उस आधार को परखने का अवसर अन्य लोगों को भी मिलना चाहिए। हमारा निष्कर्ष अन्तिम है, यह मानकर कोई शोधार्थी अग्रसर नहीं हो सकता। इसलिए यह उसकी ज़िम्मेदारी है कि जिस आधार पर वह कुछ कह रहा हो, उस आधार का स्पष्ट अंकन करे ताकि उसके शोध-प्रबन्ध का पाठक उस आधार का स्वयं परीक्षण कर सके। दूसरे शब्दों में कहें तो प्रमाणीकरण के दो ही पक्ष है—एक तो शोधार्थी की अपने निष्कर्षों के आधार के प्रति ईमानदारी और दूसरे पाठक के प्रति उसकी ज़िम्मेदारी। शोध के क्षेत्र में बेईमानी बहुत चलती है। अपने निष्कर्षों के आधार स्पष्ट सूचित न करना बेईमानी ही है। बेईमानी का बहुत स्पष्ट उदाहरण यह है कि जिन ग्रन्थों को शोधार्थी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ने देखा तक न हो, उनके नाम लेकर ऐसे उद्धरण दे जिनका कि उन ग्रन्थों से कोई वास्ता न हो। उदाहरण के लिये "श्रुतिर्माता लयः पिता"—यह प्रचलित श्लोक का चरण किसी शोधार्थी ने नाट्यशास्त्र का नाम लेकर उद्धृत किया है। बेईमानी का दूसरा प्रकार यह भी है कि किसी गौण (secondary) स्रोत में उद्धृत मूल स्रोतों के वचन इस प्रकार उद्धृत किये जायें मानों शोधार्थी ने स्वयं उनका मूल ग्रन्थों से संकलन किया है। ईमानदारी का यह तक़ाजा है कि जिस मूल ग्रंथ को हमने स्वयं न देखा हो, उसका उद्धरण या तो दें नहीं और यदि दें तो यह बताएँ कि किस गौण स्रोत से यह उद्धरण मिला है। मुख्य और गौण स्रोतों में विवेक भी अपेक्षित है। स्वयं नाट्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र पर लिखने वाला आज का कोई विद्वान्—इन दोनों को समान महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

प्रमाणीकरण के दो प्रमुख अंग हैं—एक तो शोध-प्रवन्ध के अन्तर्गत सन्दर्भ देने की पद्धति और दूसरे प्रवन्ध के अन्त में सन्दर्भ-ग्रंथ सूची की प्रस्तुति। इन दोनों में ध्यान रखने की जो बातें हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) सन्दर्भ-ग्रंथसूची में ग्रंथ और लेखक के नाम के अतिरिक्त प्रकाशक का नाम-पता और प्रकाशन का वर्ष भी अंकित होना चाहिए। यह इसलिए आवश्यक है कि पाठक को यह पता रहे कि आपने किस ग्रंथ के किस संस्करण का उपयोग किया है। यथासंभव प्रामाणिक संस्करणों का ही उपयोग किया जाना चाहिए।

(२) सन्दर्भ देने की पद्धति जो भी हो यानी पाद-टिप्पणी हो अथवा शोध-प्रवन्ध के शरीर (body) में ही सन्दर्भ अंकित हो, ध्यान देने की बात यह है कि सन्दर्भ इस प्रकार दिया जाए, जिससे पाठक मूल उद्धरण को आसानी से खोज सके। कहीं श्लोक संख्या तो कहीं पृष्ठ संख्या देना आवश्यक हो सकता है। अध्याय संख्या तो आवश्यक है ही। यदि पाण्डुलिपि में से उद्धरण देना हो तो पाण्डुलिपि की संख्या, जहाँ वह उपलब्ध हो उस ग्रंथालय का नाम और पत्र (folio) संख्या देना आवश्यक है।

यहाँ तक तो लिखित सामग्री के प्रमाणीकरण की बात हुई। यदि इसके अतिरिक्त श्रव्य-दृष्य अंकन (audio-visual recording) से प्रमाण देना हो तो अंकन के देश, काल, पात्र का निर्देश किया जाना चाहिए।

५. "ज्ञान को आगे बढ़ाने" का मर्म

शोध का सर्वमान्य उद्देश्य advancement of knowledge यानी ज्ञान को आगे बढ़ाना माना जाता है। उसका अर्थ क्या है? बिल्कुल शुरू में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमने यह कहा है कि किसी अज्ञात या अल्प ज्ञात वस्तु या तथ्य का उद्घाटन या किसी ज्ञात वस्तु या विचार या उदाहरण का ऐसा विश्लेषण या उस पर ऐसा पुनर्विचार जिससे कि उसके प्रति हमारी समझदारी अधिक स्पष्ट हो सके या उससे जुड़ी हमारी भ्रान्तियों का निराकरण हो सके, यही ज्ञात को आगे बढ़ाने का अर्थ हो सकता है ।

□

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतिनिधियों और कलाकारों का परिचय

प्रतिनिधि

(१) डॉ० रमाकान्त श्रीवास्तव

रीडर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़; हिन्दी की अनेक पत्रिकाओं में लेख और कहानियों का तथा ५ पुस्तकों का प्रकाशन; मध्यप्रदेश साहित्य परिषद द्वारा पुरस्कृत; कलाओं में गहरी रुचि।

पता—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय,
खैरागढ़ ४९१८८१
(मध्यप्रदेश)

(२) डॉ० सितांशु रे

रवीन्द्र संगीत पर अंग्रेजी और बंगला में पुस्तकों के लेखक; अनेक पत्र-पत्रिकाओं में लेखों का प्रकाशन; देश और विदेश में विचारगोष्ठियों में शोधपत्र प्रस्तुत; सम्प्रति विश्वभारती, शान्तिनिकेतन में रवीन्द्र संगीत में लैक्चरार।

पता—संगीत भवन,
विश्वभारती,
शान्तिनिकेतन
(पश्चिम बंगाल)

(३) श्रीमती नेली फ़ाँ रेड बॅर्नार्थ

पेशे से 'इंटीरियर आर्किटॅक्ट'; पियानो, हार्प्सीकॉर्ड, क्लॅवीकॉर्ड आदि पश्चिमी वाद्यों में संगीत शिक्षा; उत्तर भारतीय संगीत में गहरी रुचि व समझ; १६वीं सदी के स्पेनिश संगीत में विशेषज्ञता; लुप्तप्राय यूरोपीय 'साल्टेरी' और 'क्लॅवीकॉर्ड' के विभिन्न प्रकारों और उनकी वादन शैलियों का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुनर्निर्माण तथा प्रकाशनों, ग्रामोफ़ोन रिकॉर्डों और कैसेट्स में अंकन; अनेक व्याख्यानों, कार्यक्रमों, 'कोर्सेज़' और वाद्य-प्रदर्शनियों का आयोजन; अनेक यूरोपीय और ग़ैर-यूरोपीय वाद्यों का संग्रह ; भारत सहित अनेक देशों में सांगीतिक गतिविधियाँ।

पता—Nelly Van Ree Bernard
MUZIEKCENTRUM "Het Duintje"
Bennebroekerdreef 20
2121 CN BENNEBROEK
HOLLAND

(४) डॉ॰ प्रेमलता शर्मा

भूतपूर्व प्रोफ़ेसर व अध्यक्षा, संगीतशास्त्र विभाग एवं संकाय प्रमुख, संगीत एवं ललित कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी; सम्प्रति उपकुलपति, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़; उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी की भूतपूर्व अध्यक्षा; संगीत के क्षेत्र में कार्यरत विभिन्न संस्थाओं की कार्यसमितियों से संबद्ध; अनेक ध्रुपद मेलों और विचारगोष्ठियों का आयोजन; देश और विदेशों में अनेक व्याख्यान व शोध पत्र प्रस्तुत, पाठ-संशोधन व अनुवाद के क्षेत्र में विशेष योगदान; अनेक पुस्तकों व ग्रन्थों का सम्पादन; लगभग ४५ विशिष्ट लेख व शोधपत्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित; संगीत में अनुसंधान के क्षेत्र में विशेष योगदान; अनेक भाषाओं का ज्ञान; नाट्यशास्त्र के आधार पर संस्कृत नाटकों के प्रस्तुतिकरण में योगदान; सम्प्रति नाट्यशास्त्र के समीक्षात्मक संस्करण के कार्य में संलग्न।

पता—उपकुलपति,
इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय,
खैरागढ़ ४९१८८१
(मध्य प्रदेश)

(५) डॉ॰ मुकुन्द लाठ

रीडर, भारतीय संस्कृति और इतिहास विभाग, राजस्थान विश्व-विद्यालय, जयपुर; "ए स्टडी ऑफ़ दत्तिलम्" तथा अन्य कई पुस्तकों के लेखक; अनेक शोधपत्रों के लेखक; देश और विदेशों में विचारगोष्ठियों में विभिन्न विषयों पर शोधपत्र प्रस्तुत; भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनेक वर्षों तक विदेशों में स्वतंत्र रूप से और वहाँ के विद्वानों के सहयोग में कार्य; ध्रुपद व ख़याल शैलियों के गायक।

पता—ए ३, जमनालाल बजाज मार्ग,
"सी" स्कीम,
जयपुर ३०२००१
(राजस्थान)

(६) डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी

प्रोफ़ेसर, धर्मागम विभाग, संस्कृत विद्याधर्म विज्ञान संकाय, काशी, हिन्दू विश्वविद्यालय; सन् १९८१ से १९८६ तक कालिदास अकादमी उज्जैन के संचालक के रूप में कार्य और अकादमी को वर्तमान आकार प्रदान; संस्कृत व्याकरण, काव्यशास्त्र, धर्मशास्त्र और आगम के अध्ययन के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र और संस्कृत रंगमंच के प्रयोग में गहरी अभिरुचि व कार्य; "अमरूशतक" का काव्यानुवाद; भारतीय दर्शन, धर्म, कला और साहित्य पर शोधपत्रों की प्रस्तुति; सम्प्रति नाट्यशास्त्र के समीक्षात्मक संस्करण के कार्य में संलग्न।

पता—ऍन्. १/२९, नगवा,
ढंढनिया लेन,
वाराणसी २२१००५
(उत्तर प्रदेश)

(७) डॉ० फ़्रॅस्वाज़ देल्वोआ नलिनी

सोरबोने विश्वविद्यालय, पेरिस की प्राच्यविद्या विदुषी; नन्ददास कृत "भँवरगीत" के पाठ-सम्पादन और फ़्रेंच भाषा में सटीक अनुवाद पर पी-ऍच्. डी.; सोरबोने विश्वविद्यालय में हिन्दी की भूतपूर्व लैक्चरार; भारत व अन्य देशों में कॉन्फ़रेंस और विचारगोष्ठियों में शोधपत्र प्रस्तुत; सम्प्रति "तानसेन के ध्रुपदों के पदों का समीक्षात्मक अध्ययन" में संलग्न; अनेक यूरोपीय और भारतीय भाषाओं का ज्ञान।

पता—Dr. Francoise Delvoye Nalini
4 rue—Alfred de Musset
91220 BRETIGNY/ORGE
FRANCE

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(८) डॉ० ऍन्० रामनाथन्

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से पी-ऍच्. डी.; कर्णाटक शैली के वायलिन-वादक; प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में वर्णित संगीत के अध्ययन और मुत्तूस्वामी दीक्षितर की कृतियों के वादन में विशेषज्ञता; सम्प्रति मद्रास विश्वविद्यालय के संगीत-विभाग में रीडर; देश की अनेक विचारगोष्ठियों में शोधपत्र प्रस्तुत; संगीत से सम्बद्ध संस्थाओं और विभागों में व्याख्यान; अनेक लेखों और पुस्तक-समीक्षाओं का प्रकाशन, संगीत की महत्त्वपूर्ण अनुसंधान योजनाओं से संबद्ध।

पता—Dr. N. Ramanathan
18, Fourth Main Road
Raja Annamalai Puram
MADRAS 600028

(९) डॉ० रंगनायकी अय्यंगार

हवाई और पेंसिलवेनिया (संयुक्त राज्य अमरीका) विश्वविद्यालयों से ऍम. ए. (म्यूज़िकॉलोजी और कम्पॅरेटिव म्यूज़िकॉलोजी); पी-ऍच्. डी. (पेंसिलवेनिया); पेंसिलवेनिया और अर्बाना (संयुक्त राज्य अमरीका) में अध्यापन; केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी की भूतपूर्व 'डॉक्युमॅण्टेशन ऑफ़िसर'; सेवानिवृत्त प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्षा, संगीतशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय; 'इण्टरनेशनल सोसायटी फ़ॉर ट्रॅडीशनल म्यूज़िक' के ऍक्ज़ीक्यूटिव बोर्ड की सदस्या।

पता—Dr. Ranganayaki Ayyangar,
C/o 'NAYIKA',
Deendayal Upadhyaya Marg,
NEW DELHI 110001

(१०) श्री० निरंजन महावर

आदिवासी जीवन-शैली के अध्ययन में रुचि; भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण पक्ष के रूप में सम्पूर्ण लोकसंस्कृति का अध्ययन; तीन दीर्घकालिक कार्यों में संलग्न—१. भारतीय जनजातीय रूपंकर कलाओं का अध्ययन २. भारतीय लोकनाट्यों का 'डॉक्युमेण्टेशन' और ३. छत्तीसगढ़ी भाषा के लोक-साहित्य का अध्ययन; अपने ही प्रयत्नों और साधनों से "ऍन्साइक्लोपीडिया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऑफ़ छत्तीसगढ़ी फ़ोक लोर" पर कार्य करने में, लोक एवं जनजातीय कला का संग्रहालय बनाने में और लोकसंगीत की टेप लाइब्रेरी बनाने में संलग्न।

पता—२६, सैन्ट्रल एँवेन्यू,
चौबे कॉलोनी,
रायपुर ४९२००१
(मध्यप्रदेश)

कलाकार

(१) श्री० लालूराम साहू

छत्तीसगढ़ी लोक विधा "नाचा" के प्रख्यात लोक कलाकार; श्री० हबीब तनवीर के भूतपूर्व सहयोगी; लोक विधाओं की मौलिकता और शुद्धता के आग्रही कलाकार; अन्य अनेक लोकविधाओं के गायक; देश में भारतीयों और विदेशियों के लिए आयोजित कार्यक्रमों में प्रस्तुति।

पता—बजरंगपुर—नवागाँव
राजनांदगाँव
(मध्यप्रदेश)

(२) सुश्री सुजाता बेले

कलाक्षेत्र, मद्रास में श्रीमती रुक्मिणी देवी अरुण्डेल से भरतनाट्यम् की विधिवत् शिक्षा; भारत के कई नगरों में नृत्य प्रदर्शन; सम्प्रति इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ में भारतनाट्यम् की लैक्चरार।

पता—नृत्य विभाग,
इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय,
खैरागढ़ ४९१८८१
(मध्यप्रदेश)

(३) श्री० मुकुन्द भाले

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ में तबले की शिक्षा; आकाशवाणी तथा दूरदर्शन के अलावा देश-विदेश में अनेक बड़े गायकों, वादकों और नर्तकों के साथ तबला संगत; मास्को, पेरिस और भारत में 'लौंगप्ले' रिकॉर्ड जारी। सम्प्रति इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय में तबला में लेक्चरार।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पता—वाद्य संगीत विभाग,
इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय,
खैरागढ़ ४९१८८१
(मध्यप्रदेश)

(४) श्री० रामनाथ सिंह

पं. महेन्द्र तिवारी, पटना और श्री० जी० एॅन्० देशमुख, खैरागढ़ के अतिरिक्त तबले की विशेष शिक्षा कलकत्ता में उस्ताद करामतुल्ला ख़ाँ से; अनेक बड़े कलाकारों के साथ तबला संगत; सम्प्रति इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय में तबला संगतकार ।

पता—गायन विभाग,
इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय,
खैरागढ़ ४९१८८१
(मध्यप्रदेश)

□

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शुद्धि पत्र

Errata

पृष्ठ Page	पंक्ति Line	अशुद्ध Misprint	शुद्ध Correct
भूमिका पृ० २	६	सवद्ध	संवद्ध
१	२२	सीतांशु रे	सितांशु रे
१३	५	विशुद्ध:	विशुद्ध
२३	१६	नाट्यशास्त्र में बारे में	नाट्यशास्त्र के बारे में
५७	३७	researches	researchers
६३	२०	Taste many differ	Taste may differ
,,	२७	very	very
७४	,,	mnor	norm
७८	१४	aud	and
,,	३१	played.	played
८१	१५	aud	and
८७	४	Enrope	Europe
९२	३	थे १४ प्रकार	थे या १४ प्रकार
९५	१	आसासरी	आसावरी
१००	१८	११ १०	१० ११
१११	७	विषशे	विशेष
११६	१६	वाद्यों का	वाद्यों का
११९	१	'डेप्य'	'डॅप्थ'
१२५	६	अठाहरवीं	अठारहवीं
१२८	१०	शिल्पधर्मी हीता है	शिल्पधर्मी होता है
,,	१६	नहीं जा सकता	नहीं कहा जा सकता
१४५	२८	लिखा देना	लिख देना
१४९	९	paralled	parallel
१५२	२५	season	reason
१६०	२०	reasous	reasons
२०८	२१	Further no as	Further as no
२१२	२३	shows two, things	shows two things
२१५	,,	unless ? have	unless I have
२४५	१५	has bought	has brought
,,	१७	indegenous	indigenous

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

research in mu
sed intensively
lectures and d
effort was ma
aware of the p
the method
particular to g

The part
scholars from
who have con
buted to the f
plinary study
few important
Prem Lata
Kamalesh Dat
Nelly Van Re
Lath, Dr. Fr
Nalini, Dr. N

The proc
seminar are be
original and "
utmost possib
to make the
provoking n

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi